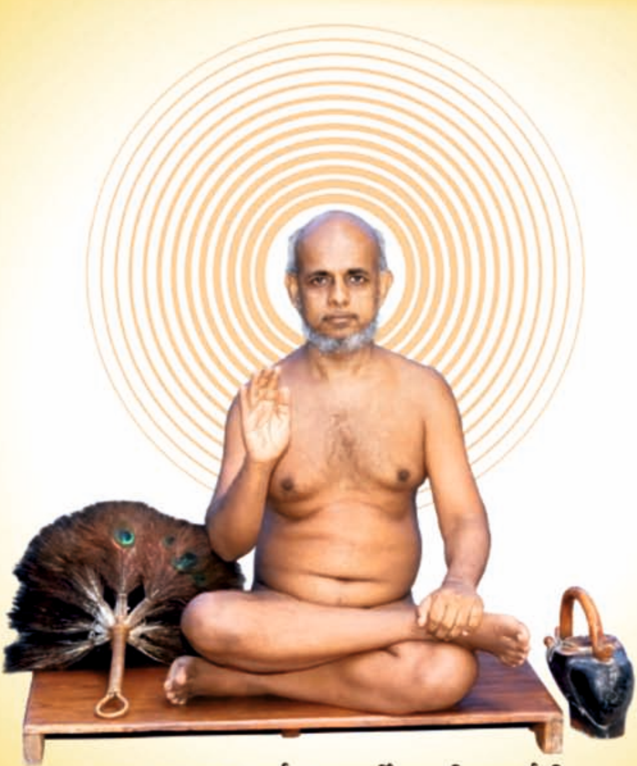

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री

सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर

सुविधि–परिवार के द्वारा आयोजित

जिनवाणी-महोत्सव

सहस्रग्रन्थसंग्रह

✲ जन्मदिवस 19–03–1971 ✲ मुनिदीक्षा–11–05–1989 ✲ आचार्यपद– 20–06–2004

पट्टाधीशपद– 24–12–2010 (20–06–2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणा:–

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संघ के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी–जुलाई 2004) (अक्षयज्योति–अक्तूबर 2004)

लघीयस्त्रय

ग्रन्थकर्त्ता

परम पूज्य आचार्यश्री अकलंक जी महाराज

अनुवादिका

पूज्या गणिनी आर्यिकाश्री ज्ञानमती माताजी

प्रकाशक

दिगम्बर जैन त्रिलाक शोध संस्थान

हस्तिनापुर (उत्तरप्रदेश)

(परम्परानायक)

परम पूज्य चारित्र-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज
(अंकलीकर)

(द्वितीय पट्टाधीश)

परम पूज्य तीर्थभक्त-शिरोमणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

(तृतीय पट्टाधीश)

परम पूज्य सिद्धान्त-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज

(चतुर्थ पट्टाधीश)

परम पूज्य तपश्चर्या-चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्रायः होता है। फलतः उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें।

मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्त्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तृत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि-परिवार

ॐ नमः सिद्धेभ्यः

लघीयस्त्रयम्

श्री भट्टाकलंकदेव प्रणीतं

(अभयचंद्रसूरि विरचित तात्पर्यवृत्ति सहितं)

(अनुवादकर्त्री-गणिनी ज्ञानमती)

प्रथम परिच्छेदः

(प्रत्यक्षप्रमाण)

मंगलाचरणम्

जिनाधीशं मुनिं चन्द्रमकलङ्कं पुनः पुनः।।
अनंतवीर्यमानौमि स्याद्वादन्यायनायकम्।।१।।
न तज्ज्ञात्वाऽभिमानेन किन्तु मादृक्प्रतीतये।।
लघीयस्त्रयतात्पर्यवृत्तिं वक्ष्ये यथाश्रुतम्[1]।।२।।

श्रीमतो न्यायशास्त्ररत्नाकरस्यामेयप्रमेयमणिगणगर्भस्यातिगम्भीरस्य बालानां दुरवगाहतया

लघीयस्त्रय

प्रत्यक्ष नाम का प्रथम परिच्छेद

मंगलाचरण

अर्थ — स्याद्वाद न्याय के नायक अनंतवीर्य सहित कर्मकलंक रहित अकलंक जिनों के स्वामी मुनि ऐसे चंद्रप्रभ भगवान को पुनः-पुनः नमस्कार करता हूँ अथवा स्याद्वाद न्याय के नायक, चंद्रवत् आल्हादकारी मुनिराज श्री अकलंक देव को नमस्कार करता हूँ अथवा स्याद्वाद विद्या को स्पष्ट करने वाले ऐसे श्री अनन्तवीर्य महामुनि को नमस्कार करता हूँ।।१।।

इस ग्रंथ को जानकर इसके अभिमान से नहीं, किन्तु मुझ जैसों की प्रतीति के लिए मैं आगम के अनुसार लघीयस्त्रय ग्रंथ की तात्पर्यवृत्ति (टीका) को कहूँगा।।२।।

उत्थानिका — अंतरंग, बहिरंग लक्ष्मी से सहित, अमेय-प्रमेयरूपी मणियों को अपने उदर में धारण

---

१. टीकाकार श्री अभयचन्द्रसूरिकृत मंगलाचरण।

हिताहितविशेषविज्ञानार्थं प्रवचनार्थमुद्धृत्य प्रतिपिपादयिषुः सकलतार्किकचक्रचूडामणिमरीचिमेचकितचरण-नखमयूखोल्लेखो भगवान् भट्टाकलङ्कदेवः पोतायमानं लघीयस्त्रयाख्यं प्रकरणं प्रारभमाणस्तदादौ निर्विघ्नतादिफलचतुष्टयजुष्टं परममङ्गलमङ्गीकुरुते—

धर्मतीर्थकरेभ्योऽस्तु। स्याद्वादिभ्यो नमो नमः।।
वृषभादिमहावीरान्तेभ्यः स्वात्मोपलब्धये[1]।।१।।

अवयवार्थप्रतिपत्तिपूर्विका समुदायार्थप्रतिपत्तिरिति न्यायादस्यादिश्लोकस्य तावदवयवार्थः कथ्यते।। अस्तु भूयात्। किं ? नमो नमः भृशं पुनः पुनर्वा नमस्कारः प्रणाम इत्यर्थः। अनेन नमस्कृतावास्तिक्यमास्थितं भृशादौ द्विर्वचनविधानात्। केभ्यः ? वृषभादिमहावीरान्तेभ्यः। वृषभः पुरुजिनः आदिः प्रथमावयवो येषां ते वृषभादयः। महावीरो वर्धमानजिनः अन्तोऽवसानावयवो येषां ते महावीरान्ताः। वृषभादयश्च ते महावीरान्ताश्च ते तथोक्तास्तेभ्यः। नमः शब्दयोगे चतुर्थीविधानात्। इदमेवाह परममङ्गलं यज्जिनेन्द्रनमनं नाम मलगालनमङ्गाद्दालनलक्षणफलस्यात एव समाप्तेऽपि (?)। मलं पापं गालयति ध्वंसयति मङ्गं पुण्यं लात्यादत्ते अस्मादिति वा मङ्गलमिति निर्वचनात्। ननु जिनेन्द्रनमस्कारवत् श्रुतादिनमस्कारस्यापि मंगलत्वेन तेऽपि किमिति न नमस्कृता इत्याशंक्येदं विशेषणमाह—धर्मतीर्थकरेभ्य इति। धर्म एव तीर्थं, धर्मस्य

करने वाले, अति गंभीर ऐसे इस न्यायशास्त्ररूपी रत्नाकर में अल्पज्ञानी जनों को अवगाहन करना कठिन है इसलिए तथा हिताहित विशेष को जानने के लिए प्रवचन के अर्थ को निकाल करके प्रतिपादन करने की इच्छा करते हुए, संपूर्ण तार्किकजनों की चूड़ामणि की किरणों से जिनके चरण नख की किरणों का उल्लेख चित्रित हो रहा है ऐसे भगवान भट्टाकलंकदेव उन भव्यजीवों के लिए जहाज के समान इस लघीयस्त्रय प्रकरण को प्रारंभ करते हुए ग्रंथ की आदि में निर्विघ्नता आदि फल चतुष्टय से युक्त परम मंगल को करते हैं—

अन्वयार्थ—(धर्मतीर्थकरेभ्यः) धर्मतीर्थ के करने वाले (स्याद्वादिभ्यः) स्याद्वादी, (वृषभादि महावीरांतेभ्यः) वृषभदेव से लेकर महावीर पर्यंत तीर्थंकरों को (स्वात्मोपलब्धये) अपने आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए (नमो नमोऽस्तु) मेरा पुनः-पुनः नमस्कार होवे।।१।।

अर्थ—धर्मतीर्थ के करने वाले स्याद्वादी, वृषभदेव से लेकर महावीर पर्यंत तीर्थंकरों को अपने आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए मेरा पुनः-पुनः नमस्कार होवे।।१।।

तात्पर्यवृत्ति—अवयव अर्थ के ज्ञानपूर्वक समुदाय के अर्थ का ज्ञान होता है। इस न्याय से इस आदि श्लोक का सबसे प्रथम अवयव अर्थ कहते हैं। वृषभदेव को आदि लेकर वर्धमान पर्यंत सभी तीर्थंकरों को पुनः-पुनः अथवा अतिशयरूप से नमस्कार होवे। यहाँ 'नमः' शब्द के योग में चतुर्थी विभक्ति है। यहाँ नमस्कार के करने में आस्तिक्य भावना व्यक्त की गई है और 'नमो नमः' ऐसा दो बार कहने से नमस्कार में अतिशय रुचि दिखाई गई है।

यहाँ कहते हैं कि जिनेन्द्र भगवान को नमस्कार करना ही परम मंगल है। मलं—पाप को जो गालन करे—ध्वंस करे अथवा जो मंगं—पुण्य को लाता है—देता है वह मंगल है ऐसा निरुक्ति अर्थ है।

शंका—जिनेन्द्र नमस्कार के समान श्रुत आदि का नमस्कार भी मंगलरूप है पुनः ग्रंथकार ने उन्हें भी नमस्कार क्यों नहीं किया ?

समाधान—नहीं, ऐसी बात नहीं है। इस श्लोक में 'धर्मतीर्थकर' ऐसा जो पद है, उससे उनको भी

---

१. श्री अकलंकदेव कृत मंगलाचरण।

प्रतिपादकं तीर्थं, धर्माय प्रवर्तनं तीर्थमिति वा धर्मतीर्थं प्रवचनं परमागम इति यावत्। तत्कुर्वन्ति स्वोपज्ञतया प्रतिपादयन्तीति धर्मतीर्थकरास्तेभ्यः। कोऽयं धर्म इति चेत्—उत्तमक्षमादिलक्षणो जीवादिवस्तुस्वभावो जीवस्य सुखप्रदः शुभधर्मरूपः पुद्गलपरिणामश्च धर्म इत्युच्यते। स एव तीर्थं संसारोत्तरणकारणत्वादुत्तमक्षमादेः सामानाधिकरण्याविरोधात्। तस्य तीर्थमित्यप्यविरुद्धं जीवादितत्त्वप्रतिपादकत्वात्प्रवचनस्य। तस्मै तीर्थमिति चानुमतमेवाभिनवपुण्यास्रवप्रयोजनत्वात्परमागमस्येत्यत इदमुपपन्नं। वृषभादिमहावीरान्ता अर्हन्त एव स्वहितैषिभिर्नमस्कार्या धर्मतीर्थकरत्वात्। योऽर्हन्न भवति स न धर्मतीर्थकरो यथा रथ्यापुरुषः। धर्मतीर्थकराश्चैते तस्मात्त एव नमस्कारार्हा इत्यविनाभावनियमनिश्चयैकलक्षणात्साधनात्साध्यसिद्धिरबाधनात्। नन्वनैकान्तिकमिदं धर्मतीर्थत्वं अनर्हत्स्वपि सुगतादिषु दर्शनात्। तेऽपि हि स्वाभिप्रेतधर्मागमप्रतिपादकत्वेन तत्तद्वादिभिरभिधीयन्ते इति चेत् तद् व्यवच्छेदनार्थमाह—स्याद्वादिभ्य इति। स्यात्कथञ्चित् सदसदात्मकं वस्तु वदन्तीत्येवंशीलाः स्याद्वादिनस्तेभ्य इति। तथा हि अर्हन्त एव धर्मतीर्थकराः स्याद्वादित्वात्। न खल्वनर्हतां स्याद्वादित्वमुपपन्नं यतो धर्मतीर्थकरत्वं तेषां प्रकल्प्येत। क्षणिकनित्यत्वादिसर्वथैकान्तवादित्वेन तद्विरुद्धत्वात्। ननु किमर्थं मंगलं शास्त्रकारेणाभिधीयते इत्याशङ्कायामाह—स्वात्मोपलब्धये स्वस्य नमस्कर्तुरात्मा अनन्तज्ञानादि-स्वरूपं

नमस्कार हो जाता है। धर्म ही 'तीर्थ' है, अथवा धर्म के प्रतिपादक को 'तीर्थ' कहते हैं अथवा धर्म के लिए जो प्रवर्तन है वह तीर्थ है। इस लक्षण से धर्मतीर्थ से प्रवचन—परमागम भी कहे जाते हैं। जो इस धर्मतीर्थ को करते हैं—अपनी वाणी द्वारा प्रतिपादन करते हैं, वे धर्मतीर्थकर कहलाते हैं।

प्रश्न—यह धर्म क्या है ?

उत्तर—उत्तम क्षमा आदि दशलक्षण वाला धर्म है। जीवादि वस्तु का जो स्वभाव है वह धर्म है। जीव को सुख देने वाला धर्म है और शुभ धर्मरूप पुद्गल का जो परिणाम है वह धर्म है। यह धर्म ही तीर्थ है क्योंकि संसार से पार करने में कारण है। धर्म और तीर्थ का उत्तम क्षमादि के साथ सामानाधिकरण अविरुद्ध है।

तस्य तीर्थं—उस का तीर्थ (धर्म के प्रतिपादक तीर्थ) ऐसा कहना भी विरुद्ध नहीं है, क्योंकि जीवादि तत्त्वों का प्रतिपादन करने वाला होने से प्रवचन भी तीर्थ है। तस्मै तीर्थं—उसके लिए जो है वह तीर्थ है (धर्म के लिए जो प्रवर्तन है वह तीर्थ है) यह अर्थ भी हमें इष्ट ही है क्योंकि परमागम नवीन पुण्य के आस्रव को कराने वाला है। इसलिए परमागम को तीर्थ माना है।

इसलिए यह बात ठीक ही है कि "वृषभादि महावीर पर्यंत तीर्थंकर अर्हंत भगवान ही स्वहित इच्छुकों के द्वारा नमस्कार करने योग्य हैं, क्योंकि वे धर्मतीर्थ के करने वाले हैं। जो अर्हंत नहीं हैं वे धर्मतीर्थ के करने वाले भी नहीं हैं। जैसे—पागल पुरुष। और ये धर्मतीर्थंकर हैं इसीलिए ये ही नमस्कार के योग्य हैं।" इस प्रकार से अविनाभाव नियम से निश्चय एक लक्षण वाले हेतु से साध्य की सिद्धि हो जाती है। इसमें बाधा नहीं आती है।

शंका—आपका यह 'धर्म तीर्थकरत्वात्' हेतु अनैकांतिक है क्योंकि जो अर्हंत नहीं हैं ऐसे सुगत आदि में भी देखा जाता है। वे भी अपने-अपने इष्ट धर्मरूपी आगम के प्रतिपादकरूप से उन-उन वादियों द्वारा कहे जाते हैं ?

समाधान—ऐसी बात नहीं है। उनका व्यवच्छेद करने के लिए ही तो श्लोक में 'स्याद्वादिभ्यः' ऐसा विशेषण दिया गया है। स्यात्—कथंचित्—सत् असत्रूप वस्तु को वंदतीति—कहने वाले स्याद्वादी कहलाते हैं। तथाहि—'अर्हंत ही धर्म तीर्थ को करने वाले हैं क्योंकि स्याद्वादी हैं।"

अर्हंत से अतिरिक्त जीवों में स्याद्वादीपना बन नहीं सकता है कि जिससे उन्हें धर्मतीर्थकर कहा जा सके। क्योंकि क्षणिक, नित्यत्व आदि सर्वथा एकांतवादी होने से उनमें स्याद्वादीपना विरुद्ध ही है।

तस्योपलब्धिः सिद्धिस्तस्यै। सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिरित्यभिधानात्। ज्ञानावरणादिमलविलयादनन्तज्ञानादि-स्वरूपलाभस्य मंगलफलत्वोपपत्तेः।।

ननु सुगतादीनां सर्वथैकान्तवादिनामपि धर्मतीर्थकरत्वमविरुद्धमेव बाधकप्रमाणाभावात् तत्तीर्थेऽपि प्रमाणादिलक्षणप्रतिपादनसम्भवादिति प्रत्यवस्थां निराकुर्वन् स्याद्वादवर्त्मनो निष्कण्टकशुद्ध्यर्थमाह—

सन्तानेषु निरन्वयक्षणिकचित्तानामसत्स्वेव चे-।
त्तत्त्वाहेतुफलात्मनां स्वपरसङ्कल्पेन बुद्धः स्वयम्।।
सत्त्वार्थं व्यवतिष्ठते करुणया मिथ्याविकल्पात्मकः।
स्यान्नित्यत्ववदेव तत्र समये नार्थक्रिया वस्तुनः।।२।।

बुद्धः क्षणिकैकान्तवादी। चेद्यदि। स्वयं आत्मना। व्यवतिष्ठते न निर्वाति (?)। किमर्थं सर्वार्थं दुःखाद्विनेयजनोद्धरणार्थं। कया करुणया कृपया। 'तिष्ठन्त्येव पराधीना येषां तु महती कृपा' इति वचनात्। केन व्यवतिष्ठते स्वपरसङ्कल्पेन स्वः प्रतिपादको बुद्धः परः प्रतिपाद्यो दिङ्नागादिः तयोः संकल्पोऽसतः सदारोपो यस्तेन। केषु सन्तानेषु प्रबन्धेषु। किंविशिष्टेषु असत्स्वेव अपरमार्थसत्स्वेव। केषां निरन्वय-

---

प्रश्न—शास्त्रकार ने यहाँ मंगल किसलिए किया है ?

उत्तर—'स्वात्मोपलब्धये' अपने नमस्कार करने वाले का आत्मा अनंतज्ञानादि स्वरूप है उसकी उपलब्धि—सिद्धि के लिए यहाँ नमस्कार किया गया है। 'सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः' ऐसा कथन भी है अर्थात् अपने आत्मा के स्वरूप की उपलब्धि हो जाना ही सिद्धि है, ऐसा पूज्यपादस्वामी ने कहा है और ज्ञानावरण आदि कर्ममल का अभाव हो जाने से अनंतज्ञानादि स्वरूप का लाभ होना ही मंगल का फल कहलाता है। यहाँ यह बात सिद्ध हुई है।

उत्थानिका—शंकाकार कहता है कि सर्वथैकांतवादी भी सुगत आदि को धर्म का तीर्थंकर मानना अविरुद्ध ही है क्योंकि बाधक प्रमाण का अभाव है। उनके तीर्थ में भी तो प्रमाण आदि के लक्षण का प्रतिपादन संभव है। ऐसे पक्ष का निराकरण करते हुए स्याद्वादमार्ग की निष्कंटक शुद्धि के लिए आचार्य कहते हैं—

अन्वयार्थ—(तत्त्वाहेतुफलात्मनां) वास्तविक कार्यकारण भाव से रहित (निरन्वयक्षणिकचित्तानां) निरन्वय क्षणिक चित्त—ज्ञानक्षणों की (असत्सु एवं संतानेषु) असत्‌रूप संततियों में ही (बुद्धः स्वयं स्वपरसंकल्पेन) बुद्ध स्वयं स्व पर के संकल्प से (मिथ्याविकल्पात्मकः) मिथ्या विकल्प करते हुए (करुणया सत्त्वार्थं) करुणा बुद्धि से प्राणियों के उद्धार के लिए (व्यवतिष्ठते) ठहरते हैं (तो) (नित्यत्ववदेव) नित्यत्व के समान ही (तत्र समये) उस क्षणिक सिद्धांत में (वस्तुनः अर्थक्रिया न स्यात्) वस्तु में अर्थक्रिया नहीं हो सकती है।।२।।

अर्थ—वास्तविक कार्यकारण भाव से रहित निरन्वय क्षणिक चित्त—ज्ञानक्षणों की असत् रूप संततियों में ही बुद्ध भगवान स्वयं स्व-पर के संकल्प से मिथ्या विकल्प करते हुए करुणा बुद्धि से प्राणियों के उद्धार के लिए ठहरते हैं। नित्यत्व के समान ही उस क्षणिक सिद्धान्त में वस्तु में अर्थक्रिया नहीं हो सकती है।।२।।

तात्पर्यवृत्ति—क्षणिकैकांतवादी बुद्ध यदि स्वयं अपने स्वरूप से ठहरता है, निर्वाण को नहीं जाता है। किसलिए ? सभी के लिए—दुःख से शिष्यजनों का उद्धार करने के लिए करुणा बुद्धि से ठहरता है। 'तिष्ठंत्येव पराधीना येषां तु महती कृपा' ऐसा वाक्य है। प्रतिपादक बुद्ध तो स्व है और प्रतिपाद्य दिङ्नाग आदि आचार्य पर हैं, स्वपर के संकल्प से—असत् में सत् का आरोप करके वह बुद्ध भगवान ठहरता है। अवास्तविक कार्य कारण स्वरूप परस्पर में भिन्न निरन्वय क्षणिक चित्तों की असत् रूप संततियों के होने पर भी वह स्वपर का संकल्प करता है अर्थात् स्व और पर जब दोनों ही क्षणिक हैं, निरन्वय हैं फिर भी पर में

क्षणिकचित्तानां क्षणे निरंशकालविशेषे भवानि क्षणिकानि, चित्तानि ज्ञानानि, क्षणिकानि चित्तानि क्षणिकचित्तानि; अन्वयो द्रव्यं तस्मान्निष्क्रान्तानि निरन्वयानि परस्परात्यन्तभिन्नानीत्यर्थः। तानि च तानि क्षणिकचित्तानि च तेषां। कथम्भूतानां तत्त्वाहेतुफलात्मनां हेतुः कारणं फलं च कार्यं ते आत्मानौ स्वरूपे येषां तानि तथोक्तानि। तत्त्वे परमार्थे न हेतुफलात्मानि तत्त्वाहेतुफलात्मानि तेषामिति। तदा स बुद्धः कथं धर्मतीर्थकरः स्यादित्यभिप्रायः। मिथ्याविकल्पात्मकत्वात् मिथ्या असत्यो विकल्पः स्वरूपसङ्कल्पः आत्मा स्वरूपं यस्यासौ तथोक्तः। प्रथमान्तस्यापि हेतुप्रयोगसम्भवात्। किंवत् नित्यत्ववत् यथा वस्तुनः सर्वथानित्यत्वे परमार्थसति व्यवतिष्ठमाना ईश्वरकपिलब्रह्माणो धर्मतीर्थकरा (न) भवन्ति मिथ्याविकल्पात्मकत्वात्तथा बुद्धोऽपीत्यर्थः।। नन्विदं सर्वमिष्टमेव प्रतिभासाद्वैतस्यैव परमार्थसत्त्वादिति कश्चित्तं प्रत्याह—तत्रेत्यादि, तत्र तस्मिन् समये संगतः समस्तज्ञानेष्वनुगतोऽयः प्रतिभासः समयस्तस्मिन् प्रतिभासाद्वैते। वस्तुनोऽद्वयपदार्थस्य। अर्थक्रियाऽनुभवो न स्यात् मिथ्याविकल्पात्म-कत्वाविशेषात्। ननु स्वप्नेन्द्रजालप्रत्ययवत्सर्वप्रत्ययानां निरालम्बनत्वेन कथमनुमानस्य प्रामाण्यं यतोऽर्हन्नेव धर्मतीर्थकरः साध्यत इति माध्यमिकमतमाशंक्याह—तत्र तस्मिन् समये समः स्वप्नोद्बोधसाधारणोऽयो बोधस्तस्मिन्। अर्थस्य हेयोपादेयरूपस्य। क्रिया हानोपादानलक्षणा। न स्यात्। कथं वस्तुतः परमार्थतः। पाठान्तरापेक्षयेदमुक्तं। न खल्वप्रमाणा-द्धानादिव्यवस्थाऽतिप्रसंगात्। अनेन विभ्रमैकान्तोऽपि निरस्तः। तत एव यथा क्षणिकत्वाद्येकान्तानां

करुणा करके आप स्वयं ठहरता है। पुनः वह बुद्ध धर्मतीर्थंकर कैसे हो सकता है ? यहाँ यह अभिप्राय है। क्योंकि मिथ्या—असत्यरूप संकल्प करने वाला वह बुद्ध स्वयं मिथ्या विकल्पस्वरूप है। यहाँ प्रथमांत में भी हेतु का प्रयोग संभव है अतः मिथ्याविकल्पात्मक होने से वह बुद्ध धर्म तीर्थंकर नहीं है। ऐसा अर्थ होता है।

जिस प्रकार से सर्वथा नित्यत्व में परमार्थसत् की व्यवस्था करने वाले ईश्वर कपिल और ब्रह्मा धर्मतीर्थंकर नहीं होते हैं क्योंकि वे मिथ्या विकल्प वाले हैं उसी प्रकार बुद्ध भी नहीं हैं, यह अर्थ सिद्ध हुआ।

वेदांती—आपका यह सभी कथन हमें इष्ट ही है क्योंकि हमारे द्वारा मान्य प्रतिभासाद्वैत—ब्रह्माद्वैत सिद्धांत ही परमार्थ से सत रूप है।

जैन—समय अर्थात् सम्—संगत संपूर्ण ज्ञानों में अनुगत अय—प्रतिभास को समय कहते हैं। मतलब संपूर्ण ज्ञानों में या जीवों में अनुगत-अन्वयरूप से रहने वाले ज्ञान या ब्रह्म को समय कहते हैं। इस निरुक्ति के अनुसार समय का अर्थ प्रतिभासाद्वैत हो गया है। यह तुम्हारा प्रतिभासाद्वैत—ब्रह्माद्वैतवाद सिद्धांत में भी ठीक नहीं है। सभी वस्तु को अद्वैत—एकरूप मान लेने पर तो अर्थ क्रियारूप अनुभव नहीं हो सकता है क्योंकि मिथ्याविकल्प दोनों जगह समान ही है।

माध्यमिक—स्वप्न और इंद्रजाल के ज्ञान के समान सभी ज्ञान निरालंबन हैं पुनः अनुमान ज्ञान को प्रमाणता कैसे हो सकती है कि जिससे आप अर्हंत भगवान् को तीर्थंकर सिद्ध कर सकें ?

जैन—सम—स्वप्न और जाग्रत दशा में समान रूप से होने वाला अय—ज्ञान समय है। इस निरुक्ति से आप माध्यमिक की मान्यता समय कहलाती है। ऐसे इस आप के समय—सिद्धांत में हेयोपादेयरूप अर्थ में त्याग और ग्रहण लक्षण क्रिया परमार्थ से नहीं हो सकती है। यहाँ श्लोक में वस्तुनः की जगह वस्तुतः पाठ भी मिलता है उसके आधार से यह अर्थ किया है क्योंकि अप्रमाण से त्याग और ग्रहण लक्षण व्यवस्था नहीं हो सकती है अन्यथा अतिप्रसंग दोष हो जावेगा।

इसी कथन से विभ्रमैकांतवाद का भी खंडन हो गया है अतः जैसे क्षणिकत्व, नित्यत्व आदि एकांत मत मिथ्याविकल्प—गलत कल्पनारूप हैं। उसी प्रकार यथाअवसर शास्त्रकार स्वयमेव आगे कहेंगे, इसलिए

मिथ्याविकल्पात्मकत्वं तथा यथाऽवसरं शास्त्रकारः स्वयमेव वक्ष्यतीत्युपरम्यते।

तदेवं कण्टकशुद्धिं विधाय सम्बन्धाभिधेयशक्यानुष्ठानेष्टप्रयोजननिर्देशपूर्वकं प्रमाणस्य लक्षण-भेदोपलक्षणार्थमिदं सूत्रमाह—

प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं। मुख्यसंव्यवहारतः।।
परोक्षं शेषविज्ञानं। प्रमाणे इति संग्रहः।।३।।

चत्वारो हि प्रतिपाद्याः। व्युत्पन्नोऽव्युत्पन्नः सन्दिग्धो विपर्यस्तश्च। तत्र नाद्यतुर्यौ व्युत्पाद्यौ व्युत्पित्सा-विरहात्। अव्युत्पन्नस्तु लोभभयादिना व्युत्पित्सामापाद्य व्युत्पाद्यः। सन्दिग्धश्च स्वसन्दिग्धार्थप्रश्नकाले व्युत्पाद्यः। तदेतद्व्युत्पाद्यद्वयं प्रति प्रमाणस्योद्देशलक्षणपरीक्षाः प्रतिपाद्यन्ते शास्त्रप्रवृत्तेस्त्रिविधत्वात्। तत्रार्थस्य

हम यहाँ विराम लेते हैं।

भावार्थ—बौद्धों का सिद्धांत है कि महात्मा बुद्ध जीवों के उद्धार की करुणा बुद्धि से जगत में रुकते हैं, मुक्ति में नहीं जाते हैं पुनः उनके यहाँ सभी को निरन्वय क्षणिक माना है इसलिए आचार्य कहते हैं कि आपके यहाँ सर्वथा क्षणिक मान्यता में स्व-पर की कल्पना भी कैसे बनेंगी क्योंकि आप भी क्षण-क्षण में नष्ट हो रहे हैं और आपके शिष्यादि भी क्षण-क्षण में नष्ट हो रहे हैं। तब तो बुद्ध कैसे तो ठहरेंगे और किसको तो उपदेश देंगे कुछ समझ में नहीं आता है। ब्रह्माद्वैतवाद में भी सर्वथा अद्वैत होने से किसको तो छोड़ना और किसको ग्रहण करना इत्यादि अर्थक्रिया असंभव है। ऐसे ही माध्यमिक स्वप्नज्ञान के समान ही सारे ज्ञानों को निरालंब कहता है क्योंकि बाह्य पदार्थों को सर्वथा ही काल्पनिक कह दिया है पुनः उसके त्यागोपादानरूप अर्थक्रिया असंभव है। इन-इन मतों का यथासंभव आगे खंडन किया जायेगा।

उत्थानिका—इस प्रकार से कण्टक शुद्धि को करके संबंध अभिधेय, अनुष्ठान और इष्टप्रयोजन के निर्देशपूर्वक प्रमाण के लक्षण और भेदों को बतलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

अन्वयार्थ—(मुख्य संव्यवहारतः) मुख्य और संव्यवहार के भेद से (विशदं ज्ञानं प्रत्यक्षं) विशद ज्ञान प्रत्यक्ष है (शेष विज्ञानं परोक्षं) अविशद ज्ञान परोक्ष है। (प्रमाणे इति संग्रहः) प्रमाण शब्द द्विवचन निर्देश से प्रमाण के दो भेदों का संग्रह हो जाता है।।३।।

अर्थ—मुख्य और संव्यवहार के भेद से विशद ज्ञान प्रत्यक्ष है, अविशद ज्ञान परोक्ष है। प्रमाण शब्द द्विवचन निर्देश से प्रमाण के दो भेदों का संग्रह हो जाता है।।३।।

भावार्थ—प्रमाण के दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। विशद ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण है। उसके भी दो भेद हैं मुख्य प्रत्यक्ष और सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष। इससे भिन्न अविशद ज्ञान परोक्ष प्रमाण कहलाता है।

(शिष्य के भेद)

तात्पर्यवृत्ति—प्रतिपादन के योग्य शिष्य चार प्रकार के होते हैं। व्युत्पन्न, अव्युत्पन्न, संदिग्ध और विपर्यस्त। उनमें से आदि के एवं अंत के—व्युत्पन्न और विपर्यस्त ऐसे दो प्रकार के शिष्य तो समझाने योग्य नहीं हैं क्योंकि उनमें व्युत्पन्न होने की—समझने की इच्छा का अभाव है। अव्युत्पन्न—अज्ञानी में तो लोभ, भय आदि से समझने की इच्छा उत्पन्न करके समझाना चाहिए अर्थात् स्वर्ग, मोक्ष आदि का लोभ और संसार आदि से भय दिखाकर उस अज्ञानी में समझने की इच्छा उत्पन्न करके समझाना योग्य है और जो संदिग्ध हैं, उन्हें अपने संदिग्ध अर्थ के विषय में प्रश्न करने पर समझाना योग्य है। (शास्त्र की प्रवृत्ति तीन प्रकार से होती है)। यहाँ पर अव्युत्पन्न और संदिग्ध इन दो प्रकार के शिष्यों के प्रति प्रमाण के उद्देश्य, लक्षण और परीक्षा का

नाममात्रकथनमुद्देशः। उद्दिष्टस्यासाधारणस्वरूपनिरूपणं लक्षणम्। प्रमाणबलात्तल्लक्षणविप्रतिपत्तिपक्षनिरासः परीक्षा। तत्र प्रमितिरित्युद्देशः। सर्वशून्यवादिनामपि स्वेष्टानिष्टसाधनदूषणान्यथानुपपत्त्या तदभ्युपगमप्रसिद्धेः। तच्च ज्ञानमेव भवतीति लक्षणनिर्देशः अव्याप्त्यादिदोषविधुरत्वात्। प्रमाणत्वान्यथानुपपत्तेरिति हेतुवादरूपा परीक्षा। ततस्तल्लक्षणविप्रतिपत्तिनिरांकरणात्। तथाहि प्रकर्षेण संशयविपर्यासानध्यवसायव्यवच्छेदेन मिमीते जानाति स्वपरस्वरूपं, मीयतेऽनेनेति मितिमात्रं वा प्रमाणमिति व्युत्पत्तेः। निश्चयव्यवहाराभ्यां द्रव्यपर्याययोर-भेदेतरविवक्षया तथा निरुक्तेः सम्भवात्। न चाज्ञानेन संशयादिव्यवच्छेदः शक्यस्तदविरोधात्। यद्यस्य हि विरोधि तदेव तस्य व्यवच्छेदकं नान्यत् प्रकाश इवान्धकारस्य। तदव्यवच्छेदकं चाज्ञानात्मकं सन्निकर्षादिति कथं प्रामाण्यमास्तिघ्नुवीत। न हि रूपवद्रसेऽपि चक्षुस्संयुक्तसमवायलक्षणः सन्निकर्षो विद्यमानोऽपि तत्प्रमाहेतुः। न चक्षुषोऽपि रूपसन्निकर्षोऽस्ति तस्याप्राप्तार्थप्रकाशकत्वात्। न खलु पर्वताद्यर्थप्रदेशं प्रति चक्षुर्गच्छति

प्रतिपादन करते हैं क्योंकि शास्त्र की प्रवृत्ति तीन प्रकार से होती है।

उनमें से अर्थ के नाम मात्र का कथन करना उद्देश है। जिसका उद्देश किया गया है उसके असाधारण स्वरूप का निरूपण करना लक्षण है और प्रमाण के बल से उस लक्षण के विसंवाद पक्ष का निराकरण करना परीक्षा है। उनमें प्रमिति—प्रमाण को कहना है इतना मात्र कथन उद्देश है क्योंकि सभी शून्यवादी भी अपने इष्ट के साधन और अनिष्ट के दूषण की अन्यथानुपपत्ति से प्रमाण को स्वीकार करते हैं, यह बात प्रसिद्ध है और वह प्रमाण ज्ञान ही होता है यह लक्षण निर्देश है क्योंकि यह लक्षण अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभव दोष से रहित है। प्रमाणत्व की अन्यथानुपपत्ति अन्य प्रकार से प्रमाणता नहीं हो सकती है। इस प्रकार हेतुवाद को परीक्षा कहते हैं क्योंकि उस परीक्षा से ही उस लक्षण के विसंवाद का निराकरण होता है। उसी को कहते है।

(प्रमाण का लक्षण)

'प्रकर्षेण'—प्रकृष्ट रूप से—संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय का व्यवच्छेद—निराकरण करके स्व और पर स्वरूप को जो 'मिमीते जानाति' जानता है, या 'मीयतेऽनेन' जिसके द्वारा जाना जाता है अथवा 'मितिमात्रं' जानना मात्र प्रमाण है। प्रमाण शब्द की ऐसी व्युत्पत्ति होती है। निश्चय और व्यवहारनय के द्वारा द्रव्य और पर्याय में अभेद और भेद की विवक्षा से उस प्रकार की संभव है अर्थात् निश्चयनय से द्रव्य और पर्याय में अभेद होने से 'प्रकर्षेण मिमीते इति प्रमाणं' जो प्रकर्ष रीति से जानता है वह जानने वाला आत्मा ही प्रमाण है क्योंकि ज्ञान और आत्मा में कोई भेद नहीं है और व्यवहारनय से द्रव्य-पर्याय में भेद होने से 'मीयतेऽनेनेति प्रमाणं' जिसके द्वारा जाना जाय वह प्रमाण है, यहाँ आत्मा कर्तारूप और ज्ञान करण रूप होने से आत्मा से ज्ञान में कथंचित् भेद विवक्षित है।

अज्ञान को प्रमाण मान लेने से उस अज्ञान से संशय आदि मिथ्या ज्ञानों का निराकरण करना शक्य नहीं है क्योंकि वे अज्ञान के अविरोधी हैं। जो जिसका विरोधी होता है वही उसको अलग कर सकता है ,अन्य नहीं कर सकता है। जैसे कि प्रकाश अंधकार का विरोधी होने से उसे दूर कर देता है। अज्ञानस्वरूप सन्निकर्षादि संशय आदि मिथ्याज्ञान के निराकरण करने वाले नहीं हैं इसलिए वे सन्निकर्ष आदि प्रमाणता को कैसे प्राप्त हो सकते हैं ?

सन्निकर्षवाद का खंडन— रूप के समान रस में भी चक्षु इंद्रिय का संयुक्त समवाय लक्षण सन्निकर्ष विद्यमान है। फिर भी वह सन्निकर्ष-संबंध उसके ज्ञान में हेतु नहीं है अर्थात् जैसे चक्षु रूप को देख रही है वैसे ही रस को भी देख रही है, रस के साथ भी उसका सन्निकर्ष लक्षण संबंध मौजूद है फिर भी वह चक्षु रस का

नाप्यसौ चक्षुर्देशमागच्छति येन तत्संयोगः स्यात्। योग्यप्रदेशावस्थानस्यैव तयोः प्रतीतेः। तत्तेजः संयोगोऽस्त्येवेति चेन्न तेजःसंयोगात्तमस एव विच्छेदान्न संशयादेरविरोधादित्युक्तमेव। तन्न सन्निकर्षः प्रमाणमचेतनत्वात् घटादिवत्। नापि कारकसाकल्यं तस्याप्यचेतनत्वाविशेषात्। किञ्च कारकसाकल्यस्य प्रमाणत्वे कर्तृकर्मादीनामपोद्धारायोगान्निरालम्बनं निष्कलं[1] च प्रमाणं स्यात्। कारकसाकल्ययोरत्यन्तभेदादयमदोष इति चेत्तदा कथं प्रमाणतत्साकल्ययोरभेदः स्यात्। प्रमाणस्य करणत्वेन तदात्मकत्वायोगात्। अकरणमेव प्रमाणमिति चेन्न क्रियाकारकव्यतिरेकेण तत्सिद्धेरर्थक्रियाशून्यत्वात् खपुष्पवत्। कारकसमुदायपक्षेऽपि

ज्ञान नहीं कर पाती है। रस का ज्ञान रसना इंद्रिय से ही तो होता है।

चक्षु इन्द्रिय का भी रूप के साथ सन्निकर्ष—स्पर्श करके जानने रूप संबंध नहीं है, क्योंकि वह चक्षु इंद्रिय अप्राप्त—बिना स्पर्श किये ही पदार्थों का प्रकाशन करती है। देखिये ! पर्वत आदि को देखते समय चक्षु पर्वत आदि अर्थरूप प्रदेश के पास नहीं जाती है और न वे पर्वत आदि चक्षु इंद्रिय के स्थान तक आते हैं जिससे कि चक्षु का पदार्थ के साथ संयोग इन दोनों का अपने-अपने योग्य प्रदेश में अवस्थित रहना ही प्रतीति में आ रहा है।

वैशेषिक—उस चक्षु के तेज का संयोग है ही है।

जैन—ऐसा आप नहीं कर सकते। तेज का संयोग होने से तो अंधकार का ही विच्छेद होगा न कि संशयादि मिथ्या ज्ञानों का। क्योंकि तेज का संशय आदि से कोई विरोध नहीं है, ऐसा मैंने पहले ही कह दिया है।

इसलिए सन्निकर्ष प्रमाण नहीं है, अचेतन होने से घट आदि के समान।

भावार्थ—वैशेषिक कहता है कि इंद्रियों का पदार्थ को छूकर जानना सन्निकर्ष है और वही प्रमाण है। तब आचार्य ने कहा जैसे चक्षु का रूप से संबंध है वैसे ही रस से भी है पुनः रूप को तो जान लें और रस को न जाने यह क्या बात है। दूसरी बात यह है कि चक्षु इंद्रिय तो अप्राप्यकारी है, पर्वत आदि प्रदेश बहुत दूर हैं। उन पर अग्नि जल रही है चक्षु ने देख लिया है किन्तु न पर्वतादि चक्षु से स्पर्शित हुए हैं और न चक्षु ही उनके पास गई है। ये लोग चक्षु में एक तेजोद्रव्य मानते हैं वह भी कल्पना निराधार है तथा यदि चक्षु में तेज मान भी लें तो भी वह तेज अंधकार को दूर करेगा न कि संशयादि को। इसलिए सन्निकर्ष प्रमाण नहीं है।

(नैयायिककारक साकल्य को प्रमाण मानते हैं उसका निराकरण)

कारकसाकल्य भी प्रमाण नहीं है क्योंकि वह भी अचेतन है सन्निकर्षादि के समान। यदि कारक साकल्य को प्रमाण मानेंगे तो कर्ता, कर्म आदि को पृथक् करने का अभाव होने से वह प्रमाण अवलंबनरहित और निष्कल हो जावेगा।

नैयायिक—कारक और उनके साकल्य में अत्यंत भेद होने से यह दोष नहीं आता है।

जैन—यदि आप अत्यंत भेद मान लेते हैं तब तो प्रमाण (कारक) और उसकी सकलता में अभेद कैसे होगा ? क्योंकि प्रमाण को करणरूप से मानने से वह तदात्मक नहीं हो सकेगा।

नैयायिक—करणरहित ही प्रमाण है।

जैन—ऐसा आप नहीं कह सकते, अन्यथा क्रिया और कारक से भिन्न प्रमाण की सिद्धि हो जाने पर तो

---

१. निष्फलं पाठ ठीक प्रतीत होता है।

तत्प्रमितौ तत्साकल्यलक्षणप्रमाणान्तरे कल्प्यमाने तत्प्रमितावपि तथेत्यनवस्थाप्रसंगात्। ततो न कारकसाकल्यमपि प्रमाणमज्ञानत्वादेव। इंद्रियवृत्तिः प्रमाणमित्यप्यसम्भाव्यमचेतनत्वाविशेषात् सन्निकर्षवत्। किञ्च इंद्रियाणां वृत्तिरुन्मीलनादिव्यापारः संशयादिव्यवच्छेदो वा प्रथमपक्षे न प्रमाणता व्यभिचारात्। क्वचित्संशयादावपि तद् व्यापारदर्शनात्। द्वितीयपक्षे तु ज्ञानमेव प्रमाणमित्यायातं अज्ञाना त्तद् व्यवच्छेदानुपलब्धेः। ज्ञानोत्पत्तिकारणत्वादिन्द्रियाणामुपचारतः प्रमाणत्वं सर्वत्रानुमतमेव। ज्ञातृव्यापारस्य प्रामाण्यमपि ज्ञानात्मकत्वे सत्येव सुघटं। संशयादिविच्छित्तिफलस्य तेनैव व्याप्यत्वात्। अज्ञानात्मकत्वे तु तत्र तद् व्यवच्छेदकं किञ्चिदर्थान्तरमनुसरणीयं तस्यापि तथात्वेऽनवस्थापत्तेः। नन्वज्ञानमपि सन्निकर्षादिकं संशयादिव्यवच्छेदकारणमस्तु को दोष इति चेन्न। संशयादेरज्ञानविशेषत्वेन ज्ञानसामान्येन व्याप्यत्वात्। न च व्यापकेन

वह प्रमाण अर्थक्रिया से शून्य हो जावेगा, आकाश पुष्प के समान।

नैयायिक— कारकों का समुदाय ही प्रमाण है।

जैन— ऐसा पक्ष स्वीकार करने पर भी उस कारक समुदायरूप प्रमाण के जानने में कारक साकल्य लक्षण एक और प्रमाण मानना पड़ेगा, पुनः उसके भी जानने के लिए एक और कारक साकल्य नाम वाला प्रमाण स्वीकार करना पड़ेगा। इस प्रकार से तो अनवस्था का प्रसंग आ जावेगा इसलिए कारक साकल्य भी प्रमाण नहीं है क्योंकि वह भी अज्ञानरूप ही है।

भावार्थ— एक जरन्नैयायिक कहलाते हैं वे लोग कारक-कर्ता कर्म करण आदि कारकों की सफलता—पूर्णता को प्रमाण कहते हैं। तब आचार्य ने कहा है कि वास्तव में सभी कारक मिलकर भी अचेतन ही रहते हैं पुनः वे प्रमाण कैसे हो सकेंगे। हाँ, ये कारक ज्ञान को उत्पन्न करने में सहकारी कारण हो जाते हैं और इसीलिए इन्हें उपचार से प्रमाण माना जा सकता है किन्तु मुख्यरूप से ज्ञान ही प्रमाण है।

(सांख्य द्वारा मान्य प्रमाण का खंडन)

सांख्य— 'इन्द्रियवृत्तिः प्रमाणं'—इंद्रियों का व्यापार ही प्रमाण है।

जैन— प्रमाण का यह लक्षण भी असंभव है, क्योंकि अचेतन रूप होने से यह भी विशेष नहीं है सन्निकर्ष के समान। बात यह है कि इंद्रियों का व्यापार का आप क्या अर्थ करते हैं—उन्मीलन आदि व्यापार या संशयादि का निराकरण। प्रथम पक्ष में प्रमाणता नहीं है क्योंकि व्यभिचार दोष आता है, कहीं संशय आदि में भी इंद्रियों का उन्मीलन आदि व्यापार देखा जाता है। यदि संशयादि का निराकरण होना रूप दूसरा पक्ष लेते हो तब तो 'ज्ञान ही प्रमाण है' यह बात सिद्ध हो जाती है क्योंकि अज्ञान से संशयादि का निराकरण हो नहीं सकता है इसलिए इन्द्रियवृत्ति प्रमाण नहीं है। हाँ, इन्द्रियाँ ज्ञान की उत्पत्ति में कारण हैं इसलिए उपचार से प्रमाण हैं यह बात सर्वत्र मान्य ही है।

(प्रभाकर द्वारा मान्य प्रमाण का खंडन)

प्रभाकर— ज्ञाता का व्यापार ही प्रमाण है।

जैन— प्रश्न यह होता है कि वह ज्ञाता का व्यापार ज्ञानात्मक है या अज्ञानात्मक। यदि वह ज्ञानात्मक है तब तो बात ठीक ही है। पुनः वही ज्ञान ही प्रमाण सिद्ध हो जाता है। यदि आप उसे अज्ञानस्वरूप कहेंगे तब तो वहाँ संशयादि को दूर करने वाले किसी भिन्न प्रमाण का अनुसरण करना ही पड़ेगा और यदि वह

व्याप्यं व्यवच्छेद्यतेऽन्यथा व्याप्यव्यापकभावविरोधात्। ननु संशयादेर्ज्ञानविशेषत्वेन ज्ञानसामान्येन व्याप्यत्वात्कथं ज्ञानेन विरोध इति चेन्न। अत्र सम्यग्ज्ञानस्यैव ज्ञानत्वेन विवक्षितत्वात्संशयादेश्च मिथ्याज्ञानत्वेन सम्यग्ज्ञानेन विरोधसिद्धेः। ततः साधूक्तं ज्ञानमेव प्रमाणमज्ञाननिवृत्त्यन्यथानुपपत्तेरिति।। ननु ज्ञानं प्रमाणमस्तु विज्ञानाकारगोचरे एव। तत्तु निर्विकल्पकमेव विकल्पस्यावस्तुविषयत्वादिति सौगतविप्रतिपत्तिं निराकुर्वन्नाह— विज्ञानमिति। विशेषस्य जात्याद्याकारस्य ज्ञानमवबोधनं निश्चयो यस्य तद्विज्ञानं। विशेषेण वा संशयादिव्यवच्छेदेन ज्ञानमवबोधनं यस्य तद्विज्ञानमिति। न पुनर्निर्विकल्पकं दर्शनं तस्य व्यवहारानुपयोगात्। न खलु हानादिरूपं फलं व्यवहारिणां निर्विकल्पकदर्शनेन निर्वर्त्यते अन्यथा निश्चयवैफल्यप्रसङ्गात्। विभ्रमैकान्तेऽपि संव्यवहारविशेषानुपपत्तेः। संशयादिव्यवच्छेदादेव हि ज्ञानं संव्यवहारहेतुर्न तु भ्रान्तेः। यतः सर्वमपि ज्ञानं भ्रान्तं स्यात्। ननु निश्चयात्मकमपि ज्ञानं न बहिरर्थालम्बनं तस्यैवाभावादिति ज्ञानाद्वैतवादिनः।

अज्ञानस्वरूप है तो पुनः उसके लिए एक प्रमाण ढूंढ़ना पड़ेगा, ऐसे अनवस्था आ जावेगी। अतः यह प्रमाण का लक्षण भी ठीक नहीं है।

शंका— अज्ञानरूप भी सन्निकर्ष आदि संशय आदि को दूर करने में कारण हो जावें, क्या दोष है ?

समाधान— ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि संशयादि अज्ञान विशेष होने से ज्ञान सामान्य से व्याप्त हैं और व्यापक के द्वारा व्याप्य का निराकरण नहीं किया जा सकता है अन्यथा व्याप्यव्यापक भाव में विरोध हो जावेगा।

शंका— संशयादि ज्ञान विशेषरूप होने से ज्ञान सामान्य के साथ व्याप्त हैं तो पुनः ज्ञान के साथ उनका विरोध कैसे है ?

समाधान— ऐसा नहीं है। यहाँ सम्यग्ज्ञान ही ज्ञानरूप से विवक्षित है और संशयादि मिथ्याज्ञानरूप हैं, इसलिए इनका सम्यग्ज्ञान के साथ विरोध सिद्ध है।

इसलिए यह ठीक नहीं है कि 'ज्ञान ही प्रमाण है क्योंकि अज्ञान की निवृत्ति अन्यथा— अन्य प्रकार से नहीं सकती है।

(बौद्ध द्वारा मान्य प्रमाण का निरसन)

सौगत— ज्ञान प्रमाण होवे, ठीक है किन्तु वह विज्ञानाकार गोचर में ही प्रमाण है।

जैन— वह ज्ञान निर्विकल्प ही है क्योंकि विकल्प अवस्तु को विषय ही करता है।

जैन— यहाँ विज्ञान का ऐसा अर्थ करना चाहिए। वि-विशेष जाति आदि आकार का ज्ञान निश्चय है जिसके वह विज्ञान है किन्तु निर्विकल्पक दर्शन विज्ञान नहीं है क्योंकि उस दर्शन का व्यवहार में उपयोग नहीं होता है। छोड़ना, ग्रहण करना आदि रूप जो व्यवहारी लोगों का फल है वह निर्विकल्पदर्शन से नहीं बन सकता है अन्यथा निश्चय को विफल होने का प्रसंग आ जायेगा।

'सभी विभ्रम ही है' इस प्रकार के विभ्रमैकांत पक्ष में भी संव्यवहार विशेष नहीं बन सकता है। संशय आदि का निराकरण करने से ही ज्ञान संव्यवहार में हेतु है किन्तु भ्रांति से नहीं है, जिससे कि सभी ज्ञान भ्रांत हो सकें अर्थात् सभी ज्ञान भ्रांत नहीं हैं।

विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध— निश्चय को कराने वाला भी ज्ञान बाह्य पदार्थों का अवलंबन लेने वाला नहीं है, क्योंकि बाह्य पदार्थों का ही अभाव है।

अर्थनिश्चयात्मकमेव ज्ञानं न स्वरूपावबोधकं स्वात्मनि क्रियाविरोधादिति यौगादयः। तदेतन्मत-द्वयनिराकरणार्थमिदमेवार्थाप्यते—विज्ञानमिति—विविधं स्वापूर्वार्थगोचरं ज्ञानमवबोधनं यस्य तद्विज्ञानमिति व्याख्यानात्। न हि बहिरर्थशून्यं ज्ञानं प्रमाणं यतो बहिरर्थशून्यता तस्य साध्येत। तत्साधनानुमानस्य बहिरर्थालम्बनत्वात्। अन्यथा साध्य-साधनयोरविशेषात्। किञ्च ज्ञानसत्त्वमन्तर्मुखानु-भवबलादभ्युपगच्छन् बहिर्मुखानुभवबलात् ज्ञेयं नाभ्युपगच्छतीति किमपि महाद्भुतम्। एकस्य सम्यक्त्वमन्यस्य मिथ्यात्वमित्यपि स्वेच्छाकारित्वमेव न प्रेक्षावत्त्वमविशेषात्। तन्न बहिरर्थशून्यं ज्ञानम्। न च प्रमाणान्तरेण निश्चितोऽपि संशयाद्यालीढापूर्वार्थ इत्युच्यते तत्रैव प्रमाणस्य साफल्यात्। नापि स्वरूपानवबोधनं, अवबोधनस्य प्रकाशरूपत्वात्। तस्य च स्वपरविषयत्वेन प्रतीतिसिद्धत्वात्। इदं नीलादिकमहं वेद्मीत्यन्तर्बहिरालम्बन-स्यानुभवस्य सिद्धेः। अन्यथा बाह्यार्थानुभवस्याप्यपलापापत्तेः। स्वात्मनि क्रियाविरोध इत्यप्यनुपपन्नं, अन्यतरानुपलम्भसाध्यत्वाद्विरोधस्य। उपलभ्यते च ज्ञाने स्वरूपावबोधनद्वयं प्रदीपवत्। यथैव हि

यौगादि—ज्ञान पदार्थों का ही निश्चय कराने वाला है किन्तु वह अपने स्वरूप को नहीं जानता है क्योंकि अपने में क्रिया का विरोध है।

भावार्थ—विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध बाह्य पदार्थों को नहीं मानते हैं केवल ज्ञान मात्र को ही स्वीकार करते हैं और यौग आदि कहते हैं कि ज्ञान बाह्य पदार्थों को ही जानने वाला वह स्वयं को नहीं जानता है। आगे आचार्य इन दोनों के मत का निराकरण करने के लिए निरुक्ति अर्थपूर्वक विज्ञान शब्द की व्याख्या करते हैं।

(विज्ञानाद्वैतवादी का खंडन)

जैन—वि—विविध स्व और अपूर्व अर्थ को विषय करने वाला, ज्ञान अवबोध है जिसका वह 'विज्ञान' है। इस प्रकार से व्याख्या की गई है।

बाह्य अर्थ से शून्य ज्ञान प्रमाण नहीं है कि जिससे बाह्य अर्थ शून्यता उस ज्ञान के सिद्ध हो सके, क्योंकि उस बाह्य अर्थ की शून्यता को सिद्ध करने वाला अनुमान बाह्य अर्थ के अवलंबनपूर्वक ही होता है अन्यथा साध्य और साधन दोनों समान हो जावेंगे। दूसरी बात यह है कि आप बौद्ध ज्ञान के अस्तित्व को अंतर्मुख अनुभव के बल से स्वीकार करते हुए बहिर्मुख अनुभव के बल से ज्ञेय के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते हैं। यह तो कोई एक महान आश्चर्य है। एक को समीचीन और दूसरे को मिथ्या कहना भी स्वच्छंद मान्यता ही है किन्तु विचारशीलता नहीं है, क्योंकि दोनों जगह कोई अंतर नहीं है। इसलिए ज्ञान बाह्य अर्थ से शून्य नहीं है।

प्रमाणान्तर से निश्चित भी संशय आदि से सहित अपूर्वार्थ है। ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि उसी में ही प्रमाण की सफलता है।

(यौग का खंडन)

ज्ञान अपने स्वरूप को नहीं जानने वाला अस्वसंवेदी है। ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि ज्ञान प्रकाशरूप है। वह ज्ञान स्व और पर को विषय करने वाला—जानने वाला है यह बात प्रतीति से सिद्ध है। इस 'नील' आदि को 'मैं' जानता हूँ। इस प्रकार से 'मैं' शब्द से अंतरंग का और 'नीलादि' शब्द से बाह्य पदार्थों का अनुभव सिद्ध है।

अन्यथा—यदि नहीं मानोगे तो बाह्य पदार्थों के अनुभव का भी अभाव हो जायेगा।

प्रदीपप्रकाशनयोरेकत्राविरोधः सकलसम्मतस्तथा स्वरूपावबोधनयोरप्यात्मन्यविरोधोऽङ्गीकर्तव्य एव न्यायायातत्वात्। अन्यथा पक्षपातप्रसङ्गात्। ततः साधूक्तं विज्ञानं स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानमिति।।

तच्च प्रत्यक्षमेवेति चार्वाका विप्रतिपद्यन्ते। प्रत्यक्षानुमाने एवेति सौगतवैशेषिकाः। प्रत्यक्षानुमानागमा इति सांख्याः। प्रत्यक्षानुमानोपमानागमानीति नैयायिकाः। प्रत्यक्षानुमानागमोपमानार्थापत्तय इति प्रभाकराः। प्रत्यक्षानुमानागमोपमानार्थापत्त्यभावा इति भाट्टाः। तत्समस्तविप्रतिपत्तिविक्षेपार्थमिदमाह—प्रमाणे इति संग्रह इति। सकलप्रमाणभेदप्रभेदानां संख्यासङ्ग्रहो द्वैविध्यमेव, नैकत्वादि, तत्रान्यभेदानामन्तर्भावात्। संक्षेपेण सामस्त्येन वा ग्रहः सङ्ग्रह इति व्याख्यानात्। ननु प्रमाणमित्येकत्वसंख्ययैवालं तत्रैवेतत्संख्यान्तर्भावात् किं तद्वित्वेनेति चेन्न। भेदगणनाया एव संख्यात्वादेकत्वस्य चाभेदत्वात्। द्रव्यार्थिकनयविवक्षया तदभ्युपगमात्।

यौग—स्वात्मा में क्रिया का विरोध है अर्थात् अपने आप में क्रिया न हो सकने से ज्ञान अपने आपको कैसे जानेगा ?

जैन—यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि विरोध दो में से किसी एक के अभाव से सिद्ध होता है अर्थात् शीत और उष्ण इन दोनों का विरोध है अतः शीत के अभाव में रहता हुआ उष्ण शीत का विरोध करता है यह बात सिद्ध है किन्तु ज्ञान में तो ऐसी बात है नहीं कि वह अपने में रहते हुए अपने आपका ही विरोध करे। इसलिए ज्ञान की जानने रूप क्रिया का स्वयं ज्ञान में विरोध नहीं है।

ज्ञान में स्वरूप और जानना ये दोनों बातें उपलब्ध हो रही हैं। देखो ! जिस प्रकार से प्रदीप और प्रकाशन का एक जगह अविरोध सभी लोगों को मान्य है, उसी प्रकार से स्वरूप और जानना इन दोनों का भी अविरोध स्वीकार करना ही चाहिए, क्योंकि न्याय से यह बात सिद्ध है अन्यथा पक्षपात का प्रसंग आ जाता है इसलिए ठीक ही कहा है कि अपना और अपूर्व अर्थ का निश्चय करने वाला ज्ञान ही विज्ञान है। (यहाँ तक आचार्यों ने प्रमाण के निर्दोष लक्षण को सिद्ध किया है। अब आगे प्रमाण की संख्या के विसंवाद को दूर करते हैं)—

वह प्रमाण एक प्रत्यक्ष ही है, इस प्रकार चार्वाक विसंवाद करते हैं। प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण हैं' इस प्रकार सौगत और वैशेषिक कहते हैं। सांख्य प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन तीन प्रमाण को मानते हैं। नैयायिक प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम ऐसे चार मानते हैं। प्रभाकर प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान और अर्थापत्ति ऐसे पाँच मानते हैं। भाट्ट प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव ऐसे छह मानते हैं। इन सभी के विसंवाद को दूर करने के लिए आचार्य कहते हैं कि 'प्रमाणे इति संग्रहः'— सकल प्रमाण के भेद-प्रभेदों की संख्या को संग्रह करने वाले प्रमाण के दो प्रकार ही हैं किन्तु उपर्युक्त माने गये एक, दो, तीन आदि नहीं हैं क्योंकि इन दो प्रमाणों में ही अन्य सभी भेद गर्भित हो जाते हैं। संक्षेप से अथवा समस्त रूप से ग्रहण करना 'संग्रह' शब्द का अर्थ है, यहाँ ऐसा समझना।

शंका—'प्रमाण है' इस एक संख्या से ही बस हो उसी एक में ही ये संख्याये गर्भित हो जायेंगी, पुनः प्रमाण को दो मानने से क्या प्रयोजन है ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना, क्योंकि भेदों की गणना ही संख्या कहलाती है और एक तो अभेदरूप है। हाँ, द्रव्यार्थिक नय की विवक्षा से वह प्रमाण एक ही है किन्तु पर्यायार्थिक नय की विवक्षा से तो प्रमाण के सभी भेदों को दो प्रमाण में ही संग्रहीत किया गया है अर्थात् द्रव्यार्थिक नय से सामान्यतया प्रमाण एक है और पर्यायार्थिकनय से प्रमाण के दो भेद हैं प्रत्यक्ष और परोक्ष। इन दो में ही सारे प्रमाण के भेद-प्रभेद गर्भित हो जाते हैं।

पर्यायार्थिकनयविवक्षया तु प्रमाणभेदानां द्वित्वस्यैव सङ्ग्रहत्वात्। नन्वस्तु द्वित्वं प्रमाणस्य प्रत्यक्षानुमान-भेदादित्याशङ्कामपाकुर्वन् प्रत्यक्षपरोक्षभेदादिति मनसि कृत्वा तत्राद्यं तावदाह—प्रत्यक्षं विशदमिति यद्विशदं स्पष्टप्रतिभासनं ज्ञानं तत्प्रत्यक्षप्रमाणं भवति। अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा। तमेव क्षीणोपशान्तावरणं क्षीणावरणं वा प्रतिनियतं परानपेक्षं तत् प्रत्यक्षमिति व्युत्पत्तेः। न ह्यविशदस्वरूपस्य प्रमाणस्य प्रत्यक्षत्वमुपपन्नं अतिप्रसङ्गात्। तच्च प्रत्यक्षं द्विधेति प्रतिपादयति—मुख्यसंव्यवहारतः। मुख्यं च संव्यवहारश्च तावाश्रित्य प्रत्यक्षं द्वेधा भवतीति भावः। तत्र मुख्यं प्रत्यक्षमवधिमनःपर्ययकेवलभेदभिन्नं अशेषतो वैशद्यादिन्द्रिया-दिनिरपेक्षत्वाच्च। स्वावरणविशेषविश्लेषप्रादुर्भूतं हि तन्मुख्यतः प्रत्यक्षव्यपदेशभाग्भवति प्रत्यक्षमन्यदिति सिद्धान्तानुरोधात् प्रत्यक्षताऽनुपचारात्। यत्पुनरिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं मतिज्ञानं तत्सांव्यवहारिकं प्रत्यक्षमित्युच्यते देशतो वैशद्यसम्भवात्। समीचीनप्रवृत्तिरूपो व्यवहारः संव्यवहारस्तमाश्रित्य प्रवृत्तेः प्रत्यक्षतोपचाराविरोधात्। आद्ये परोक्षमिति हि मुख्यवचनं ततो नायमपसिद्धान्तः। इदानीं परोक्षलक्षणमाह—परोक्षं शेषमिति। शेषमवितथं

प्रमाण के दो भेद होवें ठीक ही है किन्तु प्रत्यक्ष और अनुमान के भेद से दो भेद होते हैं। इस प्रकार की सौगत की आशंका को दूर करते हुए प्रत्यक्ष, परोक्ष के भेद से दो भेद हैं, ऐसा मन में करके श्री भट्टाकलंक देव उनमें से प्रथम को पहले कहते हैं—

(प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण)

'प्रत्यक्षं विशदं' जो विशद—स्पष्ट प्रतिभास वाला ज्ञान है वह प्रत्यक्ष प्रमाण होता है। 'अक्ष्णेति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष—आत्मा' अक्ष धातु का अर्थ है व्याप्त होना—जानना, जो व्याप्त होता है जानता है वह अक्ष—आत्मा है। ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम जिसको है अथवा ज्ञानावरण कर्म का क्षय जिसके हो गया है। ऐसी उस आत्मा के प्रति जो नियत—निश्चित है—उस आत्मा से उत्पन्न होता है और पर की अपेक्षा नहीं रखता है वह प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है अर्थात् आत्मा में आवरण कर्म के क्षयोपशम से या क्षय से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष कहलाता है क्योंकि अविशदस्वरूप—अस्पष्ट प्रतिभास वाला प्रमाण प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है अन्यथा अतिप्रसंग दोष आ जावेगा।

(प्रत्यक्ष प्रमाण के भेद का कथन)

वह प्रत्यक्ष प्रमाण मुख्य और संव्यवहार के निमित्त से दो प्रकार का है। उसमें मुख्य प्रत्यक्ष के तीन भेद हैं—अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। ये ज्ञान अशेष रूप से विशद—स्पष्ट प्रतिभासी हैं और इन्द्रिय आदि की अपेक्षा नहीं रखते हैं। अपने-अपने आवरण विशेष के पृथक् होने से उत्पन्न होते हैं इसलिए ये मुख्य रूप से 'प्रत्यक्ष' इस नाम को प्राप्त करने वाले होते हैं। 'प्रत्यक्षमन्यत्[१]' इस सिद्धान्त के अनुरोध से इनकी प्रत्यक्षता अनुपचरित—वास्तविक है, उपचरित नहीं है।

जो इन्द्रिय और मन के निमित्त से होने वाला मतिज्ञान है, वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहलाता है क्योंकि वह एकदेश विशद—स्पष्ट—निर्मल है। समीचीन प्रवृत्तिरूप व्यवहार संव्यवहार कहलाता है। उसको आश्रय लेकर प्रवृत्ति होने से इस मतिज्ञान में प्रत्यक्षता मानी गई है। यह प्रत्यक्षता उपचार से ही है अर्थात् यह मतिज्ञान उपचार से ही प्रत्यक्ष है। 'आद्ये परोक्षम्' इस सूत्र में जो मतिज्ञान को परोक्ष कहा है वह मुख्य कथन है अर्थात् मतिज्ञान मुख्यरूप से परोक्ष ही है इसलिए यहाँ उसे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष मानने में सिद्धान्त विरुद्ध

---

१. तत्त्वार्थसूत्र प्रथम अ.।

ज्ञानं स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदभिन्नं परोक्षं प्रमाणमित्याख्यायते। तस्य परप्रत्ययापेक्षया प्रवृत्तेः प्रत्यक्षादिनिमित्तत्वात्स्मृत्यादेः। अत्र प्रमाणे इत्यनेनाभिधेयवत्त्वमस्य शास्त्रस्य सूचितं भवति। अनेन प्रमाणनयनिक्षेपाणामभिधानात्तच्छून्यस्यैव वन्ध्यासुतो यातीत्यादिवदनादरणीयत्वात्। सम्बन्धश्च वाच्यवाचकभावलक्षणः सुघट एव। शास्त्रतदभिधेययोस्तत्सद्भावात्। अन्यथा दश दाडिमानि षडपूपा इत्यादिवाक्यवदप्रयोजकत्वात्। शक्यानुष्ठानेष्टप्रयोजनं च साक्षात्प्रमाणादिविषयाज्ञाननिवृत्ति-लक्षणमुपलक्ष्यत एव, शास्त्राध्ययनानन्तरभावित्वात्तस्य। परम्परया तु हानादिरूपं हिताहितप्राप्तिपरिहार-समर्थत्वात्प्रवचनस्य। निष्प्रयोजनस्य प्रवृत्त्यनङ्गत्वात्काकदन्तपरीक्षावत्। ततः साधूक्तं प्रत्यक्षमित्यादि।

कथन नहीं है। ऐसा समझना चाहिए।

भावार्थ—सिद्धान्त ग्रंथ तत्त्वार्थसूत्र में प्रत्यक्ष प्रमाण से अवधि आदि तीन ज्ञान लिये हैं और परोक्ष से मति, श्रुत इन दो ज्ञानों को लिया है। यहाँ पर अकलंकदेव ने प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद किये हैं—मुख्य और सांव्यवहारिक। मुख्यरूप से अवधि आदि तीनों ज्ञानों को ले लिया है और सांव्यवहारिक से मतिज्ञान को लिया है। टीकाकार अभयचंद्रसूरि यह स्पष्ट कर रहे हैं कि यह सांव्यवहारिक मतिज्ञान उपचार से ही प्रत्यक्ष है, मुख्य रूप से नहीं। इसलिए यहाँ सिद्धान्त विरुद्ध कथन करने का दोष नहीं आता है।

(अब परोक्ष प्रमाण का लक्षण कहते हैं)

शेष विज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं। शेष—प्रत्यक्ष प्रमाण के स्वरूप से भिन्न अविशद स्वभाव वाला ज्ञान परोक्ष प्रमाण कहलाता है। उसके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ऐसे पाँच भेद हैं। यह परोक्ष ज्ञान पर कारणों की अपेक्षा से प्रवृत्त होता है। स्मृति आदि में प्रत्यक्ष आदि निमित्त माने गये हैं अर्थात् स्मृति ज्ञान पूर्व में अनुभव किये गये प्रत्यक्ष की अपेक्षा रखता है। प्रत्यभिज्ञान प्रत्यक्ष और स्मृति दोनों की अपेक्षा करता है इत्यादिरूप से पर की अपेक्षा रखने से ही ये ज्ञान परोक्ष कहलाते हैं।

(ग्रंथ में संबंध, अभिधेय, शक्यानुष्ठान और इष्ट प्रयोजन ये चार चीजें होना आवश्यक हैं। इसलिए इन्हीं चारों का स्पष्टीकरण करते हैं—)

'प्रमाणे' इस कथन से इस शास्त्र को अभिधेय वाला सूचित किया है अर्थात् इस ग्रंथ के अभिधेय—वाच्य विषय को बतलाया है। 'प्रमाण' इस कथन से इस ग्रंथ प्रमाण, नय और निक्षेपों का कथन है क्योंकि इनसे शून्य ग्रंथ आदरणीय नहीं हो सकते हैं, जैसे कि 'बंध्या का पुत्र जाता है' इत्यादि को कहने वाले शास्त्र आदरणीय नहीं हैं।

वाच्य वाचक भावलक्षण संबंध तो सुघटित ही है क्योंकि शास्त्र और उसका वाच्य प्रमाण इन दोनों के संबंध का सद्भाव है अन्यथा दश अनार, छह पुये इत्यादि वाक्य के समान यह ग्रंथ अप्रयोजक ही रहेगा अर्थात् किसी ने बिना किसी संबंध के दश अनार, छह पुये आदि यद्वा-तद्वा वाक्य कहा तो उसका वह कथन संबंध रहित होने से अप्रयोजनीभूत है।

शक्यानुष्ठान और इष्ट प्रयोजन तो प्रमाण आदि के विषय में अज्ञान की निवृत्ति लक्षण साक्षात् फल देखा ही जाता है, शास्त्र के अध्ययन के अनंतर ही (उस विषयक) अज्ञान का अभाव हो जाता है। परम्परा से हान, उपादानादिरूप फल होता है क्योंकि प्रवचन—शास्त्र हित की प्राप्ति और अहित का परिहार कराने में समर्थ होता है। जो शास्त्र निष्प्रयोजन होते हैं वे प्रवृत्ति के कारण नहीं होते हैं। जैसे कौवे के दांत की परीक्षा करना

ननु विशदं प्रत्यक्षमित्युक्तं तत्कीदृशं ज्ञानस्य वैशद्यमित्याशंक्याह—

अनुमाद्यतिरेकेण विशेषप्रतिभासनम्।
तद्वैशद्यं मतं बुद्धेरवैशद्यमतः परम्।।४।।

तन्मतमिष्टं स्याद्वादिभिः। किं वैशद्यं विशदस्य भावो वैशद्यं। कस्याः बुद्धेः ज्ञानस्य। किं तत् यद्विशेषप्रतिभासनं विशेषस्य वर्णसंस्थानाद्याकारस्य प्रतिभासनमवबोधनं। विशेषेण वा प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन प्रतिभासनं। कथं अनुमाद्यतिरेकेण अनुमानमादिर्येषामागमादीनां तेभ्योऽतिरेक आधिक्यं तदनादरणं तेन। न खल्वनुमानादिसाधारणं विशेषप्रतिभासनं प्रत्यक्षस्य प्रतीतं यतस्तेषामपि वैशद्यं सम्भवेत्। अत उक्तलक्षणाद्वैशद्यात्परमन्यद् व्यवहितप्रतिभासनमवैशद्यमित्युच्यते। तस्यानुमानादिषु परोक्षभेदेषु व्यवस्थितत्वात्।

निष्प्रयोजन ही है।

इसलिए 'प्रत्यक्षं विशदं' इत्यादि रूप से जो कथन किया गया है वह ठीक ही है।

भावार्थ—इस ग्रंथ के उद्देश्य को बतलाते हुए आचार्य ने यहाँ पर सबसे प्रथम शिष्यों के भेद बतलाये हैं। पुनः इस ग्रंथ में प्रमाण का वर्णन है, ऐसा संकेत करते हुए यह बताया है कि शास्त्र की प्रवृत्ति उद्देश्य, लक्षण और परीक्षा इन तीन प्रकार होती है। पुनः प्रमाण का लक्षण करके अन्य मतावलंबियों द्वारा मान्य प्रमाण के लक्षण का निराकरण किया है। प्रमाण के भेदों के विसंवाद को दूर करके दो भेद सिद्ध किये हैं एवं उन्हीं में सभी प्रमाणों के अंतभूर्त होने का संकेत किया है। अनंतर यह बात भी स्पष्ट की है कि ग्रंथ में संबंध, अभिधेय, शक्यानुष्ठान और इष्टप्रयोजन ये चार चीजें अवश्य होनी चाहिए अन्यथा उसका आदर नहीं होता है।

इनको बतलाते हुए यह स्पष्ट किया है कि इसको अध्ययन करने के अनंतर ही उस विषय का ज्ञान होने से अज्ञान का अभाव हो जाता है यह साक्षात् फलरूप इष्ट प्रयोजन है और परम्परा से त्याग करने योग्य को छोड़ना, ग्रहण करने योग्य को ग्रहण करना इन दोनों से रहित में अपेक्षा करना यह फल है, इसलिए यह प्रमाणभूत है।

उत्थानिका—आपने 'प्रत्यक्ष का लक्षण विशद है' ऐसा कहा है, वह ज्ञान की विशदता कैसी है ? ऐसी आशंका होने पर आचार्य कहते हैं—

अन्वयार्थ—(अनुमानाद्यतिरेकेण) अनुमान आदि के बिना (विशेष प्रतिभासनं) जो विशेष प्रतिभास होता है (तद् बुद्धेः वैशद्यं मतं) वह ज्ञान की विशदता है (अतः परं अवैशद्यं) इससे भिन्न अविशदता है।।४।।

अर्थ—अनुमान आदि के बिना जो विशेष प्रतिभास होता है, वह ज्ञान की विशदता है, इससे भिन्न अविशदता है।।४।।

तात्पर्यवृत्ति—अनुमान, आगम आदि के बिना जो वस्तु के विशेष-वर्ण संस्थान आदि आकारों का प्रतिभासन—जानना होता है अथवा जो भिन्न प्रतीति के व्यवधान के बिना जानना होता है, वह विशेष प्रतिभासन कहलाता है और वही ज्ञान की विशदता—निर्मलता है। विशद के भाव को विशदता या वैशद्य कहते हैं। यहाँ पर वही स्याद्वादियों को इष्ट है।

अनुमान आदि में साधारण ऐसा विशेष प्रतिभासन प्रत्यक्ष में प्रतीत नहीं होता है कि जिससे उन अनुमान आदि ज्ञानों में भी विशदता हो सके इसलिए उपर्युक्त लक्षण वाली विशदता से अन्य व्यवहित (तिरोहित) प्रतिभासन—ज्ञान अविशद कहलाते हैं। वह अविशदता—अस्पष्टता अनुमान आदि सभी परोक्ष ज्ञान के भेदों में व्यवस्थित है। इस प्रकार से बाह्य अर्थ की अपेक्षा से ही ज्ञान में स्पष्टता-अस्पष्टता होती है, ऐसा श्री

एवं ज्ञानस्य बाह्यार्थापेक्षयैव वैशद्यावैशद्ये देवैः प्रणीते। स्वरूपापेक्षया तु सकलमपि ज्ञानं विशदमेव स्वसंवेदने ज्ञानातराव्यवधानात्। तस्य ज्ञानस्य प्रामाण्याप्रामाण्ये अपि बहिरर्थापेक्षयैव व स्वरूपापेक्षया। तत्र सर्वसंवेदनस्य [1]प्रामाण्याभावात्। भावप्रमेयापेक्षायां प्रमाणाभासनिह्नवः।। बहिः प्रमेयापेक्षायां प्रमाणं तन्निभं च ते।। इति वचनात्।।

अथ सांव्यवहारिकप्रत्यक्षस्य कारणभेदनिर्णयार्थमिदमाह—

अक्षार्थयोगे सत्तालोकोऽर्थाकारविकल्पधीः।
अवग्रहे विशेषाकांक्षेहाऽवायो विनिश्चयः।।५।।
धारणा स्मृतिहेतुस्तन्मतिज्ञानं चतुर्विधम्।

सोपस्कारत्वात्सूत्राणामेवं व्याख्यायते। उत्पद्यते। कः सत्तालोकः सत्तायाः समस्तार्थसाधारणस्य

भट्टाकलंकदेव ने कहा है। स्वरूप की अपेक्षा से तो सभी ज्ञान विशद ही हैं क्योंकि स्वसंवेदन—स्व को जानने में किसी भी ज्ञान में भिन्न ज्ञान का व्यवधान नहीं आता है।

उन ज्ञान की प्रमाणता और अप्रमाणता भी बाह्य अर्थ की अपेक्षा से ही है न कि स्वरूप की अपेक्षा से। अपने स्वरूप का अनुभव करने में सभी ज्ञान में अप्रमाणता का अभाव है।

भाव—अपने स्वरूप के प्रमेय की अपेक्षा होने पर प्रमाणाभास का अभाव है तथा बाह्य प्रमेय की अपेक्षा में प्रमाण और प्रमाणाभास दोनों होते हैं, ऐसा श्री समंतभद्रस्वामी ने कहा है।

भावार्थ—यहाँ खास बात यह समझने की है कि बाह्य पदार्थों की अपेक्षा से ही ज्ञान में स्पष्टता-अस्पष्टता होती है, अपने स्वरूप को जानने में नहीं। अपने स्वरूप के जानने में सभी ज्ञान स्पष्ट ही हैं तथा दूसरी बात यह है कि ज्ञान का जब अपना स्वरूप ही प्रमेय—विषय है तब उसमें प्रमाणाभास नहीं होता है क्योंकि यदि संशय ज्ञान अपने स्वरूप में विपरीत है तो वह असंशय रूप हो जावेगा। इसी प्रकार से चाहे समीचीन ज्ञान हो चाहे मिथ्या, अपने-अपने स्वरूप से सभी उसी रूप होने से समीचीन ही हैं किन्तु बाह्य पदार्थों को प्रमेय—विषय करने की अपेक्षा से ज्ञान में प्रमाण और प्रमाणाभास ये दो विकल्प हो जाते हैं। जो ज्ञान बाह्य पदार्थों को बाधारहित या संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय से रहित ग्रहण करते हैं वे समीचीन कहलाते हैं और जो ज्ञान पदार्थों को बाधा सहित संशय आदि सहित ग्रहण करते हैं वे प्रमाणाभास कहे जाते हैं। इस बात को यहाँ बतलाया है।

उत्थानिका—अब सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के कारण और भेद का निर्णय करने के लिए आचार्य कहते हैं—

अन्वयार्थ—(अक्षार्थयोगे) इंद्रिय और पदार्थ का योग होने पर सत्तामात्र का आलोक दर्शन है (अर्थाकारविकल्पधीः) पुनः अर्थ के आकार के विकल्प वाला ज्ञान (अवग्रह) है (अवग्रहे विशेषाकांक्षा ईहा) अवग्रह के विषय में विशेष आकांक्षा का होना ईहा है (विनिश्चयः) विशेष का निश्चय(अवायः) अवाय है (स्मृति हेतुः धारणा) स्मृति का हेतु धारणा है (तत् मतिज्ञानं चतुर्विधं) वह मतिज्ञान चार प्रकार का है।।५।। (१/२)

अर्थ—इन्द्रिय और पदार्थ का योग होने पर सत्ता मात्र का आलोक दर्शन है पुनः अर्थ के आकार के विकल्प वाला ज्ञान है। अवग्रह के विषय में विशेष आकांक्षा का होना ईहा है, विशेष का निश्चय अवाय है, स्मृति का हेतु धारणा है, वह मतिज्ञान चार प्रकार का है।।५।। (१/२)

तात्पर्यवृत्ति—सूत्र उपस्कार सहित होते हैं। इस नियम से यहाँ उत्पद्यते—उत्पन्न होता है; इस क्रिया

---

१. अप्रमाण्याभावात्, ऐसा पाठ होना चाहिए।

सत्त्वसामान्यस्य आलोको निर्विकल्पग्रहणं दर्शनमिति यावत्। सामान्यग्रहणं दर्शनमित्याम्नायात्। ननु मतिज्ञानप्रकरणे किमिति दर्शनमप्रकृतमुपक्रान्तमिति चेन्न। ज्ञानात्पूर्वपरिणामप्रदर्शनार्थत्वात्। दर्शनपूर्वं ज्ञानं छद्मस्थानामिति वचनात्। ननु स्वरूपग्रहणं दर्शनमिति राद्धान्तेन कथं न विरोध इति चेन्न। अभिप्रायभेदात्। परविप्रतिपत्तिनिरासार्थं हि न्यायशास्त्रं ततस्तदभ्युपगतस्य निर्विकल्पदर्शनस्य प्रामाण्यविघातार्थं स्याद्वादिभिः सामान्यग्रहणमित्याख्यायते। स्वरूपग्रहणावस्थायां छद्मस्थानां बहिरर्थविशेषग्रहणाभावात्। प्रामाण्यं च बहिरर्थापेक्षयैव विचार्यते। व्यवहारोपयोगात्। न खलु प्रदीपः स्वरूपप्रकाशनाय व्यवहारिभिरन्विष्यते। ततो बहिरर्थविशेषव्यवहारानुपयोगाद्दर्शनस्य। ज्ञानमेव प्रमाणं तदुपयोगात्। विकल्पात्मकत्वात्तस्य। तत्त्वतस्तु स्वरूपग्रहणमेव दर्शनं केवलिनां तयोर्युगपत्प्रवृत्तेः। अन्यथा ज्ञानस्य सामान्यविशेषात्मकवस्तु-

---

का अध्याहार होता है अर्थात् सत्तालोक—दर्शन उत्पन्न होता है ऐसा संबंध है। सत्ता—संपूर्ण पदार्थों में साधारण रूप से रहने वाले, ऐसे सत्त्वसामान्य—अस्तित्व सामान्य को, आलोक—निर्विकल्प ग्रहण करना दर्शन कहलाता है। सामान्य ग्रहण को दर्शन कहते हैं, ऐसा आगम में कथित है।

प्रश्न—यहाँ मतिज्ञान के प्रकरण में दर्शन अप्रकृत है अर्थात् यहाँ दर्शन का कोई प्रकरण नहीं है पुनः इसका वर्णन क्यों किया ?

उत्तर—ऐसा नहीं कहना। ज्ञान से पूर्व के परिणाम को बतलाने के लिए यहाँ उसका ग्रहण किया गया है क्योंकि छद्मस्थ जीवों को दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है, ऐसा आगम वचन है।

प्रश्न—सिद्धान्त में स्वरूप के ग्रहण करने को दर्शन कहा है पुनः यहाँ सत्तामात्र ग्रहण को दर्शन कहा है। इस कथन के सिद्धान्त से विरोध क्यों नहीं आता है ?

उत्तर—विरोध नहीं आता है क्योंकि अभिप्राय में भेद है। पर के विसंवाद को दूर करने के लिए ही न्यायशास्त्र होते हैं। इन न्यायशास्त्रों से पर के द्वारा स्वीकृत निर्विकल्प दर्शन ही प्रमाणता का खंडन करने के लिए स्याद्वादियों ने सामान्यग्रहण (सत्तामात्र ग्रहण) को दर्शन कहा है। स्वरूप ग्रहण की अवस्था में छद्मस्थजीवों को बाह्यपदार्थ विशेष के ग्रहण का अभाव है और प्रमाणता का विचार तो बाह्यपदार्थ की अपेक्षा से ही किया गया है क्योंकि वह व्यवहार में उपयोगी है। देखो! व्यवहारी लोग स्वरूप के प्रकाशन के लिए प्रदीप का अन्वेषण नहीं करते हैं इसलिए दर्शन बाह्य पदार्थ विशेष के व्यवहार के लिए अनुपयोगी है। उसमें तो ज्ञान ही प्रमाण है क्योंकि वही बाह्य पदार्थ विशेष के व्यवहार में उपयोगी है तथा वह विकल्पात्मक है।

परमार्थ से तो स्वरूप का ग्रहण करना ही दर्शन है क्योंकि केवली जीवों से दर्शन और ज्ञान इन दोनों की युगपत् प्रवृत्ति होती है अन्यथा ज्ञान के सामान्य विशेषात्मक वस्तु को विषय करने के अभाव का प्रसंग आ जावेगा अर्थात् सामान्य विशेषात्मक वस्तु ही प्रमाण का विषय है और यदि ज्ञान को वस्तु के विशेष अंश को विषय करने वाला ही मानेंगे तो फिर सामान्य विशेषात्मक वस्तु प्रमाण का विषय नहीं हो सकेगी।

भावार्थ—सभी पदार्थों में सामान्य और विशेष ऐसे दो धर्म पाये जाते हैं। जैसे—वृक्षों में वृक्षत्व यह सामान्य धर्म है और सभी वृक्षों में पाया जाता है। नीम, आम, जामुन आदि विशेष धर्म है। कोई न कोई विशेष धर्म भी सभी वृक्षों में मौजूद ही है। दर्शन का लक्षण है सामान्य अस्तित्व मात्र को ग्रहण करना और ज्ञान का लक्षण है वस्तु के विशेष आकारादि को ग्रहण करना किन्तु सिद्धान्त ग्रंथों में दर्शन का लक्षण है स्वरूप को ग्रहण करना और ज्ञान का लक्षण है बाह्य पदार्थों को ग्रहण करना। ज्ञान प्रमाण है। प्रमाण का विषय है सामान्य विशेषात्मक वस्तु।

यहाँ पर आचार्य ने सत्तामात्र ग्राहक दर्शन को माना है तब शंकाकार ने शंका की है कि आपके इस कथन से सिद्धांत में विरोध आता है। इस शंका का समाधान करते हुए आचार्य ने कहा कि न्यायग्रंथ पर के

विषयत्वाभावप्रसङ्गात्। कस्मात्सत्तालोक उत्पद्यत इत्याह—अक्षार्थयोगे—अक्षाणीन्द्रियाणि स्पर्शनरसन-घ्राणचक्षुःश्रोत्राणि पञ्च। मनश्च षष्ठं। तानि च द्विविधानि द्रव्यभावभेदात्। तत्र पुद्गलपरिणामो द्रव्येन्द्रियं निर्वृत्त्युपकरणलक्षणम्। भावेन्द्रियं जीवपरिणामो लब्ध्युपयोगभेदम्। तत्रार्थग्रहणशक्तिर्लब्धिः। अर्थग्रहणव्यापार उपयोगः। निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियं लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियमिति वचनात्। ननु कथं मनस इन्द्रियत्वमिति चेदन्तः करणत्वेन तदविरोधात्। अर्थो विषयस्तयोर्योगः सन्निपातो योग्यदेशावस्थानं। तस्मिन् सति उत्पद्यते इत्यर्थः। नन्वक्षवदर्थोऽपि तत्कारणं प्रसक्तमिति चेन्न तद् व्यापारानुपलब्धेः। अन्वयव्यतिरेकानुविधानाभावाच्च केशोण्डुकज्ञानवत्। न हि नयनादिव्यापारवदर्थव्यापारो ज्ञानोत्पत्तौ कारणमुपलभ्यते तस्यौदासीन्यात्। ततः

द्वारा माने गये विपरीत प्रकरणों को निराकरण करने वाले होते हैं। बौद्ध ने ज्ञान को निर्विकल्प माना है, उसकी मान्यता का खंडन करने के लिए न्याय ग्रंथों में दर्शन को स्वरूप को ग्रहण करने वाला कहा है। यह भी बताया है कि वह बाह्य पदार्थों को ग्रहण नहीं करता है, इसलिए वह व्यवहार में उपयोगी नहीं है और ज्ञान प्रमाण है। वही बाह्य वस्तु के व्यवहार में उपयोगी है। पुनः यह भी स्पष्ट कह दिया है कि दर्शन के विषय में जो सिद्धांत की मान्यता है, वही वास्तविक है।

(दर्शन की उत्पत्ति कैसे होती है ?)

शंका—सत्तामात्र अवलोकन रूप दर्शन कैसे उत्पन्न होता है ?

समाधान—इंद्रिय और पदार्थ का योग होने पर होता है। अक्ष—इन्द्रियाँ—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँच इंद्रियाँ हैं और मन यह छठी इन्द्रिय है (इसे अनिंद्रिय भी कहते हैं)। उन इन्द्रियों के दो भेद हैं—द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। उसमें पुद्गलपरिणाम को द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। उसके भी निर्वृत्ति और उपकरण दो भेद हैं। जीव के परिणाम को भावेन्द्रिय कहते हैं। उसके लब्धि और उपयोग ऐसे दो भेद हैं।

अर्थ ग्रहण की शक्ति का नाम लब्धि है और अर्थ ग्रहण के व्यापार का नाम उपयोग है।

(इन्द्रिय के आकार की रचना को निर्वृत्ति तथा उनके सहायक अवयवों को उपकरण कहते हैं।)

'निर्वृत्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्, लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्[१]' ऐसा सूत्रकार का वचन है।

शंका—मन को इंद्रिय कैसे कहा है ?

समाधान—अंतःकरण रूप होने से मन का इन्द्रियपने से विरोध नहीं है।

विषय को अर्थ कहते हैं। उन इन्द्रिय और अर्थ का योग्य देश में अवस्थान होना योग कहलाता है, उसके होने पर होता है अर्थात् इन्द्रिय और विषय के योग्य देश में रहने पर वह दर्शन उत्पन्न होता है।

शंका—ऐसा मानने पर तो इन्द्रिय के समान पदार्थ भी दर्शन की उत्पत्ति में कारण हो जावेंगे ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना, क्योंकि पदार्थ में व्यापार नहीं देखा जाता है और दर्शन का पदार्थ के साथ अन्वय व्यतिरेक भी नहीं है, केश में मच्छर के ज्ञान के समान अर्थात् जहाँ-जहाँ पदार्थ हो वहीं-वहीं पर दर्शन उत्पन्न हो और जहाँ-जहाँ पदार्थ न हो वहाँ-वहाँ दर्शन उत्पन्न न हो, इसको अन्वय-व्यतिरेक कहते हैं। यह नहीं देखा जाता है प्रत्युत् केश में मच्छर का ज्ञान हो जाता है। यदि पदार्थ के निमित्त से दर्शन या ज्ञान उत्पन्न होते तो केशों में केश का ही ज्ञान होता, न कि मच्छर का।

देखिये ! नेत्र आदि के व्यापार के समान पदार्थ का व्यापार ज्ञान की उत्पत्ति में कारण नहीं देखा जाता है क्योंकि वे पदार्थ तो उदासीनरूप ही हैं।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र-द्वितीय अध्याय।

पुनः स एवावग्रहो भवति। किंविशिष्टः अर्थाकारविकल्पधीः अर्थो विषयस्तस्याकारो वर्णसंस्थानादिविशेषः तस्य विकल्पधीः निश्चयात्मकं ज्ञानं। अयमर्थः दर्शनमेव ज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविजृम्भितमर्थ-विशेषग्रहणलक्षणावग्रहरूपतया परिणमत इति यथा आकाशे इदं वस्त्विति। ततः स एवावग्रहः पुनरीहा भवति। किंरूपा विशेषाकांक्षा विशेषस्य बलाकात्वादेराकाक्षां भवितव्यता प्रत्ययरूपा यथा बलाकया भवितव्यमिति। ततः सैवेहाऽवायो भवति। किंलक्षणो विनिश्चयः आकांक्षितविशेषनिर्णय इत्यर्थः। यथा बलाकैवेयमिति। ततः स एवावायो धारणा भवति। किंलक्षणा स्मृतिहेतुः। स्मृतेरतीतार्थावमर्शस्य हेतुः कारणम्। इदमेव हि संस्कारस्य लक्षणं यत्कालान्तरेऽप्यविस्मरणमिति। तदेतन्मतिज्ञानं सांव्यवहारिकप्रत्यक्षम-वग्रहादिभेदाच्चतुर्विधं चतुःप्रकारं भवतीत्यर्थः। एतच्च प्रतीन्द्रियमवबोद्धव्यम्।।

अथ तस्य भेदान् प्रमाणफलव्यवहारं च निरूपयति—

(ज्ञान की उत्पत्ति और भेद)

पुनः उसके अनन्तर वही दर्शन अवग्रह हो जाता है। वह कैसा है ? अर्थाकार के विकल्पात्मक ज्ञानरूप है अर्थात् अर्थ—विषय के आकार—वर्ण आदि विशेष का निश्चय कराने वाला ज्ञान अवग्रह कहलाता है। अर्थ यह हुआ कि दर्शन ही ज्ञानावरण और वीर्यांतराय कर्म के क्षयोपशम विशेष से सहित हुआ पदार्थ विशेष के ग्रहण लक्षण वाले अवग्रह रूप से परिणत हो जाता है। जैसे कि 'आकाश में यह वस्तु है', इस प्रकार का ज्ञान।

अनंतर वही अवग्रह पुनः ईहा हो जाता है। वह किस रूप है ? विशेष आकांक्षारूप है अर्थात् विशेष बगुला को जानने की जो इच्छा है। वह 'भवितव्यता—होना चाहिए' इस ज्ञानरूप है। जैसे कि (आकाश में जो श्वेत कुछ दिखा था) वह बगुला होना चाहिए, इस प्रकार का ज्ञान ईहा है।

अनंतर वही ईहाज्ञान अवाय हो जाता है। वह किस लक्षण वाला है ? विशेष निश्चय लक्षण वाला है अर्थात् आकांक्षित विषय का निर्णय हो जाना अवाय है। जैसे कि 'यह बगुला ही है।' यह ज्ञान निश्चयरूप है।

पुनः वही अवायज्ञान धारणा हो जाता है। उसका क्या लक्षण है ? वह स्मृति में हेतु है अर्थात् वह धारणा भूतकाल के पदार्थ के परामर्शरूप स्मृति का कारण है। यही संस्कार का लक्षण है जो कि कालांतर में भी विस्मरण न होना। मतलब कालांतर में भी नहीं भूलने रूप संस्कार ज्ञान को धारणा कहते हैं। इस प्रकार से यह मतिज्ञान सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहलाता है तथा अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के भेद से चार प्रकार का होता है और यह प्रत्येक इन्द्रिय से होता है, ऐसा जानना चाहिए।

भावार्थ— यहाँ दर्शन और मतिज्ञान का लक्षण तथा मतिज्ञान के चारों भेदों का लक्षण बतलाया गया है। इन्द्रियाँ अपने स्थान पर अवस्थित हैं तथा पदार्थ भी यथायोग्य अपने स्थान पर अवस्थित हैं। इन इन्द्रिय और पदार्थ के यथायोग्य अवस्थित रहने पर आत्मा में जो सत्तामात्र का—अस्तित्व मात्र का अवभास होता है, वह दर्शन है। वास्तव में यह इतना अव्यक्त है कि इसका उदाहरण नहीं दिया जा सकता है। अनंतर उसी आत्मा को किसी इन्द्रिय के अवलंबन से यह मालूम होता है कि 'यह है' तब आत्मा का वही दर्शन ज्ञानरूप परिणत हो जाता है। ऐसे ही वही-वही ज्ञान आगे-आगे विशेष-विशेष को ग्रहण करने से अगले-अगले नामों को प्राप्त कर लेता है अर्थात् जीव का लक्षण है उपयोग। उसके दो भेद हैं—दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग, ऐसा जानना चाहिए।

उत्थानिका— अब ज्ञान के भेद और प्रमाण तथा फल के व्यवहार को बतलाते हैं—

बह्वाद्यवग्रहाद्यष्टचत्वारिंशत्स्वसंविदाम्।।६।।
पूर्वपूर्वप्रमाणत्वं फलं स्यादुत्तरोत्तरम्।।

बहुरादिर्येषां ते बह्वादयोऽर्थविशेषाः। बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाः सप्रतिपक्षा द्वादश। तेषां प्रत्येकमवग्रहादयश्चत्वारोऽर्थग्रहणविशेषाः तेषामष्टचत्वारिंशत्। बह्वादिभिरवग्रहादयो गुणिता अष्टचत्वारिंशद्भेदा भवन्तीत्यर्थः। प्रतीन्द्रियमेतावद्भेदसम्भवात्। षड्भिर्गुणिता अर्थं प्रत्यष्टाशीत्युत्तरा द्विशती प्रतिपत्तव्या। व्यञ्जनं प्रति पुनरवग्रह एव। चक्षुर्मनोरहितैरिन्द्रियैर्बह्वादीनामष्टचत्वारिंशद्भेदास्तत्रेहादेरसम्भवात्। अव्यक्तस्य शब्दादिसमूहस्य व्यञ्जनत्वात्। तत्र बह्वादयो मनाङ्निरूप्यन्ते। बहुरनेकोऽर्थः यथा बहुजनः। तत्प्रतिपक्ष एको जनः। बहुविधो नानाजातिभिन्नः यथा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रा इति। तत्प्रतिपक्ष एकविधः यथा ब्राह्मणा इति। क्षिप्रं झटिति इदं ज्ञानस्य विशेषणम्। यथा एकसंस्थया ग्रहणम्। तद्विपक्षः शनैर्ग्रहणम्। अनिःसृतः संवृतो यथा जले पुष्करशेषमग्नो हस्ती। निस्सृतो विवृतः यथा सर्वोन्मग्नो हस्ती। अनुक्तोऽभिप्रायगतो यथाऽग्न्यानयने शरावादिः। उक्तः प्रतिपादितः यथा स्फुटमानयेति। ध्रुवमवस्थितं इदं च ज्ञानविशेषणम्।

अन्वयार्थ — (स्वसंविदां) स्वसंवेदन ज्ञानों में (बह्वाद्यवग्रहाद्यष्ट चत्वारिंशत्) बहु आदि बारह भेदों के अवग्रह आदि चार भेद होने से अड़तालीस भेद होते हैं। (इनमें) (पूर्वपूर्वप्रमाणत्वं) पूर्व-पूर्व के ज्ञान प्रमाण हैं और (उत्तरोत्तर) आगे-आगे के ज्ञान (फलं स्यात्) फल हैं।।६।। (१/२)

अर्थ — स्वसंवेदन ज्ञानों में बहु आदि बारह भेदों के अवग्रह आदि चार भेद होने से अड़तालीस भेद होते हैं। इनमें पूर्व-पूर्व के ज्ञान प्रमाण हैं और आगे-आगे के ज्ञान फल हैं।।६।। (१/२)

(मतिज्ञान के विशेष भेद)

तात्पर्यवृत्ति — बहु है आदि में जिनके वे बहु आदि अर्थ विशेष हैं। उनके बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुक्त, ध्रुव और इनके प्रतिपक्षी — अल्प, अल्पविध, अक्षिप्र, निःसृत, उक्त और अध्रुव ये बारह भेद हैं। इनमें प्रत्येक के अवग्रह आदि चार अर्थ विशेष को ग्रहण करने वाले होते हैं अतः उनके अड़तालिस भेद हो गये अर्थात् बहु आदि बारह से अवग्रह आदि चार को गुणित करने से अड़तालिस भेद हो जाते हैं। प्रत्येक इन्द्रिय के प्रति ये भेद संभव होने से इन्हें छह इंद्रियों से गुणा करने से अर्थ के प्रति दो सौ अठ्यासी भेद हो जाते हैं।

व्यंजन के प्रति अवग्रह ही होता है। चक्षु और मन से रहित चार इन्द्रियों से बहु आदि बारह को गुणित करने से अड़तालिस भेद हो जाते हैं क्योंकि व्यंजन में ईहा आदि असंभव हैं अर्थात् व्यंजनावग्रह के अड़तालिस भेद हो गये हैं। अव्यक्त शब्दादि समूह का व्यंजनावग्रह होता है।

(बहु आदि का लक्षण)

अब बहु आदि का किंचित् अर्थ कहते हैं।

'बहु' का अर्थ अनेक होता है। जैसे — बहुजन। उससे प्रतिपक्षी — उल्टे का एक अर्थ होता है जैसे एक जन। अनेक जाति से भिन्न-भिन्न को बहुविध कहते हैं। जैसे — बहुत से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। उससे विपरीत एकविध है जैसे — ब्राह्मण लोग। क्षिप्र — शीघ्रता यह ज्ञान का विशेषण है। जैसे — एक बार में ग्रहण करना। उससे विपरीत धीरे-धीरे ग्रहण करना अक्षिप्र है। प्रगट हुए को संवृत, अप्रगट को अनिःसृत कहते हैं। जैसे — जल में डूबे हुए हाथी की सूंड मात्र ऊपर है। इससे विपरीत प्रगट — खुले हुए को निःसृत कहते हैं। जल में हाथी पूरा निकला हुआ है। अभिप्राय से समझने को अनुक्त कहते हैं। जैसे — अग्नि के लाने में सकोरा आदि को

अध्रुवमनवस्थितं यथा भिन्नभाजनजलम्। अथवा ध्रुवः स्थिरः पर्वतादिः। अध्रुवः अस्थिरो विद्युदादिः। एतद्विषयत्वेनावग्रहादयो विशिष्यन्ते। एवं व्यञ्जनेऽपि योज्याः। तदेतदुभयसङ्कलने षट्त्रिंशदुत्तरा त्रिशती मतिज्ञानस्य भेदा भवन्ति। ननु बहिरर्थावलम्बनत्वेनैव ज्ञानस्य तद्भेदसम्भवात्कथं स्वव्यवसायात्मकमिति चेदुच्यते। स्वसंविदामिति। अत्रापिशब्दस्याध्याहारः कर्तव्यः। न केवलमर्थसंविदामेते भेदाः किन्तु स्वसंविदामपि अवग्रहादयो भवन्तीत्यर्थः। स्वस्य ज्ञानस्वरूपस्य संविद्वेदनं ज्ञानान्तरानपेक्षमनुभवनं येषां ते स्वसंविद इति व्याख्यानात्। न हि ज्ञानमस्वसंवेदनमर्थसंवेदनविरोधप्रसङ्गात्। स्वरूपस्य ज्ञानान्तरवेद्यत्वेऽनवस्थाप्रसङ्गात्। ततो ज्ञानं परोक्षमेवेति वदन्मीमांसकः, ज्ञानान्तरप्रत्यक्षमिति यौगाः, [१]चेतनमिति सांख्यः, पृथिव्यादिपरिणाम इति चार्वाकश्च प्रतिक्षिप्ताः। तन्मतस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणबाधितत्वात्। नन्ववग्रहस्य प्रमाणत्वे फलाभावः

बिना कहे ही समझ लिया। प्रतिपादित को उक्त कहते हैं। जैसे—स्पष्ट रीति से 'लाओ' ऐसा कहने पर लाना। अवस्थित रहने को ध्रुव कहते हैं यह ज्ञान का विशेषण है। अनवस्थित को अध्रुव कहते हैं। जैसे—फूटे बर्तन का जल। अथवा स्थिर पर्वत आदि ध्रुव हैं और बिजली आदि अस्थिर पदार्थ अध्रुव हैं। इनके विषय रूप से अवग्रह आदि विशिष्ट रूप होते हैं। इसी प्रकार से व्यंजन में भी लगा लेना चाहिए। अर्थावग्रह, ईहा आदि के २८८ भेद और व्यंजनावग्रह के ४८ भेद इन दोनों को जोड़ देने से मतिज्ञान के तीन सौ छत्तीस भेद हो जाते हैं।

भावार्थ—अवग्रह ज्ञान के दो भेद हैं—व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह। दर्शन के अनंतर जो शब्दादि का अव्यक्त ग्रहण होता है, वह व्यंजनावग्रह है। इसके आगे ईहा आदि नहीं होते हैं और यह अव्यक्त ज्ञान चक्षु और मन से भी नहीं होता है इसलिए अवग्रह को शेष चार इन्द्रियों से गुणने से १५४=४ भेद हुये। पुनः यह ज्ञान भी बहु आदि को विषय करता है अतः इससे बारह को गुणने से १२×४=४८ भेद हो जाते हैं। अनंतर व्यक्त—स्पष्ट को ग्रहण करने वाला अर्थावग्रह ज्ञान होता है। इसके आगे ईहा आदि भेद भी व्यक्त को ग्रहण करने वाले होते हैं। ये चारों ज्ञान बहु आदि को विषय करते हैं। अतः १२ को ४ से गुणित करके ६ इंद्रियों से गुणने से १२×४×६=२८८ भेद होते हैं। इनको जोड़ देने से २८८+४८=३३६ भेद हो जाते हैं। ये सब मतिज्ञान के भेद हैं।

(ज्ञान स्वसंवेदी भी हैं)

शंका—बाह्य पदार्थों के अवलंबन लेने से ही ज्ञान के ये भेद संभव हैं। अतः ज्ञान स्वव्यवसायात्मक—स्व को जानने वाला कैसे होगा ?

समाधान—ऐसी बात नहीं है। ये भेद स्वसंवेदन के होते हैं। कारिका में 'स्वसंविदाम्' पद है। पुनः यहाँ पर 'अपि' शब्द का अध्याहार करना चाहिए। तब ऐसा अर्थ निकलता है कि ये भेद केवल अर्थ संवेदन के ही नहीं है किन्तु स्वसंवेदन के भी अवग्रह आदि होते हैं। स्व—ज्ञानस्वरूप का, संविद—वेदन, भिन्न ज्ञानों की अपेक्षा न करके अनुभव होना जिनमें है वे ज्ञान स्वसंवेदन कहलाते हैं। यहाँ ऐसा व्याख्यान है।

ज्ञान अस्वसंवेदी नहीं है अन्यथा अर्थ के संवेदन का भी विरोध हो जावेगा। यदि आप ऐसा कहें कि ज्ञान अपने स्वरूप को दूसरे ज्ञान से जानता है, तब तो अनवस्था का प्रसंग आ जावेगा। इस कथन से 'ज्ञान परोक्ष है' ऐसा कहने वाले मीमांसक, 'ज्ञान ज्ञानांतर से प्रत्यक्ष है' ऐसा कहने वाले यौग, 'ज्ञान अचेतन है' ऐसा कहने वाले सांख्य और ज्ञान पृथ्वी आदि भूतचतुष्टय का परिणाम है ऐसा कहने वाले चार्वाक इन सभी का खंडन कर दिया गया है क्योंकि इन सबके मत प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित हैं।

भावार्थ—प्रश्न यह उठा था कि ये मतिज्ञान के बहु आदि की अपेक्षा करके अवग्रह आदि ज्ञान के

---

१. अचेतनमिति पाठ होना चाहिए।

प्रसज्यते इत्याशंक्याह—पूर्वपूर्वप्रमाणत्वं स्यात्, वीप्सायां द्विर्वचनम्। पूर्वपूर्वस्यावग्रहादेर्यथा प्रमाणत्वं स्यात्तथोत्तरोत्तरमीहादिकं साक्षात्फलं स्यादिति प्रमाणफलयोः कथञ्चिदभेदोपपत्तेः। सर्वथा तयोर्भेदेऽभेदे वाऽर्थक्रियानुपपत्तेः। विवक्षातः कारकप्रवृत्तिरिति न्यायात्। यदेव चिद्द्रव्यमनुगताकारमखण्डमन्वय-ज्ञानबलात्प्रसिद्धं तदेव पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणपरिणामेन परिणममानं व्यतिरेकज्ञानबलात्प्रति-पर्यायं भिन्नमनुभूयते इति प्रमाणफलव्यवहारोपपत्तेः। परम्पराफलं तु हानादिकं सर्वत्र साधारणमेव। तच्च प्रमाणत्वं ज्ञानस्याभ्यस्तविषये स्वतः सिद्ध्येत् तत्र ज्ञानान्तरानपेक्षणात्। अनभ्यस्तविषये तु परतः प्रमाणान्तरतः

---

३३६ भेद हुए हैं। ये सब भेद बहु आदि बाह्य पदार्थों की अपेक्षा से ही तो हुए हैं अतः ज्ञानत्व को जानने वाला नहीं है मात्र पर पदार्थों को ही जानने वाला है। इसका उत्तर देते हुए आचार्य ने कहा कि ये भेद पदार्थों को ग्रहण करने वाले ज्ञान के ही नहीं हैं किन्तु स्व को अनुभव करने वाले स्वसंवेदी ज्ञान के भी ये सभी भेद होते हैं क्योंकि ज्ञान स्व-पर प्रकाशी है। यदि ज्ञान अपने स्वरूप को नहीं जानता है तो वह परपदार्थों को भी नहीं जान सकेगा। इस पर नैयायिक ने कहा कि ज्ञान अपने स्वरूप को दूसरे ज्ञान से जानता है। तब आचार्य ने कहा कि ऐसी मान्यता में पुनः उस दूसरे ज्ञान के स्वरूप को तीसरे ज्ञान से जानेगा आदि। ऐसी व्यवस्था में तो अनवस्था आ जावेगी अतः ज्ञान को स्व परवेदी मानना उचित है।

मीमांसक परोक्ष ही है वह पदार्थ को जानता है किन्तु वह स्वयं किसी से नहीं जाना जाता है। यौग ज्ञान को दूसरे ज्ञान से वेद्य मानता है। सांख्य कहता है कि ज्ञान अचेतन है, वह प्रकृति—जड़ का परिणाम है। चार्वाक कहता है कि पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन भूतचतुष्टय से आत्मा बनती है और ज्ञान भी इन्हीं का परिणाम है। यहाँ पर ज्ञान को स्व पर को जानने वाला सिद्ध कर देने से इन सभी की मान्यता का निराकरण हो जाता है।

(प्रमाण का फल)

शंका— अवग्रह ज्ञान को प्रमाण मान लेने पर फल के अभाव का प्रसंग आ जाता है ?

समाधान— ऐसी बात नहीं है। क्योंकि पूर्व-पूर्व के ज्ञान प्रमाण हैं।

दो बार पूर्व शब्द का ग्रहण वीप्सा अर्थ में है। जिस प्रकार से पूर्व-पूर्व के अवग्रह आदि ज्ञान को प्रमाणता है, उसी प्रकार से उत्तर-उत्तर के ईहा आदि ज्ञान साक्षात् फल हो जाते हैं। इस प्रकार से प्रमाण और फल में कथंचित् अभेद है। यदि प्रमाण और उनके फल में सर्वथा भेद अथवा सर्वथा अभेद मान लिया जाय तो इनकी अर्थक्रिया नहीं हो सकेगी। विवक्षा से कारक की प्रवृत्ति होती है, ऐसा न्याय है।

जो चेतन द्रव्य, अन्वय ज्ञान के बल से अनुगताकार और अखंड प्रसिद्ध है। वही पूर्वाकार का परिहार, उत्तराकार की प्राप्ति और मूल स्वभाव की स्थिति लक्षण परिणाम से परिणमन करता हुआ व्यतिरेक ज्ञान के बल से प्रत्येक पर्यायों में भिन्न-भिन्न अनुभव में आता है। इस प्रकार से प्रमाण और फल का व्यवहार बन जाता है।

प्रमाण का परम्पराफल तो हान-उपादान आदि सर्वत्र साधारण ही है अर्थात् ज्ञान का फल है कि छोड़ने योग्य को छोड़ना और ग्रहण करने योग्य को ग्रहण करना तथा इन दोनों में विपरीत में उपेक्षा करना। सच्चे ज्ञान से हेय, उपादेय वस्तुओं को जानकर परम्परा से उनका त्याग आदि किया जाता है, यही परम्परा फल है।

वह ज्ञान की प्रमाणता—सच्चाई अभ्यस्त विषय में तो स्वतः सिद्ध है क्योंकि जाने हुए विषय में भिन्नज्ञान की अपेक्षा नहीं रहती है किन्तु अनभ्यस्त विषय में पर से—भिन्न प्रमाण से सिद्ध होती है क्योंकि

सिद्ध्येत् तत्रानुमानाद्यपेक्षणात्। न सर्वथा अतिप्रसङ्गादनवस्थानाच्च। ततो युक्तमुक्तं सांव्यवहारिकप्रत्यक्षमवग्रहादीति।।

अकलङ्कशशाङ्कैर्यद्विशदं प्रतिभासितम्।
प्रभाबलाददः सर्वे सौरी वृत्तिर्व्यनक्ति वः।।१।।

इत्यभयचन्द्रसूरिकृतौ लघीयस्त्रयतात्पर्यवृत्तौ स्याद्वादभूषण-सञ्ज्ञायां प्रत्यक्षपरिच्छेदः प्रथमः।।

जिस विषय को नहीं जानते हैं, उनमें अनुमान आदि की अपेक्षा करनी पड़ती है। सर्वथा पर से ही प्रमाणता हो ऐसी बात नहीं है अन्यथा अतिप्रसंग दोष आ जावेगा और अनवस्था दोष आ जावेंगे। इसलिए ठीक ही कहा है कि अवग्रह आदि सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष हैं।

भावार्थ—बात यह है कि प्रमाण फल वाला ही होना चाहिए और यहाँ पर अवग्रह ज्ञान प्रमाण है उसका फल आगे का ईहाज्ञान है। पुनः ईहा ज्ञान प्रमाण है तब उसका फल अवाय है, ऐसे ही आगे समझना। यह फल अपने प्रमाण से कथंचित् भिन्न है, कथंचित् अभिन्न। समीचीन जानना यह प्रमाण है और उसके 'उसी क्षण में अज्ञान का दूर होना तथा कालांतर में हेय-उपादेय का छोड़ना, ग्रहण करना, ये फल हैं। ये फल अपने लक्षण से, नाम से, कार्य से कथंचित् प्रमाण से भिन्न हैं तथा जिस आत्मा ने जाना है उसी के अज्ञान का अभाव हुआ है और उसी ने छोड़ा या ग्रहण किया है। इस दृष्टि से प्रमाण से उसका यह फल अभिन्न है। यह स्याद्वाद व्यवस्था है।

यह प्रमाण की सच्चाई का वर्णन जाने-बूझे विषयों में स्वतः हो जाता है। जैसे—कोई प्यासा मनुष्य अपने परिचित के कुएं से पानी भर लेता है। इसमें पानी है या नहीं इस बात को किसी से नहीं पूछता है तथा अपरिचित विषय में प्रमाण की सच्चाई पर से जानी जाती है। जैसे—अपरिचित स्थान में प्यासा मनुष्य अवश्य ही पास के कृषक आदि से पूछता है कि इस कुएं में जल है या नहीं। कोई कहते हैं कि प्रमाण की प्रमाणता पर से ही होती है, सो एकांत मान्यता गलत ही है।

श्लोकार्थ—जो अकलंक चन्द्रमा से विशद प्रतिभासित है, उस सभी को आप लोगों के लिए प्रभा के बल से सूरि की तात्पर्यवृत्ति व्यक्त कर रही है।।१।।

भावार्थ—भट्टाकलंक देव को यहाँ चन्द्रमा की संज्ञा दी है जैसे चन्द्रमा का निर्मल प्रतिभास होता है ऐसे ही भट्टाकलंकदेवरूपी चन्द्र के द्वारा प्रतिपादित प्रत्यक्ष प्रमाण का विशद लक्षण प्रतिभासित हो रहा है अर्थात् इन्होंने प्रत्यक्ष का लक्षण विशद किया है और उसका विशद—स्पष्टरूप से विवेचन किया है और प्रभाचंद्राचार्य ने इस लघीयस्त्रय की न्यायकुमुदचन्द्र नाम से टीका रची है। उस टीका रचना के मनन के अनन्तर श्री अभयचंद्रसूरि ने यह तात्पर्यवृत्ति बनाई है। यह सूरि द्वारा रचित तात्पर्यवृत्ति आप लोगों को इस प्रत्यक्ष प्रमाण का सभी अर्थ स्पष्ट कर रही है ऐसा यहाँ अभिप्राय है।

इस प्रकार से अभयचंद्रसूरि कृत लघीयस्त्रय की स्याद्वादभूषण नामक तात्पर्यवृत्ति में प्रत्यक्ष प्रमाण नाम का पहला परिच्छेद पूर्ण हुआ।

अथ द्वितीय परिच्छेदः

(प्रमाण विषय)

अथ प्रमाणस्य विषयविप्रतिपत्तिनिराकरणार्थमिदमाह—

तद्द्रव्यपर्यायात्मार्थो बहिरन्तश्च तत्त्वतः।।७।।

प्रमाणमित्यनुवर्तमानमत्र षष्ठ्यन्तमभिसम्बध्यते। अर्थवशाद्विभक्तिपरिणाम इति न्यायात्। अर्यते गम्यते ज्ञायते इत्यर्थो विषयो भवति। कस्य प्रमाणस्य। कः बहिरचेतनो घटादिः। न केवलं बहिः अपि तु अन्तश्च अन्तश्चेतन आत्मा च प्रमाणस्य स्वार्थव्यवसायात्मकत्वेन प्रतिपादितत्वात्। किंविशिष्टः द्रव्यपर्यायात्मा द्रव्यमन्विताकारः पर्यायश्च व्यावृत्ताकारस्तावात्मानौ स्वभावौ धर्मौ यस्या स तथोक्तः। कथं तत्त्वतः परमार्थतः न कल्पनयेत्यर्थः। कुतस्तत्कस्माद्धेतोः अर्थत्वान्यथानुपपत्तेरित्यर्थः। तथाहि प्रमाणार्थो जीवादिर्द्रव्यपर्यायात्मा प्रमाणार्थत्वात्। यो द्रव्यपर्यायात्मा न भवति स न प्रमाणार्थो यथा बन्धास्तनन्धयः। प्रमाणार्थश्च जीवादिस्तस्मात्

अथ द्वितीय परिच्छेद

(प्रमाण का विषय—प्रमेय का कथन)

उत्थनिका— अब प्रमाण के विषय के विसंवाद को दूर करने के लिए आगे कहते हैं—

अन्वयार्थ— (तत्त्वतः) परमार्थ से (तद्–द्रव्यपर्यायात्मा) उस प्रमाण का द्रव्य पर्यायात्मक (बहिः अंतः च) बहिरंग और अंतरंग पदार्थ (अर्थः) विषय है।।७।।

अर्थ— परमार्थ से उस प्रमाण का द्रव्य पर्यायात्मक बहिरंग और अंतरंग पदार्थ विषय है।।७।।

भावार्थ— प्रमाण और फलभूत अवग्रह आदि क्रम से होते हैं फिर भी उनमें तादात्म्य है और उसका विषय भी अभिन्न है इस बात को पहले कहा जा सकता है अब यहाँ उसी विषय को बतलाते हुए कहते हैं कि अंतरंग और बहिरंग रूप चेतन–अचेतन पदार्थ ही जिस प्रकार से वास्तव में प्रमाण के विषय हैं अथवा विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध ने अंतस्तत्व को प्रमाण का विषय माना है वैसे ही बाह्य वस्तु भी प्रमाण का विषय है यहाँ चकार को टीकाकार ने इव अर्थ में लिया है।

तात्पर्यवृत्ति— 'प्रमाणं' यह अनुवृत्ति में चला आ रहा है। यहाँ पर तद् शब्द से वह ग्रहण किया जाताहै उसमें षष्ठी विभक्ती का संबंध होता है तब 'तस्य प्रमाणस्य' ऐसा हो जाता है। जो 'अर्यतिगम्यते ज्ञायते'— जाना है उसे अर्थ कहते हैं, यह धातु से बना है। इस प्रकार से विषय को अर्थ कहते हैं। अचेतन घट,पटादि बाह्य पदार्थ और चेतन रूप अंतरंग उस प्रमाण के विषय हैं क्योंकि प्रमाण स्व और पर अर्थ को जानने वाला है ऐसा प्रतिपादित किया गया है।

(सभी पदार्थ द्रव्यपर्यायात्मक हैं)

अन्विताकार (यह वही है) द्रव्य और व्यावृत्ताकार (यह वह नहीं है) पर्याय है। ये द्रव्य और पर्याय जिसके स्वभाव—धर्म हैं वह द्रव्यपर्यायात्मक कहलाते हैं। चेतन–अचेतन सभी पदार्थ द्रव्य पर्यायात्मक ही होते हैं। वे परमार्थरूप से वैसे होते हैं न कि कल्पना मात्र से क्योंकि अन्यथारूप से अर्थ–पदार्थ हो नहीं सकते हैं। उसी का स्पष्टीकरण—

प्रमाण के विषयभूत जीवादि पदार्थ द्रव्य पर्यायात्मक हैं क्योंकि वे प्रमाण के विषय हैं। जो द्रव्य पर्यायात्मक नहीं होता है वह प्रमाण का विषय भी नहीं होता है। जैसे—बन्ध्या का पुत्र। और प्रमाण के विषय जीवादि हैं इसलिए वे द्रव्य पर्यायात्मक हैं। इस अनुमान वाक्य से प्रमाण के विषय जीवादि पदार्थ

द्रव्यपर्यायात्मेति। न खल्वेकान्ततो द्रव्यमेव पर्याय एव परस्परनिरपेक्षं तद्द्वयमेव वाऽर्थक्रियासमर्थं यतः प्रमाणविषयः स्यात्। तत्तदेकान्ते क्रमयौगपद्यविरहेणार्थक्रियानुपपत्तेः। तयोरनेकान्तेन व्याप्तत्वात्तद-भाव्यानुपपत्तेः। ताभ्यां चार्थक्रियाया व्याप्यत्वात्। तया च प्रमेयस्य व्याप्यत्वात्। व्यापकानुपलम्भः परम्परयाऽपि व्याप्याभावं साधयत्येव। व्याप्योपलब्धिर्वा व्यापकविधिं साधयति किं नश्चिन्तया। नन्वर्थक्रिया प्रमेयस्य कथं व्यापिकेति चेन्न। उत्पादव्ययध्रौव्यपरिणतिलक्षणार्थक्रियायामेव बहिरन्तर्वाऽर्थे प्रमाणप्रवृत्तेः। अन्यथा गृहीतग्राहित्वेन निर्विषयत्वेन च ज्ञानानामप्रामाण्यात् असत्त्वाच्च। न खलु तादृगर्थक्रियां विना सत्त्वं स्वप्नेप्युपलब्धम्। न ह्यसत्प्रमेयमतिप्रसङ्गात्। नन्वनेकान्तः क्रमयौगपद्ययोः कथं व्यापक इति चेन्न। पर्यायापेक्षया देशकालक्रमस्य द्रव्यापेक्षया च यौगपद्यस्य सम्भवात्। ननु वैशेषिकमते भेदैकान्ते द्रव्यपर्याययोः प्रमेयत्वमविरुद्धमेव। तथाहि द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः षट् पदार्था भावरूपाः। तत्र द्रव्यं नवविधं। गुणाश्चतुर्विंशतिः। कर्माणि पञ्च। सामान्यं द्विधा। विशेषा अनेके। समवाय एक इति। अभावरूपास्तु

द्रव्य पर्यायात्मक सिद्ध हो जाते हैं।

एकांत से द्रव्य ही अथवा पर्याय ही अथवा परस्पर में निरपेक्ष ये दोनों ही अर्थक्रिया में समर्थ नहीं हैं, जिससे कि वे प्रमाण के विषय हो जावें क्योंकि उस–उस एकांत में क्रम और युगपत् का अभाव होने से अर्थ–क्रिया नहीं हो सकती है। ये क्रम और युगपत् दोनों ही अनेकांत से व्याप्त हैं अतः अनेकांत के बिना नहीं हो सकते हैं।

इन क्रम युगपत् से अर्थक्रिया व्याप्य है और उस अर्थक्रिया से प्रमेय व्याप्य है तथा व्यापक का अभाव परम्परा से भी व्याप्य के अभाव को सिद्ध कर ही देता है। व्याप्य का सद्भाव व्यापक को सिद्ध करता है अतः हमें इसकी चिंता से क्या प्रयोजन है।

शंका—अर्थक्रिया प्रमेय से कैसे व्यापक है ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना। उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य की परिणतिरूप लक्षण वाली अर्थक्रिया में ही अथवा बहिरंग–अंतरंग पदार्थ में प्रमाण की प्रवृत्ति होती है अन्यथा गृहीत को ग्रहण करने वाले होने से सभी ज्ञान अप्रमाणीक हो जावेंगे और विषय रहित होने से असत् रूप हो जावेंगे क्योंकि उस प्रकार की अर्थक्रिया के बिना स्वप्न में भी अस्तित्व उपलब्ध नहीं होता है और असत् अभाव प्रमेय नहीं होता है।

शंका—अनेकांत क्रम और युगपत् में कैसे व्यापक है ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना। पर्याय की अपेक्षा से देश, काल का क्रम और द्रव्य की अपेक्षा से युगपत् संभव है अर्थात् सभी वस्तुओं में पर्याय की अपेक्षा से देश और काल का क्रम देखा जाता है और द्रव्य की अपेक्षा से अक्रम रहता है।

भावार्थ—अपने कार्य का करना अर्थक्रिया कहलाती है। जैसे—घट की जलधारण अर्थक्रिया है। ज्ञान की हेयोपादेय के त्याग और ग्रहणरूप अर्थक्रिया है। यहाँ यह बतलाया है कि केवल अकेला द्रव्य या मात्र स्वतंत्र पर्यायें या परस्पर में एक–दूसरे की अपेक्षा नहीं रखते हुए दोनों ही अर्थ में क्रिया को नहीं कर सकते हैं इसलिए प्रमाण के द्वारा जाने नहीं जा सकते हैं। पुनः यह बतलाया है कि एकांत में क्रम और अक्रम न होने से अर्थक्रिया नहीं है क्योंकि ये क्रम–अक्रम दोनों ही अनेकांत से व्याप्त हैं। (संबंध रखते हैं—अनेकांत के होने पर ही होते हैं) और इन क्रम–अक्रम से अर्थक्रिया व्याप्य है और उस अर्थक्रिया से प्रमेय–

चत्वारः प्रागभावप्रध्वंसाभावेतरेतराभावात्यन्ताभावा इति। सोऽयं सदसद्वर्गः परस्परमत्यन्तभिन्नः प्रमाणार्थ, इति चेन्न। अत्यन्तभेदे सम्बन्धानुपपत्तेः। समवायोऽस्तीति चेन्न तस्य सर्वसाधारण्येनानियामकत्वात्। यथैव हि ज्ञानादीनामात्मनि समवायस्तथा पृथिव्यादावपि तत्प्रसङ्गात्। किं च द्रव्याद्भिन्नानां गुणानामद्रव्यत्ववत् सत्तासामान्याद्भिन्नानां द्रव्यादीनामप्यसत्त्वं किं न स्यात् विशेषाभावात्। द्रव्यमनुगतस्वरूपं चेत्सामान्यमेव। व्यावृत्तस्वरूपत्वे तु विशेष एव। एवं गुणादिष्वपि योज्यमिति। पदार्थद्वैतप्रसङ्गश्च। नीरूपः प्रमाणार्थोऽनुपपन्न

प्रमाण का विषय व्याप्य है। 'व्यापकं तदतन्निष्ठं व्याप्यं तन्निष्ठमेव च' व्यापक तत् और अतत् दोनों में रहता है और व्याप्य तत् में ही निष्ठ रहता है। जैसे—वृक्षत्व ये व्यापक है नीम आदि सभी वृक्षों में है और नीम व्याप्य है वह उसी में रहता है।

व्यापकरूप वृक्षत्व का अभाव अपने व्याप्यरूप नीम के अभाव को ही सिद्ध करता है। यहाँ क्रम और अक्रम अनेकांत से व्याप्त है इसलिए अनेकांत व्यापक है और उनसे अर्थक्रिया व्याप्य है।

वैशेषिक—हमारे यहाँ द्रव्य और पर्याय में एकांत से भेद मानने पर भी उनका प्रमेय होना अविरुद्ध ही है। उसी का स्पष्टीकरण—

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय ये छह पदार्थ भावरूप हैं। इनमें द्रव्य के नव भेद हैं। गुण चौबीस होते हैं, कर्म पाँच हैं। सामान्य दो हैं, विशेष अनेक हैं और समवाय एक है। अभावरूप चार हैं—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, इतरेतराभाव और अत्यंताभाव। यह सत-असत् रूप पदार्थों का वर्ग परस्पर में अत्यंत भिन्न है और प्रमाण का विषय है।

भावार्थ—वैशेषिक के द्वारा मान्य छह पदार्थों में द्रव्य के नव भेद हैं। उनके नाम—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन। गुण के चौबीस भेद हैं। उनके नाम—रूप, रस, गंध, स्पर्श, संख्या, परिणाम, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार। कर्म के पाँच भेद हैं—उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रतारण और गमन। सामान्य के दो भेद हैं—पर सामान्य और अपर सामान्य। विशेष केवल नित्य द्रव्यों में रहता है और वह अनंत है। पूर्वोक्त नव द्रव्य और परमाणु नित्य माने गये हैं। समवाय एक ही है। अनेक भेदों को लिए हुये ये छहों पदार्थ अस्तित्व रूप हैं और प्रागभाव आदि चार प्रभाव के अभाव सर्वथा अभाव—नास्तित्व रूप हैं। ये द्रव्यगुण आदि परस्पर में, सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं, इस प्रकार के पदार्थों को प्रमाण जानता है। ऐसा वैशेषिक ने कहा है।

जैन—ऐसी मान्यता ठीक नहीं है। क्योंकि इन सभी में अत्यंत भेद होने पर संबंध नहीं बन सकता है।

वैशेषिक—इनमें समवाय संबंध पाया जाता है।

जैन—नहीं, वह समवाय सभी में साधारणरूप से रहने से नियामक नहीं है। जैसे ज्ञान आदि का आत्मा में समवाय होता है वैसे पृथ्वी आदि में भी ज्ञान के समवाय का प्रसंग हो जावेगा। दूसरी बात यह है कि जिस प्रकार से द्रव्य से भिन्न सभी गुण अद्रव्य हैं उसी प्रकार से सत्तासामान्य से भिन्न द्रव्य आदि का भी असत्व क्यों नहीं हो जाता है ? इसमें कोई अंतर नहीं है।

यदि आप कहें कि द्रव्य अनुगत स्वरूप है अर्थात् अन्वयरूप स्वरूप है। तब तो वह सामान्य ही है अर्थात् वही अन्वय स्वभाव ही तो द्रव्य होता है जो कि सत्सामान्य रूप से अस्तित्व सहित है। पुनः द्रव्य

एव। अन्यथा केशोण्डुकज्ञानादीनां निर्विषयाणामपि प्रामाण्यप्रसङ्गात्। अभावप्रमाणभावो विषयोऽस्तीति चेत् केशोण्डुकज्ञानेऽपि केशोण्डुकमविशेषात्। तत्र केशोण्डुकस्य कल्पितत्वान्मिथ्यात्वमिति चेदभावस्यापि नीरूपत्वान्मिथ्यात्वं किं न स्यात्। अतो दुराग्रहग्रहं परित्यज्य भावाभावात्मक एव कथञ्चित्प्रमाणार्थोऽनुमन्तव्यः। तन्न वैशेषिकमतं सुमतं दृष्टेष्टविरोधात्। अथ प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवाद-जल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानेषु षोडशपदार्थेषु नैयायिकमतेषु आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनः प्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गभेदात् द्वादशविधस्य प्रमेयत्वमुपपद्यत इति चेन्न। अन्नापि भेदैकान्ते सम्बन्धानुपपत्तेः। इंद्रियबुद्धिमनसामर्थोपलब्धिसाधनत्वेन प्रमेयत्वानुपपत्तेश्च। आत्मनश्च प्रमातृत्वात्, प्रमाता प्रमाणं प्रमेयं प्रमितिरित्यन्तर्भेदोपगमात्। संशयादीनामप्रमेयत्वे च व्यवस्थानुपपत्तेः। भेदैकान्ते सङ्ग्रहविरोधात्। प्रत्यक्षादीनामनन्तर्भावाच्च। तन्न षोडशपदार्थव्यवस्था सम्भवति।

सत्सामान्य से भिन्न कहाँ रहे ? यदि आप कहें कि द्रव्य व्यावृत्त स्वरूप है, तब तो वह व्यावृत्त स्वरूप भी (पररूप से नहीं होना) विशेष ही है अर्थात् अनुगतस्वरूप और व्यावृत्तस्वरूप कहो या सामान्यस्वरूप, विशेषस्वरूप कहो एक ही बात है, इनमें कुछ अन्तर नहीं है।

इसी प्रकार से गुणादि में भी लगा लेना चाहिए अन्यथा पदार्थद्वैत का प्रसंग आ जाता है।

(अभाव प्रमाण के विषय नहीं हैं)

नीरूप — स्वरूपरहित अभाव तो प्रमाण का विषय नहीं हो सकता है अन्यथा केश में मच्छर के ज्ञान आदि विषयशून्य ज्ञान भी प्रमाणीक हो जायेंगे।

वैशेषिक — अभाव प्रमाणभाव विषय है।

जैन — यदि ऐसा कहो तो केश में मच्छर के ज्ञान में भी केश में मच्छर का ज्ञान है। उसे भी प्रमाण का विषय मानो, क्योंकि दोनों जगह कोई अंतर नहीं है।

वैशेषिक — वहाँ केश में मच्छर की तो कल्पना मात्र है, इसलिए वह ज्ञान मिथ्यारूप है।

जैन — यदि आप ऐसा कहते हैं तब तो अभाव भी निःस्वभाव होने से वह मिथ्यारूप क्यों न हो जावे ? इसलिए दुराग्रह का ग्रहण छोड़कर कथंचित् भावाभावात्मक ही प्रमाण का विषय स्वीकार करना चाहिए अतः आप वैशेषिक का मत सुमत नहीं है क्योंकि उसमें प्रत्यक्ष और अनुमान से विरोध आता है।

(नैयायिकाभिमत भेदैकांत का खंडन)

नैयायिक — हमारे यहाँ प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टांत, सिद्धांत, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितंडा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह स्थान ये सोलह पदार्थ हैं। इन पदार्थों में आत्मा, शरीर, इंद्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग के भेद से बारह प्रकार का प्रमेय बन जाता है।

जैन — ऐसा नहीं मानना। यहाँ पर भी भेदैकांत में संबंध नहीं बनता है और इन्द्रिय, बुद्धि तथा मन की सामर्थ्य की उपलब्धि रूप साधन से प्रमेय नहीं हो सकता है तथा आत्मा प्रमाता है। प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमिति ये अंतर्भेद स्वीकार किये गये हैं।

संशय आदि को प्रमेय नहीं मानने पर व्यवस्था नहीं बन सकती। भेदैकांत पक्ष में संग्रह का विरोध है और प्रत्यक्ष आदि का अंतर्भाव हो भी नहीं सकता है इसलिए आपके द्वारा मान्य सोलह पदार्थ की व्यवस्था

तत्त्वचतुष्टयं प्रमेयं चार्वाकपरिकल्पितमत्यन्तभिन्नं युज्यत इति चेन्न। जीवतत्त्वस्य पञ्चमस्य सद्भावात्। तेषां परस्परतोऽत्यन्तभेदासम्भवाच्च। तत्त्वद्वयव्यवस्थानात्। पृथिव्यादिविकार एव चैतन्यं न तत्वान्तरमिति चेत् महदद्भुतमिदं यदत्यन्तविलक्षणयोर्भूतचेतनयोरभेदः सलक्षणानां च पृथिव्यादीनां भेद इति। संविल्लक्षणं हि चैतन्यं स्पर्शादिलक्षणानि भूतानीति भेदस्य स्पर्शादिमत्त्वेन तेषामभेदस्य च प्रतीतेः। नन्वस्तु भेदैकान्तेऽयं दोषः। अभेदैकान्ते द्रव्यपर्याययोः प्रमेयत्वं युक्तं भेदानामविद्याकल्पितत्वात्। अनवस्थानाच्च। न खलु भेदा अनन्ताः प्रमीयन्तेऽशक्यत्वात्। प्रत्यक्षेण हि निर्विशेषं प्रमीयते। कल्पना पुनस्तत्र भेदान् कल्पयति

संभव नहीं है।

भावार्थ—यौग के दो भेद हैं—वैशेषिक और नैयायिक। प्रायः इनकी मान्यतायें मिलती जुलती हैं। इन दोनों ने अपने माने हुए पदार्थों में परस्पर में सर्वथा भेद माना है पुनः उनमें समवाय से संबंध माना है किन्तु यह कल्पना बिल्कुल गलत है।

जैसे—जीव का ज्ञान गुण जीव से बिल्कुल भिन्न है किन्तु समवाय से उसका संबंध हो रहा है। इस पर आचार्यों का कहना है कि भाई! जीव और ज्ञान पहले अलग–अलग दिखे, फिर उन्हें अलग मानकर उनका संबंध करना चाहिए किन्तु ज्ञान के बिना जीव का, उष्णगुण के बिना अग्नि का अस्तित्व ही नहीं रह सकता है इसलिए द्रव्यगुण आदि को भिन्न ही मानना नितांत गलत सिद्धांत है।

(चार्वाक के भेदैकांत का खंडन)

चार्वाक—हमारे यहाँ पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये चार तत्त्व ही प्रमेय हैं और ये परस्पर में अत्यंत भिन्न हैं।

जैन—ऐसा नहीं है क्योंकि पाँचवे जीवतत्त्व का सद्भाव देखा जाता है और उन चार तत्त्वों में परस्पर में अत्यंत भेद असंभव है। अतः तत्त्व दो ही व्यवस्थित होते हैं अर्थात् जीव और पृथ्वी आदि अजीव ऐसे दो ही तत्त्व हैं।

चार्वाक—पृथ्वी आदि का विकार ही चैतन्य है किन्तु भिन्न तत्त्व नहीं है।

जैन—यह तो महान आश्चर्य है कि जो आप अत्यंत विलक्षणभूत चेतन में अभेद मान रहे हैं और सदृश लक्षण वाले पृथ्वी आदि में भेद कहते हैं। देखो! ज्ञान लक्षण वाला चैतन्य है। स्पर्श आदि लक्षण वाले भूतचतुष्टय हैं तथा चारों में भेद है फिर भी स्पर्शादि वाले होने से उन चारों में अभेद प्रतीत हो रहा है।

भावार्थ—चार्वाक पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इनको भूतचतुष्टय कहता है और इन चारों से ही आत्मा की उत्पत्ति मानता है तथा इन चारों में परस्पर में अत्यंत भेद स्वीकार करता है किन्तु जैनाचार्यों का कहना है कि मुख्यरूप से जीव और अजीव रूप से दो ही तत्त्व हैं। पृथ्वी, जलादि चारों ही अजीव तत्त्व हैं और चेतन आत्मा जीव तत्त्व है। चेतन का अचेतन से सर्वथा भेद है क्योंकि इनके लक्षण जुदे–जुदे हैं। चेतन का लक्षण है ज्ञान और अचेतन का लक्षण है स्पर्श, रस आदि और वैसा ही अनुभव आ रहा है इसलिए चार्वाक का मान्य भेदैकांत गलत है।

(ब्रह्माद्वैतवादी और ज्ञानाद्वैतवादी का खंडन)

अद्वैतवादी—भेदैकांत में ये दोष होवें, ठीक ही है किन्तु हमारे यहाँ अभेदैकांत में यह बात नहीं है। द्रव्य और पर्याय को सर्वथा अभिन्न—एकरूप ही मानने पर इनका प्रमेयरूप होना युक्त है क्योंकि भेद तो

ततोऽद्वैतमेव तत्त्वमिति ब्रह्माद्वैतिनो ज्ञानाद्वैतिनश्च मन्यन्ते। तदपि प्रमाणबाधितमेव। क्रियाकारकभेदाभावेऽर्थ-क्रियानुपपत्तेः। असत्त्वात् यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसदितिवचनात्। अद्वैतशब्दः स्वाभिधेयप्रत्यनीका-विनाभावी नञ्पूर्वाखण्डपदत्वादगौरित्यादिपदवदित्याद्यनुमानबाधितत्वाच्च। कर्मफलपरलोकादिभेदविरोधाच्च। किञ्चाद्वैतसिद्धिः साधनात्तद्विना वा ? यदि साधनात् द्वैतप्रसङ्गः साध्यसाधनयोर्भेदेन प्रवृत्तेः। तद्विनेति चेत् वाङ्मात्रेण सर्वं सर्वस्यापि यथेष्टं सिद्ध्यति। ततो नाद्वैतैकान्ते प्रमेयत्वं प्रमाणविरोधात्। ननु सांख्यपरिकल्पिते-ऽभेदैकान्ते प्रकृत्यादितत्त्वस्य प्रमेयत्वमुपपन्नं सर्वत्राविर्भावतिरोभाववशात्प्रधानपरिणाम-सम्भवादिति

अविद्या से कल्पित हैं और भेदों के मानने से अनवस्था भी आ जाती है।

अनंत भेद प्रमाण के द्वारा जाने नहीं जा सकते हैं क्योंकि अनंत का जानना अशक्य है। प्रत्यक्ष के द्वारा निर्विशेष भेद से रहित वस्तु ही जानी जाती है पुनः उसमें कल्पना ही भेदों को कल्पित कर देती है इसलिए अद्वैत ही तत्त्व है।

जैन—इस प्रकार से आप ब्रह्माद्वैतवादी और ज्ञानाद्वैतवादी दोनों की मान्यता प्रमाण से बाधित ही है। क्रिया और कारकरूप भेदों के अभाव में अर्थक्रिया नहीं हो सकती है क्योंकि वह असत् रूप है। 'यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसत्' जो अर्थक्रियाकारी है, वही परमार्थ सत् है ऐसा आप लोगों का ही कहना है।

'अद्वैत शब्द अपने वाक्य से विपरीत (द्वैत शब्द) का अविनाभावी है, क्योंकि वह नञ् समास पूर्व वाले अखंड पदरूप है जैसे कि 'अगौ' इत्यादि पद। इत्यादि रूप अनुमान वाक्य से आपका अद्वैत बाधित हो जाता है। कर्म, उसका फल और परलोक आदि भेदों का भी विरोध हो जाता है।

भावार्थ—अद्वैत शब्द अपने वाच्य अर्थ से विपरीत अर्थ को कहने वाले द्वैत शब्द के बिना नहीं हो सकता है। जैसे—जैन के बिना अजैन शब्द नहीं बनता है। क्योंकि इसमें नञ् समास हुआ है—"न जैनः अजैनः" जो जैन नहीं है वह अजैन है। "न द्वैतः अद्वैतः" जो द्वैत नहीं है वह अद्वैत है अर्थात् अद्वैत शब्द अपने विरोधी द्वैत के बिना नहीं होने से द्वैत के अस्तित्व को सिद्ध ही कर रहा है। उपर्युक्त प्रकार के अनुमान से भी अद्वैत सिद्ध नहीं होता है तथा जो कर्मफल परलोकादि रूप या ग्राम, नगर, चेतन, अचेतन आदि रूप से भेद दृष्टिगोचर हो रहे हैं, वे भी विरुद्ध हो जावेंगे।

दूसरी बात यह है कि आप इस अद्वैत को हेतु से सिद्ध करते हो या हेतु के बिना ही। यदि हेतु से कहो तो द्वैत का प्रसंग आ जाता है क्योंकि साध्य और साधन की भेद रूप से ही प्रवृत्ति होती है अर्थात् अद्वैत साध्य को सिद्ध करने वाला साधन हेतु कहलाता है पुनः साध्य और साधन दो चीज हो जाने से द्वैत हो ही गया। यदि आप कहें कि हेतु के बिना ही अद्वैत को सिद्ध करते हैं तब तो वचनमात्र से ही आप अद्वैत को सिद्ध कर रहे हैं पुनः वचनमात्र से सभी लोगों का सभी इष्ट तत्त्व यथेष्ट रूप से सिद्ध हो जावेगा अर्थात् सभी लोग वचनमात्र से अपने-अपने सिद्धांत को सिद्ध कर लेंगे इसलिए अद्वैत एकांत में प्रमेय-प्रमाण का विषय सिद्ध नहीं होता है क्योंकि प्रमाण से विरोध आता है।

(सांख्य द्वारा मान्य अभेदैकांत पक्ष का खंडन)

सांख्य—हमारे द्वारा मान्य अभेद एकांत में प्रकृति आदि तत्त्व प्रमेय बन जाते हैं क्योंकि सर्वत्र आविर्भाव-तिरोभाव के निमित्त से प्रधान का परिणाम संभव है।

चेत्तदप्यसङ्गतम्। अभेदैकान्ते खल्वाविर्भावतिरोभावयोरेवासम्भवात् कौतस्कुतः परिणामः। प्रकृतिपुरुषयोरपि भेदाभावप्रसङ्गात्। अर्थक्रियानुपपत्तेश्च। नह्यभेदैकान्तेऽर्थक्रिया सम्भवति क्रमाभावात्। तदेवं भेदैकान्तवद-भेदैकान्तेऽपि प्रमेयत्वस्यासम्भवात्तत्त्वतो द्रव्यपर्यायात्मकमेव चेतनाचेतनात्मकं प्रमेयमिति सुस्थितम्।

अथैकान्तेऽर्थक्रियाविरोधितामेव सुलक्षणं प्ररूपयति —

अर्थक्रिया न युज्येत नित्यक्षणिकपक्षयोः।
क्रमाक्रमाभ्यां भावानां सा लक्षणतया मता।।१।।

जैन — यह आपका कथन भी असंगत है क्योंकि अभेदरूप एकांत के मानने पर तो आविर्भाव और तिरोभाव ही असंभव है, पुनः किससे परिणाम होगा। प्रकृति और पुरुष के भी अभाव का प्रसंग आ जावेगा और अर्थक्रिया भी नहीं बन सकेगी। अभेदैकांत में अर्थक्रिया संभव ही नहीं है क्योंकि उसमें (अभेद में) क्रम का अभाव है।

इस प्रकार से भेदैकांत के समान अभेदैकांत में भी प्रमेयत्व का होना असंभव है इसलिए परमार्थ से चेतन-अचेतनरूप सभी प्रमेय द्रव्य पर्यायात्मक ही हैं, यह बात सुस्थित हो गई।

उपसंहार — कारिका के इस उत्तरार्ध में प्रमाण का विषय बतलाया गया है। आचार्य ने इस बात को स्पष्ट किया है कि परमार्थ से चेतन, अचेतन रूप सभी द्रव्य पर्यायस्वरूप हैं और वे ही ज्ञान के विषय हैं। सांख्य केवल द्रव्य को ही मानता है, बौद्ध केवल पर्याय को मानता है और यौगादि द्रव्य-पर्याय को मानकर भी इन्हें परस्पर में अत्यंत भिन्न मानते हैं। आचार्य ने इन्हें समझाया है कि इस एकांत से इस प्रकार केवल द्रव्य या केवल पर्याय अथवा परस्पर में निरपेक्ष दोनों ही ज्ञान के विषय नहीं होते हैं। इनमें क्रम और अक्रम के न होने से अर्थ क्रिया असंभव है और अर्थक्रिया के बिना ज्ञान के विषय नहीं हो सकते हैं। चूँकि क्रम से युगपत् से कार्य आदि का होना अनेकांत में ही संभव है इसलिए अनेकांतात्मक वस्तु ज्ञान से जानी जाती है।

इतना कहने के अनंतर वैशेषिक ने और नैयायिक ने कहा कि हम लोगों ने द्रव्य और पर्याय में सर्वथा भेद माना है फिर भी वे ज्ञान से जाने जाते हैं। आचार्य ने कहा कि यह तुम्हारा कथन गलत है। पहले तो तुम्हारे द्वारा मान्य द्रव्य, गुण आदि परस्पर में भिन्न सिद्ध ही नहीं होते हैं। क्या कहीं उष्णत्व के बिना अग्नि का अस्तित्व दिख रहा है ? अतः जब तुम्हारे मान्य तत्त्व ही सिद्ध नहीं हैं तब वे ज्ञान के विषय कैसे हो सकेंगे।

चार्वाक ने भी अपने द्वारा मान्य भूतचतुष्टय को तो भिन्न मान करके उन्हें प्रमाण का विषय चाहा किन्तु आचार्य ने उसके मान्य भूतचतुष्टय को तो एक अजीव तत्त्व कह करके चेतन तत्त्व को अलग सिद्ध कर दिया और समझाया कि जब तुम्हारी मान्यता ही गलत है, तब तुम्हारे मान्य तत्त्व ज्ञान से कैसे जाने जायेंगे।

ब्रह्माद्वैतवादी ने और ज्ञानाद्वैतवादी ने तथा सांख्य ने एकांत से सभी तत्त्वों में अभेद सिद्ध करना चाहा किन्तु आचार्य ने स्पष्ट बतला दिया कि न तो अद्वैत तत्त्व ही सिद्ध है और न प्रकृति पुरुष का एकत्व ही सिद्ध है अतः अभेदैकांत के मान्य तत्त्व भी ज्ञान के विषय नहीं हैं प्रत्युत् द्रव्य पर्यायात्मक पदार्थ ही प्रमाण के विषय हैं, ऐसा समझना।

उत्थानिका — एकांत में अर्थक्रिया का विरोध ही है, इसी बात को और स्पष्ट करते हैं —

अन्वयार्थ — (नित्यक्षणिकपक्षयोः) नित्य और क्षणिक पक्ष में (अर्थ क्रिया न युज्येत) अर्थक्रिया घटित नहीं होती है, (सा) क्योंकि वह अर्थक्रिया (भावानां) पदार्थों में (क्रमाक्रमाभ्यां) क्रम और यौगपद्य के

अर्थस्य कार्यस्य क्रिया करणं निष्पत्तिर्न युज्येत न युक्तिमधिरोहेत्। केषां भावानां चेतनाचेनतपदार्थानां। काभ्यां क्रमाक्रमाभ्यां क्रमो देशकालव्याप्तिः अक्रमश्च यौगपद्यं ताभ्यां तावाश्रित्येत्यर्थः। कयोः नित्यक्षणिकपक्षयोः नित्यपक्षः सर्वथा कौटस्थ्यपरिग्रहः। क्षणिकपक्षस्तु सर्वथाऽनित्याभिनिवेशः तयोर्द्वयोरपि। तथाहि न खलु कूटस्थनित्यस्य क्रमेण कार्यकरणमुपपन्नं सर्वकार्याणामेककार्योत्पादनकाले एव तस्योत्पादनसामर्थ्यात् सहकारिसान्निध्यस्याकिञ्चित्करत्वात्। तदा तत्करणसामर्थ्याभावे नित्यत्वहानिप्रसङ्गात्। असमर्थस्वभावपरित्यागेन समर्थस्वभावोपादानेन च परिणममानस्यैवानित्यत्वात्। नापि यौगपद्येन, पूर्वसमये कृतकृत्यत्वेन तस्योत्तरसमयेष्वर्थक्रियाविरहात् असत्त्वप्रसंगात् स्वभावनानात्वप्रसङ्गाच्च। न ह्येकेनैव स्वभावेनानेककार्यकरणं युक्तमतिप्रसङ्गात् कार्याभेदप्रसङ्गाच्च। सहकारिवैचित्र्यात्कार्यवैचित्र्यमित्यप्ययुक्तं

द्वारा (लक्षणतया मता) लक्षणरूप से मानी गई है।।१।।

अर्थ — नित्य और क्षणिक पक्ष में अर्थक्रिया घटित नहीं होती है क्योंकि वह अर्थक्रिया भावों — पदार्थों में क्रम यौगपद्य के लक्षण से मानी गई है।।१।।

तात्पर्यवृत्ति — कार्य को 'अर्थ' कहते हैं और 'क्रिया' का अर्थ है करना या निष्पन्न होना। चेतन-अचेतन पदार्थों को 'भाव' कहते हैं। 'क्रम' देश और काल से व्याप्त है, युगपत् को अक्रम कहते हैं। वस्तु को सर्वथा कूटस्थ मानना नित्य पक्ष है, सर्वथा अनित्य का दुराग्रह क्षणिक पक्ष कहलाता है। अभिप्राय यह हुआ कि नित्य और क्षणिक पक्ष में अर्थक्रिया असंभव है क्योंकि पदार्थों में क्रम-अक्रम का होना ही अर्थक्रिया है।

(नित्यपक्ष में अर्थक्रिया का अभाव)

कूटस्थ नित्य में क्रम से कार्य करना बन नहीं सकता है। एक कार्य के उत्पादन काल में ही सभी कार्यों का उत्पादन कर देने की सामर्थ्य नित्य में पायी जाती है। उसमें सहकारी कारणों का मिलना भी अकिंचित्कर है। सहकारी कारण के बिना कार्यों को करने की सामर्थ्य का अभाव होने पर तो नित्यपने की हानि का प्रसंग आ जाता है क्योंकि असमर्थ स्वभाव का परित्याग और समर्थ स्वभाव को ग्रहण करके परिणमन करने वाले को ही तो अनित्य कहते हैं।

भावार्थ — जैसे मिट्टी को सर्वथा कूटस्थ नित्य कहने पर तो पहली बात यह है कि उस मिट्टी से कुछ कार्य नहीं होगा। यदि आप जबरदस्ती मानें भी तो मिट्टी से एक घड़ा बनते ही उसी समय संपूर्ण मिट्टी से सारे घड़े बन जावेंगे तथा सहकारी कारण दंड, चाक, कुंभार आदि की भी आवश्यकता नहीं रहेगी क्योंकि सर्वथा नित्यस्वभाव में ये कारण क्या परिवर्तन कर सकेंगे। यदि आप कहें कि सहकारी चक्र, कुंभार आदि कारणों के बिना घट को करने की सामर्थ्य मिट्टी में नहीं है, तब तो पूर्व के असमर्थ स्वभाव का त्याग करके और उत्तर के समर्थ स्वभाव को ग्रहण करके परिणत हुए को ही तो अनित्य कहा जाता है पुनः तुम्हारा नित्य एकांत पक्ष कहाँ रहा ?

इस नित्यपक्ष में युगपत से भी कार्य होना संभव नहीं है। पूर्व समय में कृतकृत्य होने से वह नित्य पदार्थ उत्तर समयों में भी कार्य करने से रहित है। पुनः अर्थक्रिया के बिना उसके अभाव का प्रसंग आ जाता है और स्वभाव में भी अनेक प्रकारता आ जाती है क्योंकि एक स्वभाव से ही अनेक कार्यों का होना युक्त नहीं है अति प्रसंग हो जाता है और कार्य में अभेद — एकत्व का भी प्रसंग आ जाता है।

सांख्य — सहकारी कारण के अनेक प्रकार होने से ही कार्य अनेक प्रकार के होते हैं।

स्वभावमभिन्दतां सहकारित्वानुपपत्तेः। ततः क्रमयौगपद्यविरहादर्थक्रियाविरहः सिद्ध एव सर्वथानित्यपक्षे इति तस्यासत्त्वमेवेत्यर्थः।

व्यापकानुपलम्भस्य व्याप्याभावं प्रति गमकत्वात्।
क्षणिकस्यापि न क्रमेण कार्यकारित्वं देशकालक्रमस्य तत्रासम्भवात्।।
यो यत्रैव व तत्रैव यो यदैव तदैव सः।
न देशकालयोर्व्याप्तिर्भावानामिह विद्यते।।१।।

जैन—यह कहना भी गलत है। जो स्वभाव में भेद करने वाले नहीं हैं उन्हें सहकारी कारण ही नहीं कहा जा सकता है इसलिए सर्वथा नित्यपक्ष में क्रम और अक्रम का अभाव होने से अर्थक्रिया का अभाव सिद्ध ही है अतः नित्य पदार्थ का अभाव ही है यह बात सिद्ध हो गई क्योंकि व्यापक का अभाव व्याप्य के अभाव को बतला ही रहा है।

भावार्थ—सांख्य ने कहा कि सभी पदार्थ कूटस्थ नित्य हैं तब आचार्य ने कहा इस नियम से पक्ष में अर्थ क्रिया—कार्य के करने का अभाव रहा तब उन पदार्थों का अस्तित्व कैसे सिद्ध होगा। कार्य का करना मान भी लीजिए तो यह प्रश्न उठता है कि वह नित्य पदार्थ कार्य करने में समर्थ है या असमर्थ ? यदि समर्थ है तो एक साथ ही सारे कार्य हो जावेंगे और सहकारी कारणों की अपेक्षा भी नहीं रखेंगे क्योंकि वह नित्य पदार्थ हमेशा ही समर्थ स्वभाव वाला है। यदि आप कहें कि सहकारी के मिलने पर ही कार्य होते हैं तब तो तुम्हारा नित्य पदार्थ कार्य करने में स्वयं समर्थ नहीं रहा। सहकारी कारण मिलने पर पूर्व के असमर्थ स्वभाव को छोड़कर समर्थ स्वभाव को ग्रहण करने से वह नित्य कहाँ रहा ? अनित्य ही हो गया। नित्यपक्ष में क्रम से अर्थक्रिया मानने पर ये दोष आते हैं।

यदि आप नित्य पदार्थ में युगपत् अर्थक्रिया मानें तो एक समय में ही सारे कार्य हो जाने से आगे कुछ कार्य नहीं होगा अथवा आगे–आगे कार्य करने में अनेकों स्वभाव मानने पड़ेंगे क्योंकि एकस्वभाव अनेक समयों में अनेक कार्य करे यह संभव नहीं है। आप कहें कि सहकारी कारणों में भेद होने से कार्यों में भेद दिखता है तब तो सहकारी कारण नित्य के स्वभाव में भेद करता है अतः पदार्थ की नित्यता नहीं टिकती है और यदि स्वभाव में भेद नहीं करता है तो वह सहकारी कारण ही नहीं कहलायेगा क्योंकि जो कुछ सहायता करे वही तो सहकारी कारण है अतः नित्यपक्ष में क्रम–अक्रम से अर्थक्रिया का अभाव है।

(क्षणिकपक्ष में भी अर्थक्रिया असंभव है)

क्षणिक एकांत पक्ष में भी क्रम से कार्य करना नहीं बन सकता है क्योंकि उसमें देश और काल के क्रम का अभाव है।

श्लोकार्थ—जो जहाँ पर है वह वहीं पर है, जो जिस काल में है वह उसी काल में है। पदार्थों की देशकाल में व्याप्ति नहीं है, ऐसा उन्होंने कहा है अर्थात् सर्वथा क्षणिकपक्ष में कोई भी पदार्थ एक क्षण ही टिकता है अनंतर क्षण में नष्ट हो जाता है अतएव वह जिस देश में रहेगा, वहीं उसी क्षण में नष्ट हो जायेगा, दूसरे क्षण टिकेगा ही नहीं पुनः अन्यत्र जायेगा कैसे ? वैसे जिस समय है उसी समय रहेगा, दूसरे क्षण में समाप्त हो जाता है। तब देश काल से उसकी व्याप्ति कैसे बनेगी ?

अन्यथा यदि व्याप्ति मानोगे तो क्षणिकपने का विरोध हो जावेगा।।१।।

इति वचनात्।। अन्यथा क्षणिकत्वविरोधात्। सन्तानापेक्षया क्रमोऽस्तीति चेन्न। तस्यावस्तुत्वात्। किञ्च संतान एव कार्यकारी स्वलक्षणं वा स्यात् ? आद्यपक्षे तस्यैव वस्तुत्वात् किं क्षणिकवस्तुकल्पनया। द्वितीयपक्षे तु संतानस्यावस्तुत्वात्तदपेक्षं क्रमेण कार्यकारित्वमप्यवास्तवं स्यात्। तृतीयपक्षे कथञ्चिन्नि-त्यानित्यात्मकत्वं वस्तुन आयातम्। तन्न क्रमेण कार्यकारित्वं क्षणिकस्य। नापि यौगपद्येन विभ्रमप्रसङ्गात्। कारणकाल एव कार्यस्योत्पत्तेस्तत्कार्यस्यापि तदैवोत्पत्तेरिति। ननु मा भून्नित्यक्षणिक-पक्षयोरर्थक्रिया का नो हानिरित्याशंक्याह—सेत्यादि—साऽर्थक्रिया ज्ञप्त्युत्पत्तिलक्षणा भावानां सद्भूतानामर्थानां। लक्षणतया लक्ष्यते ज्ञायते अनेनेति लक्षणं लिङ्गमित्यर्थः। तस्य भावो लक्षणता तया लिङ्गत्वेन मता सकलास्तिकैरभ्युपगता व्यापकत्वात्। व्यापकानुपलम्भश्च नित्यक्षणिकपक्षयोर्व्याप्यस्य सत्त्वस्य निषेधं साधयतीति भावः। तथैवाख्यानात्। सत्त्वं हि प्रत्यक्षसिद्धं बहिरन्तश्च स्वव्यापिकामर्थक्रियां गमयति। साऽपि ध्रौव्योत्पादव्य-यपरिणतिलक्षणा क्रमयौगपद्ये स्वव्यापके ज्ञापयति। ते च स्वव्यापकमनेकान्तं साधयतः। तद्विरुद्धं च सर्वथैकान्तं निषेधयत इति भावः। तत उत्पादव्ययध्रौव्यपरिणामवत एवार्थक्रियासम्भवाद्द्रव्य-पर्यायात्मा प्रमाणविषय इति सुस्थितम्।।

बौद्ध—हमारे यहाँ संतान की अपेक्षा से क्रम माना गया है।

जैन—यह बात ठीक नहीं है। वह संतान तो अवस्तु है। दूसरी बात यह है कि संतान ही कार्यकारी है अथवा स्वलक्षण कार्यकारी है। प्रथम पक्ष में संतान को कार्य करने वाला मानने से तो वही वस्तु (वास्तविक) हो जावेगी पुनः क्षणिकवस्तु की कल्पना से क्या प्रयोजन रहा ?

द्वितीय पक्ष में—स्वलक्षण को कार्य करने वाला मानने पर तो संतान के अवस्तु होने से उसकी अपेक्षा रखने वाले स्वलक्षण का क्रम से कार्य करना भी अवास्तविक हो जावेगा। यदि आप तीसरा पक्ष लेते हैं अर्थात् न संतान कार्य करता है न स्वलक्षण किन्तु तीसरा ही कोई कार्य करता है, ऐसा मानने पर तो कथंचित् नित्यानित्यात्मक वस्तु ही आ जाती है क्योंकि उन दो के सिवाय तीसरी चीज तो यही है और कुछ नहीं है, पुनः आप जैन हो जाते हैं। इसलिए क्षणिक में क्रम से कार्य करना नहीं घटता है।

इसमें युगपत् भी अर्थक्रिया संभव नहीं है क्योंकि विभ्रम का प्रसंग आ जाता है। कारण के काल में ही कार्य की उत्पत्ति हो जावेगी और उसके कार्य की भी उसी काल में उत्पत्ति हो जावेगी।

शंका—नित्य और क्षणिकपक्ष में अर्थक्रिया न होवे, तो न सही, क्या हानि है ?

समाधान—वह क्रिया भाव—सद्भूत पदार्थों की वह अर्थक्रिया ज्ञप्ति और उत्पत्ति लक्षण से जानी जाती है। चिन्ह को लक्षण कहते हैं। उस लक्षण के भाव को लक्षणता कहते हैं। सभी आस्तिक लोगों ने इसी लक्षण—चिन्ह रूप से उस अर्थक्रिया को स्वीकार किया है क्योंकि वह सभी पदार्थों में व्यापक है तथा व्यापक का अभाव नित्य और क्षणिकपक्ष में व्याप्य जो अस्तित्व है उसके निषेध को सिद्ध कर देता है, यहाँ यह अभिप्राय है क्योंकि उसी प्रकार का कथन किया गया है।

प्रत्यक्ष से सिद्ध बहिरंग और अंतरंग पदार्थ अस्तित्व अपने में व्यापक अर्थक्रिया को बतलाता है। वह उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य परिणति लक्षण वाली अर्थक्रिया भी अपने में व्यापक क्रम और युगपत् का ज्ञान कराती है। वे क्रम-युगपत् अपने में व्यापक अनेकांत को सिद्ध करते हैं और क्रम-युगपत् से विरुद्ध सर्वथा एकांत का निषेध कर देते हैं, यह अभिप्राय हुआ इसलिए उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य परिणाम वाली ही अर्थक्रिया के संभव होने से द्रव्य पर्यायात्मक (वस्तु) प्रमाण का विषय है, यह बात सुस्थित हो गई।

ननु कथमेकस्यानेकाकारव्यापित्वमेकार्थक्रियाकारित्वं च अनेकत्वे वा कथमेकत्वं विरोधात् इति प्रत्यवस्थामवह[१]स्तयन् अनेकांते विरोधाभावं दर्शयति—

नाभेदेऽपि विरुध्येत विक्रियाऽविक्रियैव वा।।

नैव विरुध्येत प्रत्यक्षादिना न बाध्यते। का विक्रिया विशेषेण कालभेदेने क्रिया पूर्वोत्तराकार-परिहारावाप्तिस्थितिलक्षणपरिणतिः। न केवलं विक्रिया, अपित्वविक्रिया वा युगपदनेकाकारव्याप्तिलक्षणाऽपि नैव विरूध्येत। क्व अभेदेऽपि कथंचित् द्रव्यार्थिकनयापेक्षया विवक्षितेऽभेदेऽन्वयेऽनुगताकारेऽपि। तदपेक्षया वस्तुधर्माणामव्यतिरेकात् यदेव हि मृदेकद्रव्यं पिण्डाद्याकारपरिणतं तदेव तमाकारं परिहरत् घटाकरमुत्तरमा-स्कंदत्प्रतीयते। न च प्रतीयमाने विरोधः शक्यः कल्पयितुं तस्यानुपलम्भसाध्यत्वात्। अपिशब्दाद्भेदेऽपीत्या-क्षिप्यते। कथंचित् पर्यायार्थिकनयविवक्षया भेदे व्यतिरेकेऽपि द्रव्यपर्याययोरर्पिते क्रमयौगपद्ये न विरूध्येते यतोऽर्थक्रिया विरुध्येत। पूर्वाकारनिवृत्तावेवोत्तरपर्यायप्रादुर्भावात्। अन्यथा संकरादिदोषप्रसंगात्। तदेवं

भावार्थ—इस कारिका की टीका में इस बात को स्पष्ट किया कि सर्वथा नित्य अथवा सर्वथा क्षणिक पक्ष में क्रम या अक्रम दोनों प्रकार से कार्य होना संभव नहीं है इसलिए अनेकांतात्मक द्रव्य पर्यायस्वरूप पदार्थ ही ज्ञान से जाने जाते हैं।

उत्थानिका—एक में अनेकाकार को व्याप्त करके रहना और अनेक अर्थक्रिया को करना कैसे है ? अथवा अनेकत्व में एकत्व कैसे होगा ? क्योंकि विरोध आता है। इस प्रकार की आशंका को निवारण करते हुए श्री भट्टाकलंक देव अनेकांत में विरोध के स्वभाव को दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(अभेदे अपि) अभेद के होने पर भी (विक्रिया) विविध प्रकार की क्रिया (न विरुध्येत) विरुद्ध नहीं है, (वा अविक्रिया एव) अथवा अविक्रिया भी विरुद्ध नहीं है।। (१/२)

अर्थ—अभेद में भी विविध प्रकार की क्रिया विरुद्ध नहीं है अथवा अविक्रिया भी विरुद्ध नहीं है।। (१/२)

भावार्थ—वस्तु में या ज्ञान में एकत्व मानने पर भी परिणमन पाया जाता है। पूर्व आकार का परित्याग और अपने मूल स्वभाव को न छोड़ते हुए उत्तराकार की प्राप्ति इसी को विक्रिया, विकार या परिणाम कहते हैं।

तात्पर्यवृत्ति—वि—विशेष अर्थात् काल के भेद से जो क्रिया होती है वह विक्रिया कहलाती है। वह पूर्वाकार के परिहार, उत्तराकार के ग्रहण और स्थितिलक्षण परिणत रूप है। कथंचित् द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से विवक्षित अन्वयरूप—अनुगताकार को अभेद कहते हैं। वह विक्रिया इस द्रव्यार्थिक नय से विवक्षित अभेद में भी प्रत्यक्षादि से बाधित नहीं होती है। केवल विक्रिया नहीं किन्तु युगपत् अनेकाकार में व्याप्ति लक्षण अविक्रिया विरुद्ध नहीं है क्योंकि द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से वस्तु के धर्मों में अभेद है, जो ही मिट्टीरूप एक द्रव्य पिंड आदि आकार से परिणत हुआ है, वही द्रव्य उस पिंडादि आकार को छोड़ते हुए और आगे के घट के आकार को प्राप्त करते हुए प्रतीति में आ रहा है और प्रतीति में आने वाले विषय में विरोध की कल्पना करना शक्य नहीं है, क्योंकि वह विरोध अभाव से सिद्ध होता है।

कारिका में जो 'अपि' शब्द है, उससे भेद में भी विक्रिया विरुद्ध नहीं है, यह भी अर्थ ग्रहण किया जाता है। कथंचित् पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से भेद में भी द्रव्य और पर्याय को अर्पित—विवक्षित करने से क्रम और युगपत् विरुद्ध नहीं हो सकते हैं कि जिससे अर्थक्रिया का विरोध हो सके अर्थात् नहीं हो सकता है

---

१. 'अपहस्त'–पाठः संभवति।

कथंचिद्भेदाभेदात्मकं नित्यानित्यात्मकं सदसदात्मकं च तत्त्वमभ्युपगंतव्यम्। तत्रैवार्थक्रियासंभवनादन्यथा विरोधात्।

एतदेवानेकान्तात्मकत्वं वस्तुनः सौगताभिप्रेतचित्रज्ञानदृष्टान्तबलेन समर्थयते—

मिथ्येतरात्मकं दृश्यादृश्यभेदेतरात्मकं।।४।।
चित्तं सदसदात्मैकं तत्त्वं साधयति स्वतः।।

विज्ञानवादिनो बौद्धा एवमभिमन्यंते—ज्ञानं बहिराकारविषयत्वेन मिथ्या स्वरूपालंबनत्वेनामिथ्या। स्वरूपापेक्षयाऽदृश्यं ग्राह्याकारापेक्षया दृश्यं। ग्राह्याग्राहकाकारापेक्षया भेदः संवेदनापेक्षया चाभेद इति। एवं मिथ्यामिथ्यात्मकं दृश्यादृश्यात्मकं भेदाभेदात्मकं च चित्तं ज्ञानं स्वतः स्वरूपेण साधयति ज्ञापयति।

क्योंकि पूर्व के आकार का विनाश होते ही उत्तर पर्याय उत्पन्न हो जाती है अन्यथा यदि ऐसा नहीं मानोगे तो संकर आदि दोषों का प्रसंग आ जावेगा इसलिए तत्त्व को कथंचित् भेदाभेदात्मक, नित्यानित्यात्मक और सदसदात्मक स्वीकार करना चाहिए। उसी में अर्थक्रिया संभव है अन्यथा ऐसा नहीं मानने से विरोध आता है।

भावार्थ—कारिका के इस पूर्वार्ध की टीका में आचार्य ने यह स्पष्ट किया है कि प्रत्येक वस्तु अनंत धर्मात्मक है। द्रव्यार्थिक नय की विवक्षा से उस वस्तु के सभी धर्म गौण हो जाते हैं और तब सभी वस्तुएं एक अभेद रूप ही रहती हैं और पर्यायार्थिकनय से द्रव्य गौण हो जाता है और उसके अनेकों धर्म दिखते हैं अर्थात् द्रव्यार्थिक नय वस्तु के अभेदरूप (द्रव्य) को ग्रहण करता है और पर्यायार्थिक नय वस्तु की भेदरूप (पर्यायों) को ग्रहण करता है। अतः अभेद में भी क्रम से और युगपत् कार्य होने रूप अर्थक्रिया पायी जाती है तथा भेद में भी क्रम और युगपत् से अर्थक्रिया पायी जाती है इसलिए तत्त्व भेदाभेदस्वरूप आदि रूप ही है।

उत्थानिका—वस्तु के इसी अनेकांत स्वरूप का सौगत के द्वारा मान्य चित्रज्ञान के दृष्टांत के बल से समर्थन करते हैं—

अन्वयार्थ—(मिथ्येतरात्मकं) असत्य सत्यात्मक, (दृश्यादृश्ये) दृश्य और अदृश्यरूप तथा (भेदेतरात्मकं) भेद और अभेदरूप (चित्तं) ज्ञान (स्वतः एकं तत्त्वं) स्वतः एक तत्त्व को (सदसदात्मकं) सत् असत् रूप (साधयति) सिद्ध कर देता है।।४।। (१/२)

अर्थ—आपका असत्य सत्यात्मक, दृश्यादृश्यात्मक तथा भेदाभेदात्मक चित्त ज्ञान स्वतः ही एक तत्त्व को सदसदात्मक सिद्ध कर देता है।।४।। (१/२)

भावार्थ—कोई बौद्ध कहते हैं कि ज्ञान बहिर्मुखाकार से मिथ्या है किन्तु सच्चेतन आदि आकार से सत्य है तो उन्होंने भी ज्ञान में सत्य-असत्य ऐसे दो स्वभाव स्वीकार कर लिये हैं, दूसरे कहते हैं कि ग्राह्य—ग्रहण करने योग्य आकार से उस ज्ञान में भेद है अर्थात् ज्ञान में ग्राह्य-ग्राहक ऐसी दो अवस्थाएं हैं किन्तु उसमें वह भेद प्रतिभासित होने पर भी प्रतिभासित नहीं होता है क्योंकि भ्रांति हो रही है, तीसरे कहते हैं कि ज्ञान ग्राह्य, ग्राहक संवेदनात्मक होने से भेदाभेदात्मक है तब आचार्य ने कहा भाई! आपके द्वारा मान्य इस प्रकार का ज्ञान तो स्वतः जीवादि तत्त्व को भावाभावात्मक सिद्ध कर देता है।

तात्पर्यवृत्ति—विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध इस प्रकार मानते हैं—

ज्ञान बाह्य वस्तु के आकार के विषयरूप से मिथ्या है और स्वरूप के अवलंबनरूप से अमिथ्या—सच्चा है। वही ज्ञान ग्राह्य आकार की अपेक्षा से दृश्य है और स्वरूप की अपेक्षा से अदृश्य है। ग्राह्य ग्राहक आकार की अपेक्षा से भेदरूप है और संवेदन की अपेक्षा से अभेदरूप है।

किं तत्त्वं जीवाजीवादि। किं विशिष्टं सदसदात्म सत्सत्त्वं असदसत्त्वं ते आत्मानौ स्वभावौ यस्य तत्तथोक्तं। ननु द्रव्यादिसदात्मकं प्रागभावादि चासदात्मकं भिन्नमेव तत्त्वं द्वयमेव सिद्धमिति। तद् व्यवच्छेदार्थमाह—एकमभिन्नं प्रमाणादेशादेकमपि द्रव्यपर्यायार्थादेशात्सदसदात्मकं जीवादि तत्त्वं प्रसिद्धं प्रमाणबलाच्चित्र-ज्ञानवदित्यर्थः। यतश्चित्रज्ञानमेकमपि मिथ्येतराद्यनेकात्मकमविरुद्धं तद्वज्जीवाद्यपि सदसदात्मकम-विरुद्धमुपलंभात्। एवमेकानेकात्मकं नित्यानित्यात्मकं च वस्तु न्यायबलादनुमंतव्यमुत्पादव्ययध्रौव्य-पीरणतिलक्षणार्थक्रियान्यथानुपपत्तेरिति भावः। अतो विरोधाभावाद्वैयधिकरण्यमपि निराकृतमेव। एकाधिकरणत्वेन सदसदादिधर्माणामुपलब्धेः। ननु येन रूपेण सत्त्वं तेन सत्त्वासत्त्वयोरनेकांतात्प्रसंगः संकर इति चेन्न। अर्पणाभेदात्। स्वरूपाद्यर्पणया सत्त्वस्यैव पररूपाद्यर्पणया चासत्त्वस्यैव विधानात्। प्रमाणार्पणयैवोभयात्मकत्वप्रतिपादनात्। एतेन व्यतिरेकोऽप्यनेकांते निरस्तः। स्वद्रव्यादिविवक्षयाऽ-सत्त्वस्याप्रतिपादनात्।। स्यान्मतं—सत्त्वासत्त्वयोर्वस्तुनो भेदाभेदात्मकत्वात्तयोरपि ततोऽपर-भेदात्मकत्व[१]-कल्पनायामनवस्थाप्रसंगादिति। तदेतदविचारितवचनं। द्रव्यार्थिकनयविवक्षया हि वस्त्वभेदात्मकं प्रतिपाद्यते। अभेदश्च द्रव्यमेव, न च तस्यापरं द्रव्यांतरं रूपमस्ति। पर्यायार्थिकनयविवक्षया तु भेदात्मकं। भेदश्च पर्याय

इस प्रकार मिथ्या-अमिथ्यारूप, दृश्य-अदृश्यरूप और भेद-अभेदरूप ज्ञान अपने स्वरूप से जीव-अजीवादि तत्त्व को सत् असत् रूप सिद्ध कर देता है।

वैशेषिक—द्रव्यादि सत् रूप और प्रागभाव आदि असत् रूप ये भिन्न होने से दो ही तत्त्व सिद्ध हैं।

जैन—प्रमाण की अपेक्षा से तत्त्व अभिन्न—एक है फिर भी द्रव्य और पर्याय की अपेक्षा से सत्-असत् रूप जीवादि तत्त्व प्रसिद्ध है। यह बात प्रमाण के बल से सिद्ध है, चित्रज्ञान के समान। जिस हेतु से चित्रज्ञान एक होते हुए भी मिथ्या-अमिथ्या आदि अनेक रूप अविरुद्ध है। उसी प्रकार से जीवादि भी बिना विरोध के सत्-असत् रूप उपलब्ध हो रहे हैं। इसी प्रकार वस्तु को न्याय के बल से एकानेकात्मक और नित्यानित्यात्मक स्वीकार करना चाहिए क्योंकि उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य परिणति लक्षण अर्थक्रिया का अन्य प्रकार से अभाव है। इस प्रकार विरोध के अभाव से वैयधिकरण्य दोष का भी निराकरण हो ही जाता है क्योंकि एक अधिकरणरूप से सत्-असत् आदि धर्मों की उपलब्धि हो रही है।

शंका—जिस रूप से अस्तित्व है उसी रूप से अस्तित्व-नास्तित्व दोनों का अनेकांत होने से संकर दोष का प्रसंग आता है ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि अर्पणा—विवक्षा से भेद है। स्वरूप आदि की अर्पणा से अस्तित्व का ही और पररूपादि की अर्पणा से नास्तित्व का ही विधान है। प्रमाण की अर्पणा से ही उभयात्मक का प्रतिपादन किया जाता है। इसी कथन से अनेकांत में व्यतिरेक दोष का भी निराकरण कर दिया गया है क्योंकि स्वद्रव्यादि की विवक्षा से असत्त्व का प्रतिपादन नहीं किया जाता है।

शंका—वस्तु से सत्त्व-असत्त्व का भेदाभेद है पुनः सत्त्व और असत्त्व का वस्तु से भेदाभेद होने से पुनः उन सत्त्व-असत्त्व का उस वस्तु से अन्य एक भेदाभेद कल्पित करने पर अनवस्था का प्रसंग आता है।

समाधान—बिना समझे ही आपका यह कथन है। देखो! द्रव्यार्थिकनय से वस्तु निश्चित ही अभेदरूप प्रतिपादित की जाती है और द्रव्य को ही अभेद कहते हैं, उस द्रव्य में अन्य कोई द्रव्यांतर रूप नहीं है किन्तु पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से वह वस्तु भेदरूप है। वह भेद पर्याय ही है और उस पर्याय में अन्य पर्यायांतर रूप नहीं है कि जिससे

---

१. परभेदाभेदा—पाठ प्रतीत होता है।

एव, न चास्यान्यत्पर्यायांतरं रूपं येनानवस्था स्यात् आदेशवशात्। प्रतिनियतधर्मव्यवस्थानात्। प्रमाणविवक्षया हि वस्त्वनेकांतात्मकं तत्रानवस्थानस्याप्यदोषत्वात्। मूलक्षतेरभावात्। व्यवहारोपयोगि स्वरूपं हि मूलमुच्यते। तच्च द्रव्यं पर्यायस्तदात्मकं वस्तु वा तत्तन्नयप्रमाणप्राधान्यात्सिद्धं व्यवहाराय कल्पते इति। वस्तुन्यनंतधर्माणां व्यवहारानुपयोगात् यतस्तदनवस्था दोषाय स्यात्। ज्ञातृशक्तिवैकल्याच्चानवस्थानं वस्तुधर्माणां तत्साकल्यं तु कस्यचित्सर्वं सुस्थितमेव सकलप्रमाणप्रमेयप्रञ्चव्यापित्वात्तज्ज्ञानस्य। तन्नानवस्थादोषोऽनेकांते संभवति। ननु वस्तुन्यनेकांतात्मनि इदमित्थमिति निर्णयाभावात् संशयः स्याद्यतस्तत्सत्त्वसिद्धिरिति चेन्न। नयार्पणायां सदेव सर्वं स्वरूपादिचतुष्टयापेक्षया। असदेव सर्वं पररूपादिचतुष्टयापेक्षयेति निर्णयसद्भावात्। असदारोपो हि संशयो नाम नायमनेकांतोऽसन् प्रमाणसिद्धत्वात्। यत उभयात्मकग्रहणं संशयः स्यात्तन्न वस्तुनो भावः प्रकल्पेत निर्णीतस्य भावात्मकत्वात्। ततो विरोधादिदोषरहितमनेकांतात्मकमेकाशीतिविकल्पं वस्तु स्थित्युत्पादव्ययात्मकत्वादवगंतव्यं। भूतभवद्भाविकालभेदात्प्रत्येकं स्थित्यादीनां त्रिविधत्वेन नव भेदाः। तथाहि स्थितं तिष्ठति स्थास्यति। उत्पन्नं उत्पद्यते उत्पत्स्यते। नष्टं नश्यति नंक्ष्यतीति। तत्परिणामानां

अनवस्था आ सके क्योंकि आदेश के वश से (नयों की अपेक्षा से) प्रतिनियत धर्मों की व्यवस्था होती है।

प्रमाण की अपेक्षा से वस्तु अनेकांतात्मक है उसमें अनवस्थान भी दोष नहीं है, क्योंकि मूल की क्षति—हानि का अभाव है। व्यवहारोपयोगी स्वरूप को ही मूल कहते हैं। वह द्रव्य पर्याय अथवा तदात्मक द्रव्य पर्यायात्मक वस्तु उस-उस नय अथवा प्रमाण की प्रधानता से सिद्ध हुई व्यवहार के लिए मानी जाती है। वस्तु में अनंत धर्मों के व्यवहार का उपयोग तो हो नहीं सकता कि जिससे उनकी अनवस्था दोष के लिए हो सके अर्थात् उन अनंत धर्मों का अनवस्था दोष के लिए नहीं है। ज्ञाता के शक्ति की विकलता (कमी) होने से वस्तु के धर्मों का अनवस्थान होता है अर्थात् जानने वाले में शक्ति की कमी होने से वस्तु के अनंत धर्मों की व्यवस्था नहीं बन सकती है। यह अव्यवस्था—अनवस्थादोष के लिए नहीं है किन्तु किसी जीव में उन धर्मों की सभी सकलता—परिपूर्णता सुस्थित ही है अर्थात् केवली भगवान उन सभी वस्तु के अनंत-अनंत धर्मों को जानते ही हैं इसलिए उनके ज्ञान में उन धर्मों की व्यवस्था होने से अनवस्था नहीं है क्योंकि वह ज्ञान संपूर्ण प्रमाण और प्रमेय के विस्तार में व्याप्त होकर रहता है अतः अनेकांत में अनवस्था दोष संभव नहीं है।

शंका—अनेकांतात्मक वस्तु में 'यह इस प्रकार है' ऐसे निर्णय का अभाव होने से वह संशय अनेकांत रूप है क्योंकि उस संशयरूप ही उसका अस्तित्व सिद्ध है।

समाधान—ऐसा नहीं कहना। नय की विवक्षा करने पर स्वरूपादिचतुष्टय—स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा से सभी सत्रूप ही हैं। पररुपादिचतुष्टय—परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव की अपेक्षा से सभी असत् रूप ही हैं। इस प्रकार से निर्णय का सद्भाव है तथा प्रमाण की अर्पणा करने पर सभी अनेकांतात्मक हैं, ऐसा भी निर्णय होता है।

असत् आरोप को संशय कहते हैं और यह अनेकांत असत्रूप नहीं है क्योंकि प्रमाण से सिद्ध है। जिस कारण से वह उभयात्मक को ग्रहण करने वाला संशय होता है उस कारण से वह वस्तु का भाव—स्वभाव नहीं माना जा सकता है क्योंकि निर्णीत वस्तु ही भावात्मक—सत्रूप होती है इसलिए विरोध आदि दोषों से रहित अनेकांतात्मक वस्तु को उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक होने से इक्यासी भेदों से सहित समझना चाहिए।

भूत, वर्तमान और भविष्यत् काल के भेद से प्रत्येक स्थिति आदि के तीन भेद होने से नव भेद हो जाते हैं। जैसे—ठहरा था, ठहरता है, ठहरेगा। उत्पन हुआ था, उत्पन्न होता है, उत्पन्न होगा। नष्ट हुआ था, नष्ट

स्थितत्वादीनां नवानामपि प्रत्येकं स्थितादिनवप्रकारसम्भवादेकाशीतिविकल्पोपपत्तेः। तदेवं सुस्थितो बहिरन्तश्च प्रमाणार्थो द्रव्यपर्यायात्मेति।।

अकलंकप्रभाव्यक्तं प्रमेयमखिलं पुनः।
पश्यंति मादृशाः किं न प्रबुद्धाः शुद्धदृष्टयः।।१।।

इत्यभयचंद्रसूरिकृतौ लघीयस्त्रयतात्पर्यवृत्तौ स्याद्वादभूषण-संज्ञायां प्रमाणविषयपरिच्छेदो द्वितीयः।।२।।

होता है और नष्ट होगा, ये नव भेद हुए। तीन काल के परिणामरूप स्थिति आदि नव भेदों में भी प्रत्येक के ठहरा था, ठहरा है, ठहरेगा, इत्यादि नव प्रकार संभव होने से इक्यासी भेद बन जाते हैं, इसलिए यह बात सुस्थित हो गई कि चेतन–अचेतन पदार्थ प्रमाण के विषय हैं और वे द्रव्यपर्यायात्मक हैं।

भावार्थ—आचार्य बौद्ध से कहते हैं कि जैसे आपने चित्रज्ञान को एक कहा है और उसको सत्य असत्यरूप आदि उभयात्मक भी माना है, आप तो हमारे पड़ोसी हैं। आपके इस चित्रज्ञान के सदृश ही हमारे यहाँ सभी वस्तुएँ अभिन्न एकरूप भी हैं और भावाभावात्मक नित्यानित्यात्मक आदि रूप भी हैं। पुनः कहते हैं कि जो वस्तु नित्य है वही अनित्य है, द्रव्यार्थिक नय से तो नित्य है और पर्यायार्थिक नय से अनित्य है इसलिए अनेकांत में विरोध दोष नहीं है। एक ही जीवादि आधार में अनेकों सत्–असत्, नित्य–अनित्य आदि धर्म एक साथ रहते हैं अतः वैयधिकरण्य दोष भी नहीं है। जिस रूप से एक वस्तु में सत् धर्म है उसी रूप से सत्–असत् दोनों धर्म आ जावें तो संकर दोष आ जावे सो भी बात नहीं है। स्वरूपादि से ही असत् धर्म माना जावे तो व्यतिकर दोष आता है सो भी नहीं है ऐसे ही अनवस्था और संशय आदि दोष इस अनेकांत में संभव नहीं हैं।

अनंतर यह बतलाया है कि जो विरोध आदि दोषों से रहित, अनेकांतस्वरूप वस्तु है उसके उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप होने से इक्यासी भेद हो जाते हैं। एक उत्पाद में तीन काल की अपेक्षाउत्पाद, व्यय, ध्रौव्य घटित करने से ३×३=९ भेद हो जाते हैं पुनः इन नव भेदों में से प्रत्येक में तीन काल की अपेक्षा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य घटित करने से ९×९=८१ भेद हो जाते हैं। ऐसे अनेकांतात्मक चेतन–अचेतन पदार्थ ही ज्ञान से जानेजाते हैं और वे द्रव्यपर्यायात्मक ही हैं क्योंकि द्रव्य पर्याय को छोड़कर नहीं रहता है और पर्याय द्रव्य को छोड़कर नहीं रहती है। यहाँ खास बात यह ध्यान रखने की है कि प्रमाणरूप ज्ञान अनेकांतात्मक वस्तु को विषय करता है और नय वस्तु के एक–एक अंश को विषय करते हैं। जैसे—द्रव्यार्थिकनय द्रव्य को और पर्यायार्थिकनय पर्याय को विषय करते हैं।

श्लोकार्थ—अकलंक—निर्दोष प्रभा से व्यक्त अखिल प्रमेय को पुनः प्रबुद्ध हुए, शुद्ध दृष्टि वाले मुझ जैसे लोग क्या नहीं देखते हैं ? अर्थात् देखते ही देखते हैं।।१।।

यहाँ पर श्लेषालंकार है। निर्दोष वीतराग की वाणी से व्यक्त अखिल प्रमेय को अथवा श्री भट्टाकलंक देव के द्वारा रचित कारिका से और श्रीप्रभाचंद्राचार्य कृत टीका से स्पष्ट ऐसे सम्पूर्ण प्रमेय को मुझ जैसे प्रबुद्ध हुए सम्यग्दृष्टी लोग क्या नहीं देख सकते हैं ? अर्थात् श्री अभयचंद्रसूरि का ऐसा अभिप्राय है कि जब अकलंकदेव ने इस ग्रंथ में बढ़िया प्रमेय का वर्णन किया है और पुनः प्रभाचंद्राचार्य ने न्यायकुमुदचंद्र टीका से उसे और भी सरल कर दिया है तो क्या हम जैसे लोग उसके अर्थ को नहीं समझ सकेंगे ? अवश्य ही समझ लेंगे।

इस प्रकार श्री अभयचंद्रसूरि कृत लघीयस्त्रय की स्याद्वादभूषण संज्ञक तात्पर्यवृत्ति में 'प्रमाणविषय' नाम वाला द्वितीय परिच्छेद पूर्ण हुआ।

तृतीय परिच्छेद

(परोक्ष प्रमाण)

अथेदानीं परोक्षस्य कारणभेदप्ररूपणामाह—

ज्ञानमाद्यं मतिस्संज्ञा चिंता चाभिनिबोधनं।।

प्राङ्नामयोजनाच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात्।।१।।

शेषं यदविशदं परोक्षमित्युक्तं तदित्यर्थः। कतिधा स्मृतिः संज्ञा चिंता आभिनिबोधकं श्रुतं चेति चशब्देन स्मृतेः समुच्चयात्। एतच्च पंचविधं परोक्षं नामयोजनात्प्राक् शब्दप्रयोगात् पूर्वमुत्पद्यत इत्यध्याहारः। चशब्दो भिन्नप्रक्रमत्वेनात्रापि संबध्यते। न केवलमेवमपि तु शब्दानुयोजनाच्च शब्दोच्चारणाच्च समुत्पद्यते इत्यर्थः। तस्य कारणमाह—मतिः मतिसंज्ञं ज्ञानं सांव्यवहारिकप्रत्यक्षमाद्यं कारणमित्यर्थः। तत्र धारणाब[१]लोद्-भूताऽतीतार्थविषया तदिति परामर्शिनी स्मृतिः। न स्मृतिः प्रमाणं गृहीतग्राहित्वादिति चेन्न। तद्विषयस्यातीताकारस्य प्रत्यक्षादिनाऽगृहीतत्वात्। असति प्रवृत्तेः स्मृतेरप्रामाण्यमित्यप्यचारु। देशादिविशेषेण सत एव ग्रहणात्

तृतीय परिच्छेद

(परोक्ष प्रमाण)

उत्थानिका— अब इस समय परोक्ष प्रमाण के कारण और भेद को कहते हैं।

अन्वयार्थ— (ज्ञानं मतिः) मतिज्ञान, (संज्ञा चिंता च आभिनिबोधिकं) संज्ञा, चिंता और आभिनिबोधिक ज्ञान (नामयोजनात् प्राङ्) नाम योजना से पहले (आद्यं) आदि के सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष हैं और (शब्दानुयोजनात्) शब्द योजना होने पर (श्रुतं शेषं) श्रुत हैं अतः परोक्ष हैं।।१।।

अर्थ— जो अविशद परोक्ष प्रमाण है उसमें ज्ञान—मतिज्ञान आद्य कारण है। उसके स्मृति, संज्ञा, चिंता, आभिनिबोधक और श्रुत ऐसे पाँच भेद होते हैं। ये नाम योजना के पहले उत्पन्न होते हैं। केवल इतना ही नहीं, ये शब्दोच्चारण से भी होते हैं। यहाँ चकार से स्मृति का ग्रहण है।।१।।

तात्पर्यवृत्ति— जो अविशद परोक्ष ज्ञान है वह 'शेष' शब्द से कहा गया है। उसके कितने भेद हैं ? स्मृति, संज्ञा, चिंता, आभिनिबोधक और श्रुत ये पाँच भेद हैं। कारिका के 'च' शब्द से स्मृति का ग्रहण किया गया है। ये पाँच प्रकार का परोक्ष ज्ञान शब्द प्रयोग के पूर्व उत्पन्न होता है। इस प्रकार 'उत्पद्यते' क्रिया का अध्याहार किया गया है।

केवल इसी प्रकार नहीं किन्तु शब्दोच्चारण से भी होता है। 'च' शब्द भिन्न प्रकरण रूप से यहाँ भी संबंधित किया जाता है।

उस ज्ञान की उत्पत्ति के कारण को कहते हैं—मतिसंज्ञक सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष ज्ञान आद्य—कारण है। उसमें धारणा के बल से उत्पन्न हुई अतीत अर्थ को विषय करने वाली 'तत्–वह' इस शब्द की परामर्शिनी स्मृति है।

प्रश्न— स्मृति प्रमाण नहीं है क्योंकि गृहीत को ग्रहण करने वाली है ?

उत्तर— नहीं ! तत् यह अतीताकार विषय प्रत्यक्ष आदि से गृहीत नहीं है।

प्रश्न— 'असत्' (अर्थ) में प्रवृत्त होने से स्मृति में प्रमाणता नहीं है ?

उत्तर— यह कथन भी सुन्दर नहीं है। वह स्मृति देश आदि के विशेष से सत् को ही ग्रहण करती है

---

१. द्

सर्वथाऽसत्त्वानुपपत्तेः। अन्यथा प्रत्यक्षविषयस्याप्यसत्त्वप्रसंगात्। ततः स्मृतिः प्रमाणं प्रत्यभिज्ञानप्रामाण्यान्यथानुपपत्तेः। किं पुनः प्रत्यभिज्ञानमिति चेदुच्यते। प्रत्यक्षस्मृतिहेतुकं संकलनमनुसंधानं प्रत्यभिज्ञानं संज्ञा। यथा स एवायं देवदत्तः, गोसदृशो गवयः, गोविलक्षणो महिषः, इदमस्मादल्पं, इदं महत्, इदमस्माद् दूरं, इदमस्मात्प्रांशु, वृक्षोऽयमित्यादि पूर्वोत्तराकारव्यापिनो द्रव्यस्य तद्विषयस्य दर्शनस्मरणाभ्यामगृहीतत्वात्। तर्कप्रमाणान्यथानुपपत्तेश्च प्रत्यभिज्ञानं प्रमाणं। अन्यथा दत्तग्रहादिसकलव्यवहारविलोपापत्तेः। कः पुनस्तर्क इति चेदुच्यते। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां व्याप्तिज्ञानं दर्शनस्मरणाभ्यामगृहीतप्रत्यभिज्ञाननिबंधनं तर्कः चिंता, यथाऽग्नौ सत्येव धूमस्तदभावे न भवत्येवेति।।

नन्वविनाभावस्य प्रत्यक्षेणानुमानेन वा निर्णयात्किमिति तर्काख्यं प्रमाणांतरं परिकल्पितमित्याशंकायामाह—

अविकल्पधिया लिंगं न किंचित्संप्रतीयते।
नानुमानादसिद्धत्वात् प्रमाणांतरमांजसं।।२।।

क्योंकि सर्वथा असत् की अनुपपत्ति (अभाव) है इसलिए 'स्मृति प्रमाण है' क्योंकि प्रत्यभिज्ञान के प्रमाणता की अन्यथा अनुपपत्ति है अर्थात् स्मृति को प्रमाण माने बिना प्रत्यभिज्ञान की प्रमाणता सिद्ध नहीं हो सकती है।

प्रश्न—पुनः वह प्रत्यभिज्ञान क्या है?

उत्तर—प्रत्यक्ष और स्मृतिहेतुक जोड़रूप—अनुसंधान ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। इसी का नाम संज्ञा है। जैसे—यह वही देवदत्त है, गाय के सदृश रोझ है, गाय से विलक्षण महिष है, यह इससे अल्प है, यह बहुत है, यह इससे दूर है, यह इससे पास है, यह वृक्ष है इत्यादि। पूर्वोत्तराकार में व्यापी, 'तत्' को विषय करने वाला द्रव्य दर्शन और स्मरण के द्वारा गृहीत नहीं है और इस प्रत्यभिज्ञान के बिना तर्क प्रमाण के नहीं हो सकने से यह प्रत्यभिज्ञान प्रमाण है। अन्यथा देना-लेना आदि संपूर्ण व्यवहार समाप्त हो जावेगा।

प्रश्न—तर्क क्या है ?

उत्तर—अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा जो व्याप्ति का ज्ञान है, वह तर्क है। वह दर्शन-स्मरण के द्वारा अगृहीत प्रत्यभिज्ञान में कारण है। उसे चिंता भी कहते हैं। जैसे—अग्नि के होने पर ही धूम होता है उसके अभाव में नहीं होता है।

भावार्थ—यहाँ पर अविशद लक्षण वाले परोक्ष ज्ञान के पाँच भेद बताये हैं और यह बताया है कि ये पाँचों ज्ञान शब्द प्रयोग के पहले उत्पन्न होते हैं। पुनः कहा है कि केवल इतनी ही बात नहीं है किन्तु ये ज्ञान शब्दोच्चारण से भी उत्पन्न होते हैं। अनंतर सांव्यवहारिक मतिज्ञान को स्मृति में कारण बतलाया है। वह स्मृति प्रत्यभिज्ञान में कारण है और प्रत्यभिज्ञान तर्कज्ञान में कारण है ऐसा सिद्ध किया है तथा स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क इन तीनों को प्रमाणीक सिद्ध किया है।

उत्थानिका—अविनाभाव का प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से निर्णय हो जाता है। पुनः तर्क नाम के एक भिन्न प्रमाण को क्यों आपने कल्पित किया है ? ऐसी आशंका होने पर आचार्य कहते हैं—

अन्वयार्थ—(अविकल्पधिया) निर्विकल्प ज्ञान से (किंचित् लिंगं न प्रतीयते) कुछ हेतु लिंग प्रतीति में नहीं होता है। (अनुमानात् न) अनुमान से भी वह प्रतीत नहीं होता है (असिद्धत्वात्) क्योंकि वह असिद्धरूप है, (आंजसं प्रमाणांतरं) अतः वास्तविक प्रमाणांतर सिद्ध हो जाता है।।२।।

अर्थ—अविकल्प ज्ञान से किंचित् लिंग—अविनाभाव प्रतीति में नहीं आता है। अनुमान से भी वह

लिंगं साध्यसाधनयोरविनाभावः। किंचिदीषदपि। न संप्रतीयते न सामस्त्येन ज्ञायते। कया अविकल्पधिया निर्विकल्पकप्रत्यक्षेण सौगताभिप्रेतेन। यावान् कश्चिद्धूमः स सर्वोऽपि अग्निजन्मैवानग्निजन्मा वा न भवतीत्येतावद्विकल्पविकलत्वात् तस्य। अन्यथा सविकल्पकत्वापत्तेः। नन्वस्तु सविकल्पकात्प्रत्यक्षादविनाभावनिर्णय इत्यप्ययुक्तं। तस्यापि संबंधवर्तमानविषयत्वेन देशकालांतरव्यवहितसाध्यसाधनव्यक्तिगतव्याप्तिविकल्पानुपपत्तेः। तन्न प्रत्यक्षेणाविनाभावनिर्णयः। नाप्यनुमानात् तस्यैवासिद्धत्वात्। व्याप्तिग्रहणपूर्वकत्वादनुमानोत्थानस्य। अनुमानांतरात्तत्राप्यविनाभावनिर्णये चानवस्थाप्रसंगात्। प्रथमानुमानात् द्वितीयानुमाने व्याप्तिनिर्णय इति चेत्सोऽयं परस्पराश्रयदोषः। तन्नानुमानमपि व्याप्तिग्राहकमिति तद्ग्राहकं प्रमाणांतरं तर्काख्यं। आंजसं पारमार्थिकं न मिथ्या विकल्पात्मकमभ्युपगंतव्यं। अन्यथाऽनुमानप्रामाण्यायोगात्।

किं पुनरनुमानं प्रमाणमित्यनुयोगे सूत्रमिदमाह—

लिंग प्रतीत नहीं होता है क्योंकि उसके बिना वह असिद्ध ही है, अतः वास्तविक ही प्रमाणांतर सिद्ध हो जाता है।।२।।

तात्पर्यवृत्ति— साध्य-साधन के अविनाभाव को लिंग कहते हैं। सौगत द्वारा मान्य निर्विकल्प प्रत्यक्ष से किंचित् भी अविनाभाव प्रतीत नहीं होता है और पूर्णरूप से भी नहीं जाना जाता है। जितना कुछ भी धूम है वह सभी अग्नि से उत्पन्न होने वाला ही है अथवा अनग्नि से उत्पन्न होने वाला नहीं होता है। इस तरह वह निर्विकल्प प्रत्यक्ष इतने विकल्प से रहित है अन्यथा वह सविकल्प हो जावेगा।

प्रश्न— सविकल्प प्रत्यक्ष से अविनाभाव का निर्णय हो जावे, क्या बाधा है ?

उत्तर— यह कथन भी अयुक्त है क्योंकि वह सविकल्पक अपने से संबंधित वर्तमान को विषय करता है। भिन्न-भिन्न देश, काल से व्यवहित (दूरवर्ती) ऐसे साध्य और साधन विशेष में होने वाली व्याप्ति का विकल्प नहीं कर सकता है इसलिए प्रत्यक्ष से अविनाभाव का निर्णय नहीं होता है।

अनुमान से भी नहीं होता है क्योंकि वह असिद्धरूप है। व्याप्ति के ग्रहणपूर्वक ही अनुमान उत्पन्न होता है। यदि आप भिन्न अनुमान से उसमें भी अविनाभाव का निर्णय मानें तब तो अनवस्था आ जाती है।

यदि आप कहें कि प्रथम अनुमान से दूसरे अनुमान में व्याप्ति का निर्णय हो जावेगा तब तो परस्पराश्रय दोष आ जाता है इसलिए अनुमान भी व्याप्ति को ग्रहण करने वाला नहीं है। इसलिए उस व्याप्ति को ग्रहण करने वाला 'तर्क' नाम का एक भिन्न प्रमाण और स्वीकार करना चाहिए और उसको पारमार्थिक मानना चाहिए न कि विकल्पात्मक मिथ्यारूप। अन्यथा—यदि आप इसको नहीं मानेंगे तब तो अनुमान की प्रमाणता भी नहीं बन सकेगी।

भावार्थ— पूर्व की कारिका में परोक्ष प्रमाण के भेद करके स्मृति और प्रत्यभिज्ञान का लक्षण और उनकी सार्थकता बताई है। इस कारिका में तर्क प्रमाण का लक्षण और उपयोगिता सिद्ध की है और यह स्पष्ट बताया है कि तर्क प्रमाण को माने बिना अनुमान ज्ञान भी उत्पन्न हो सकता है क्योंकि वह व्याप्ति के ज्ञानपूर्वक ही होता है और व्याप्ति को ग्रहण करने वाला तर्क ही है, अन्य कोई प्रमाण नहीं है। वास्तव में जैन के सिवाय किसी ने भी स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क इन तीनों को पृथक् प्रमाण नहीं माना है और चार्वाक के सिवाय अनुमान को प्रमाण सभी मानते हैं। तर्कादि को प्रमाण माने बिना वह प्रमाण व्यवस्था भी बिगड़ जाती है।

उत्थानिका— पुनः अनुमान प्रमाण क्या है ? ऐसा प्रश्न होने पर इस सूत्र को कहते हैं—

लिंगात्साध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्षणात्।
लिंगिधीरनुमानं तत्फलं हानादिबुद्धयः।।३।।

अनुमानं प्रमाणं भवति। किं लिंगिधीर्लिंगिनः साध्यस्य धीर्ज्ञानमित्यर्थः। लिंगमविनाभावसंबंधोऽस्यास्तीति लिंगीति विग्रहात्। तस्योत्पत्तिकारणमाह—लिंगात् साधनात्। साध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्षणात् साध्येन इष्टाबाधितासिद्धरूपेण सहाविनाभावोऽन्यथानुपपत्तिनियमः तस्याभितो देशकालांतरव्याप्त्या निबोधो निर्णयः स एकं प्रधानं लक्षणं स्वरूपं यस्य तत्तथोक्तं तस्माल्लिंगादुत्पद्यमाना लिंगिधीरनुमानमित्यर्थः। नन्वस्य तर्कफलत्वात्कथं प्रमाणत्वमित्याशंक्याह—तत्फलं हानादिबुद्धयः हानं परिहारः आदिशब्देनोपादानमुपेक्षा च गृह्यते। तासां बुद्धयो विकल्पास्तस्यानुमानस्य फलं भवंति। ततः फलहेतुत्वादनुमानं प्रमाणं प्रत्यक्षवदित्यभिप्रायः। न चास्याप्रामाण्ये प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यमुपपन्नं अगौणत्वादिहेतुप्रयोगानुपपत्तेः। क्वचिदभ्यस्तविषये स्वतः प्रामाण्यसिद्धावपि तस्यानभ्यस्तविषयेऽनुमानत एव तत्सिद्धिः। परलोकादि-निषेधस्याप्यनुपलब्धिसाध्यत्वेन नानुमानमपलापार्हं। परचैतन्यप्रतिपत्तौ वा व्यवहारादिलिंगजानुमानप्रामाण्यात्।

अन्वयार्थ—(साध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्षणात्) साध्य के साथ अविनाभाव के निर्णयरूप एक प्रधान लक्षण वाले (लिंगात्) हेतु से (लिंगिधीः) साध्य का ज्ञान (अनुमानं) अनुमान है और (हानादिबुद्धयः) हान-उपादान आदि बुद्धि का होना (तत् फलं) उसका फल है।।३।।

अर्थ—साध्य के साथ अविनाभाव के निर्णय रूप एक प्रधान लक्षण वाले साधन से जो साध्य का ज्ञान होता है वह अनुमान है और हान-उपादान आदि बुद्धि का होना उसका फल है।।३।।

(अनुमान का लक्षण)

तात्पर्यवृत्ति—लिंग-अविनाभाव संबंध जिसका हो वह लिंगी—साध्य कहलाता है। अनुमान साध्य के साथ अविनाभाव नियमरूप प्रधान लक्षण वाले साधन से उस साध्य का ज्ञान उत्पन्न होता है। उसी का नाम अनुमान है। वह अनुमान प्रमाण होता है।

इष्ट, अबाधित और असिद्ध को साध्य कहते हैं। अन्य प्रकार से न होने रूप नियम को अविनाभाव कहते हैं। उसके अभि-अभितः भिन्न देशकाल की व्याप्ति के निबोध—निर्णय को अभिनिबोध कहते हैं। वह है एक—प्रधान लक्षण—स्वरूप जिसका उसे अभिनिबोध एक लक्षण कहते हैं। ऐसे साध्य के साथ अविनाभाव नियमरूप प्रधान लक्षण वाले साधन से जो साध्य का ज्ञान होता है वही अनुमान है।

प्रश्न—यह अनुमान तो तर्क का फल है, पुनः प्रमाण कैसे होगा ?

उत्तर—उस अनुमान का फल हानादि बुद्धि है। परिहार को हान कहते हैं और 'आदि' शब्द से उपादान—ग्रहण और उपेक्षा को ग्रहण करना है। जो उन हानादि का विकल्प है वही उस अनुमान का फल होता है इसलिए फल का हेतु होने से वह अनुमान प्रमाण है, प्रत्यक्ष के समान। यहाँ यह अभिप्राय हुआ है।

(अनुमान को प्रमाण न मानने से दोष)

इसको अप्रमाण मानने पर प्रत्यक्ष ज्ञान को भी प्रमाणता नहीं बन सकेगी क्योंकि अगौणत्व आदि हेतु के प्रयोग नहीं बन सकते हैं। कहीं अभ्यस्त विषय में स्वतः प्रमाणता की सिद्धि होने पर भी उसकी (प्रत्यक्ष की) अनभ्यस्त विषय में अनुमान से ही प्रमाणता की सिद्धि होती है। परलोक आदि का निषेध भी अनुपलब्धि हेतु

तन्नानुमानमप्रमाणं कल्पनीयं युक्तिविरोधात्। ननु पक्षधर्मत्वं सपक्षे सत्त्वं विपक्षाद् व्यावृत्तिरिति रूपत्रयस्य हेतुलक्षणत्वादेकलक्षणत्वमनुपपन्नं। अन्यथाऽसिद्धविरुद्धानैकांतिकदोषाव्यच्छेदादिति चेन्न असाधारण-स्वरूपस्यैव लक्षणत्वात्। न खलु रूपत्रयमसाधारणं स श्यामस्तत्पुत्रादित्यादौ हेत्वाभासेऽपि दर्शनात्। विवादाध्यासिते तत्पुत्रे अन्यत्र श्यामे च तत्पुत्रत्वात्। अश्यामे च क्वचित्तत्पुत्रत्वस्यासत्त्वात्। अत्र विपक्षाद् व्यावृत्तेर्नियमाभावादहेतुलक्षणत्वमिति चेन्न स एवाविनाभावस्तल्लक्षणमस्तु किमन्येनांतर्गडुना। तदुक्तं—

''अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किं'' इति।

अनेनासत्प्रतिपक्षत्वमबाधितविषयत्वमपि तल्लक्षणं निरस्तं अविनाभावाभावे गमकत्वायोगात्।

से साध्य होने से अनुमान का अभाव करना उचित नहीं है अर्थात् चार्वाक एक प्रत्यक्ष प्रमाण मानता है और परलोक आदि का निषेध करता है उसमें यह निषेध अनुपलब्धि हेतु से ही तो करता है।

अथवा पर के चैतन्य के ज्ञान में व्यवहार आदि लिंग से उत्पन्न हुआ अनुमान प्रमाण है इसलिए अनुमान को अप्रमाण नहीं कहना चाहिए क्योंकि युक्ति से विरोध आता है।

(निर्दोष हेतु का कथन)

शंका—पक्ष में धर्म, सपक्ष में तत्त्व और विपक्ष से व्यावृत्ति ये तीन रूप हेतु के लक्षण हैं। पुनः आपके द्वारा मान्य अविनाभाव रूप एक लक्षण उसका नहीं बन सकता है ? अन्यथा असिद्ध, विरुद्ध और अनैकांतिक दोषों का निराकरण नहीं हो सकेगा ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना, क्योंकि असाधारणस्वरूप ही लक्षण होता है। निश्चित ही ये तीन रूप असाधारण नहीं हैं। देखिये—'वह श्याम है क्योंकि उसका पुत्र है' इत्यादि हेत्वाभास में भी ये तीन रूप देखे जाते हैं। विवाद की कोटि में आये हुए उसके पुत्र में और अन्यत्र श्याम में 'उस पुत्र होनारूप' हेतु पाया जाता है और कहीं अश्याम में उसके पुत्रत्व का अभाव है।

बौद्ध—यहाँ पर विपक्ष से व्यावृत्ति होने रूप नियम का अभाव है अतः यह हेतु के लक्षण नहीं हैं।

जैन—ऐसा नहीं कहना। क्योंकि वही अविनाभाव उस हेतु का लक्षण हो जावे, पुनः अन्य 'अंतर्गडु' से (व्यर्थ के अंतर्विकल्पों से) क्या प्रयोजन है ? उसी को कहा भी है—

'अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्' जहां अन्यथानुपपत्ति—अन्य प्रकार से न होना यह अविनाभाव मौजूद है वहाँ इन तीनों से क्या प्रयोजन है ?

इसी कथन से 'असत्प्रतिपक्षत्व और अबाधित विषयत्व उस हेतु के लक्षण हैं, इस मान्यता का भी खंडन हो गया है क्योंकि अविनाभाव के अभाव में ये लक्षण साध्य के गमक—बतलाने वाले नहीं हैं।

भावार्थ—बौद्ध ने हेतु के तीन रूप माने हैं—पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्ष व्यावृत्ति। आचार्य ने कहा कि हेतु में यदि ये तीन रूप हैं भी और अविनाभाव नहीं है तो वह हेतु अपने साध्य को सिद्ध नहीं कर सकेगा। यदि अविनाभाव है और रूप नहीं है फिर भी वह साध्य को सिद्ध कर देगा। उसी प्रकार नैयायिक हेतु के इन्हीं तीन रूपों में असत्प्रतिपक्षत्व और अबाधित विषयत्व ये दो रूप और जोड़कर हेतु के पाँच रूप मानते हैं किन्तु इनके खंडन में भी यही बात है कि जब इन पाँचों के होने पर भी अविनाभाव के बिना हेतु गमक नहीं होता है और अविनाभाव लक्षण के होने पर ये हों चाहे न हों, हेतु साध्य को सिद्ध कर देता है। तब इन पाँचों के मानने से कोई प्रयोजन नहीं है।

सोऽप्यविनाभावो द्वेधा वर्तते सह क्रमेणचेति। तत्र सहाविनाभावः सहचारिणो रूपरसयोर्व्यापकयोश्च (व्याप्यव्यापकयोश्च) वृक्षत्वशिंशिपात्वयोः साध्यसाधनयोर्वर्तते। क्रमाविनाभावस्तु पूर्वोत्तरचरयोः कृत्तिकोदयशकटोदययोः कार्यकारणयोर्धूमधूमध्वजयोश्च वर्तते।।

ननु तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यामविनाभावो वर्तते। ततो व्याप्यमेव व्यापकस्य लिंगं कार्यं च कारणस्येति द्विविधमेव विधिसा धनमिति सौगतविप्रतिपत्तिं निराकुर्वन् कारणस्यापि लिंगत्वमाह—

चंद्रादेर्जलचंद्रादिप्रतिपत्तिस्तथाऽनुमा।।४।।

चंद्र आदिर्यस्यादित्यादेरसौ चंद्रादिस्तस्मात्कारणभूतात्। जले स्वच्छांभसि। चंद्रादेश्चंद्रादिप्रतिबिंबस्य।

(अविनाभाव के भेद)

उस अविनाभाव के दो भेद हैं—सहभाव और क्रमभाव।

सहचारी रूप और रस तथा व्यापक वृक्षत्व और शिंशिपात्व साध्य-साधन में सह अविनाभाव होता है।

पूर्वचर-उत्तरचररूप रोहिणी के उदय और कृत्तिका के उदय में तथा कार्य-कारणरूप धूम और अग्नि में क्रम अविनाभाव है।

भावार्थ—यहाँ पर आचार्य ने अनुमान का लक्षण बतलाते हुए साध्य एवं साधन का लक्षण भी बतलाया है। जो इष्ट, अबाधित और असिद्ध है वह साध्य है क्योंकि अनिष्ट और बाधित को कोई सिद्ध करना नहीं चाहेगा और असिद्ध विशेषण परवादी की अपेक्षा है क्योंकि स्वयं को तो सिद्ध है किन्तु अन्य को असिद्ध है, तभी तो उसे साध्य की कोटि में रखकर सिद्ध करते हैं। साधन—हेतु का अन्यथानुपपत्ति रूप किया है क्योंकि हेतु में तीनरूप या पाँचरूप होने पर भी यदि अन्य प्रकार से नहीं होने रूप ऐसा साध्य के साथ-अविनाभाव नहीं है तो वह साध्य को सिद्ध नहीं कर सकता और यदि यह एक लक्षण मौजूद है तो भले ही अन्य रूप नहीं भी होवे तो भी वह हेतु साध्य को सिद्ध कर देता है।

अनंतर अविनाभाव के सहभावी और क्रमभावी ऐसे दो भेद करके उनके उदाहरण दिये हैं। जो व्याप्य और व्यापक में साथ ही रहे वह सहभावी है। जैसे—'अयं वृक्षः शिंशिपात्वात्' यह वृक्ष है क्योंकि सीसम है। जो क्रम से हो, वह क्रमभावी है। जैसे—'अयं पर्वतोऽग्निमान धूमवत्त्वात्' यह पर्वत अग्नि वाला है क्योंकि धूम वाला है। ऐसे ही रूप और रस में सहभाव नियम और पूर्वचर-उत्तरचर में क्रमभाव नियम अविनाभाव पाया जाता है।

उत्थानिका—तादात्म्य और तदुत्पत्ति से अविनाभाव होता है इसलिए व्यापक का व्याप्य ही लिंग है और कारण का कार्य ही लिंग है। इस प्रकार विधि हेतु दो प्रकार के ही हैं। इस तरह सौगत के विसंवाद का निराकरण करते हुए कारण को भी लिंगत्व हेतुपना सिद्ध करते हैं—

अन्वयार्थ—(तथा) उसी प्रकार (चंद्रादेः) चंद्र आदि से (जलचंद्रादिप्रतिपत्तिः) जल में चंद्र आदि का ज्ञान होना भी (अनुमा) अनुमान ज्ञान है।।४।।

अर्थ—उसी प्रकार चंद्र आदि से (कारण से) जल में चंद्र आदि का ज्ञान होता है। वह भी अनुमान ज्ञान है।।४।।

तात्पर्यवृत्ति—चंद्रादि में आदि शब्द से सूर्य आदि को लेना चाहिए। इन चंद्र, सूर्य आदि कारण हेतु

प्रतिपत्तिरवबोधोऽनुमानमनुमंतव्यमव्यभिचारात्। किंवत् तथा कार्यात्कारणप्रतिपत्तिवत्। अविनाभावो हि गम्यगमकभावनिबंधनं। न कार्यत्वमन्यद्वा। अविकलसामर्थ्यस्य कारणस्य कार्यजननं प्रत्यव्यभिचारात्। न खलु पादपस्यातपच्छायाव्यभिचारो मणिमंत्राद्यप्रतिबद्धसामर्थ्यस्याग्नेः स्फोटादिव्यभिचारो वाऽस्ति। अन्यथा न कदाऽपि कार्योत्पत्तिरित्यसत्त्वमेव वस्तुनः स्यात्। अर्थक्रियाविरहात्।

इदानीं पूर्वचरस्यापि लिंगत्वं ख्यापयन्नाह—

भविष्यत्प्रतिपद्येत शकटं कृत्तिकोदयात्।।
श्व आदित्य उदेतेति ग्रहणं वा भविष्यति।।५।।

सोपस्काराणि हि सूत्राणि। तदेवं व्याख्यायते। शकटं रोहिणी धर्मी। मुहूर्तांते भविष्यदुदेष्यदिति साध्यधर्मः। कृतः? कृत्तिकोदयादिति साधनं। न खलु कृत्तिकोदयः शकटोदयस्य कार्यं स्वभावो वा।

से स्वच्छ जल में चंद्र, सूर्य आदि के प्रतिबिंब का ज्ञान अनुमान ज्ञान है ऐसा स्वीकार करना चाहिए क्योंकि व्यभिचार दोष नहीं है। जैसे कि कार्यहेतु से कारण का ज्ञान होना अनुमान होता है। अविनाभाव गम्य और गमक भाव का कारण है, वह कार्यरूप अथवा अन्यरूप नहीं है क्योंकि अविकल सामर्थ्य वाले कारण कार्य को उत्पन्न करने के प्रति अव्यभिचारी हैं।

वृक्ष में आतप और छाया का व्यभिचार नहीं है अथवा मणि, मंत्र आदि से जिसकी शक्ति रोकी नहीं गई है, ऐसी अग्नि में स्फोट आदि का व्यभिचार नहीं है। अन्यथा—यदि ऐसा नहीं मानोगे तो कभी भी कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी। पुनः इस तरह तो अर्थक्रिया के अभाव से वस्तु का अभाव ही हो जायेगा।

भावार्थ—बौद्ध विधि साधक हेतु के दो भेद मानता है—स्वभाव हेतु और कार्य हेतु। यहाँ आचार्य ने जलचंद्र का दृष्टांत देकर कारण हेतु का समर्थन किया है। कुमारिलभट्ट की ऐसी मान्यता है कि जलादि वस्तुओं में जो मुख आदि के प्रतिबिंब दिखाई देते हैं, वे प्रतिबिंब नहीं हैं किन्तु हमारी नयनरश्मियां जल से टकरा कर लौटती हुई हमारे ही मुख को देखती हैं, उसे हम भ्रांतिवश जलगत बिंब का देखना समझ लेते हैं। न्यायकुमुदचंद्र में इसका ऊहापोह विशेष किया है और सिद्ध किया है कि वस्तुओं में दूसरी वस्तुओं का प्रतिबिंब पड़ सकता है।

उत्थानिका—अब पूर्वचर को भी हेतुपना सिद्ध करते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(कृत्तिकोदयात्) कृत्तिकोदय हेतु से (भविष्यत् शकटं) भविष्य में होने वाला रोहिणी नक्षत्र (प्रतिपद्येत) जाना जाता है। (श्वः आदित्यः उदेता) आगे कल सूर्य उदित होगा (वा) अथवा (ग्रहणं) सूर्य का ग्रहण (भविष्यति) होवेगा (इति) इस प्रकार ज्ञान होता है।।५।।

अर्थ—कृत्तिकोदय हेतु से भविष्य में रोहिणी नक्षत्र का उदय जाना जाता है। कल सूर्य उदित होगा अथवा सूर्य का ग्रहण होगा, यह भी जाना जाता है अर्थात् कृत्तिकोदय हेतु पूर्वचर है वह एक मुहूर्त बाद उदय होने वाले रोहिणी नक्षत्र को बता देता है। आज सूर्योदय को देखकर कल सूर्योदय होगा तथा निमित्तज्ञ की गणित से भविष्य के ग्रहण का ज्ञान भी होता है यह पूर्वचर हेतु से होता है।।५।।

तात्पर्यवृत्ति—सूत्र उपस्कार सहित ही होते हैं। उसी का व्याख्यान करते हैं। 'शकट—रोहिणीनक्षत्र' धर्मी हैं, 'मुहूर्त के अंत में होना' यह साध्य धर्म है, क्यों ? क्योंकि कृत्तिका का उदय हो रहा है यह हेतु है

केवलमविनाभावबलाद्गमयत्येव स्वोत्तरचरमिति प्रतिपद्येतानुमन्येत सर्वोऽपि जन इति। तथा श्वः प्रातरादित्यः सूर्यः। उदेता उदेष्यति। अद्यादित्योदयादिति प्रतिपद्येत। तथा श्वो ग्रहणं राहुस्पर्शो भविष्यति एवंविध-फलकांकादिति वा प्रतिपद्येत। सर्वत्राव्यभिचारात्। क्रमभावनियमस्य कार्यकारणवत् पूर्वोत्तरचर-योरप्यविरोधात्। तदेवं पक्षधर्मत्वादिकं विनाऽपि हेतोरन्यथानुपपत्तिसामर्थ्याद्गमकत्वसंभवात्। कार्यस्वभावा-नुपलब्धिभेदात् त्रैविध्यनियमोऽपि लिंगस्यापास्तः। अनेनैव कारणं कार्यं संयोगि समवायि विरोधि चेति पंचधा लिंगमिति नैयायिकमतमप्यपाकृतं। उक्तहेतूनामत्रानंतर्भावात्। मात्रामात्रिक-कार्यविरोधसहचारिस्व-स्वामिवध्यघातकसंयोगिभेदात्सप्तधा लिंगमिति सांख्यकल्पितांगसंख्यानियमोऽपि न संभवतीति ज्ञेयं।।

अर्थात् 'मुहूर्तांते शकटं उदेष्यति कृत्तिकोदयात्[१]'' एक मुहूर्त के बाद रोहिणी नक्षत्र का उदय होगा, क्योंकि अभी कृत्तिका का उदय हो रहा है, यह पूर्वचर हेतु है।

यहाँ कृत्तिकोदय हेतु रोहिणी के उदय का कार्य अथवा स्वभाव नहीं है। केवल अविनाभाव के बल से अपने उत्तरचर का ज्ञान कराता ही है, इस प्रकार से सभी लोग मानते हैं। उसी प्रकार 'कल प्रातः आदित्य—सूर्य उदित होगा क्योंकि आज सूर्य का उदय हो रहा है' यह जाना है। अथवा 'कल ग्रहण—राहु स्पर्श होगा, क्योंकि ज्योतिर्विद के गणित के नियम से जाना जाता है' ऐसा ज्ञान होता है। इन सभी में व्यभिचार दोष नहीं है। क्रमभावी नियम अविनाभाव कार्य कारण के समान पूर्वचर और उत्तरचर में भी अविरुद्ध है इसलिए पक्षधर्मत्व आदि के बिना भी हेतु अन्यथानुपपत्ति की सामर्थ्य से साध्य का ज्ञान करा देता है।

इस कथन से 'कार्य, कारण और स्वभाव के भेद से हेतु के तीन ही भेद हैं' इस सौगत की मान्यता का भी निराकरण कर दिया गया है और इसी से ही 'कारण, कार्य, संयोगी, समवायी और विरोधी ये पाँच प्रकार के हेतु हैं' इस नैयायिक मत का भी खंडन हो गया है क्योंकि उपर्युक्त कहे हुए हेतु (पूर्वचर आदि) इनमें अंतर्भूत नहीं हो सकते हैं। मात्रा मात्रिक, कार्य, विरोध, सहचारी, स्वामी, बध्य—घातक और संयोगी के भेद से सात प्रकार का हेतु है। इस प्रकार सांख्य द्वारा कल्पित हेतु की संख्या का नियम भी संभव नहीं है, ऐसा समझना चाहिए।

विशेषार्थ—कारण से कार्य का अनुमान होना। जैसे—जलते हुए ईंधन को देखकर भस्म होवेगा ऐसा समझना, यह कारण हेतु है।

कार्य से कारण का अनुमान, जैसे—नदी पूर (प्रवाह) के देखने से वृष्टि का ज्ञान होना, यह कार्य हेतु है। संयोगी के देखने से संयोगी का अनुमान, जैसे—धूम के देखने से अग्नि का ज्ञान, यह संयोगी हेतु है। समवायी के देखने से समवायी का अनुमान, जैसे—शब्द से आकाश का अनुमान, यह समवायी हेतु है।

विरोधी के देखने से दूसरे विरोधी का अनुमान जैसे विस्फूर्जित (उत्तेजित) नकुल के देखने से निकट के सर्प का ज्ञान, यह विरोधी हेतु है। इन पाँचों हेतुओं में पूर्वचर आदि हेतु गर्भित नहीं हो सकते हैं अतः यह संख्या ठीक नहीं है।

इनमें यदि अविनाभाव नियम नहीं है तो ये हेत्वाभास हैं, अव्याप्ति आदि दोषों से दूषित हैं तथा संयोगी और समवायी हेतु तो सिद्ध ही नहीं है।

सांख्य ने सात हेतु माने हैं। उनका लक्षण—(१) मात्रामात्रिकानुमान, जैसे—चक्षु के ज्ञान का

---

१. परीक्षामुख।

अथेदानीं दृश्यानुपलब्धिरिव निषेधसाधनं नादृश्यानुपलब्धिरित्येकांतं निराकुर्वन्नाह—

अदृश्यपरचित्तादेरभावं लौकिका विदुः।
तदाकारविकारादेरन्यथानुपपत्तितः।।६।।

विदुर्जानंति। के लौकिकाः अपिशब्दोऽत्र द्रष्टव्यः। तेन लौकिका गोपालादयोऽपि किं पुनः परीक्षका इत्यर्थः। कं अभावं असत्तां। कस्य अदृश्यपरचित्तादेः परेषामातुराणां चित्तं चैतन्यमादिर्यस्यासौ परचित्तादिः। अदृश्यश्चासौ परचित्तादिश्च स तथोक्तस्तस्य। आदिशब्देन भूतग्रहव्याधिप्रकृतिर्गृह्यते (प्रभृति गृह्यते)। यस्य सूक्ष्मस्वभावः। कुतः तदित्यादि। तस्य परिचित्तादेः कार्यभूतोऽविनाभावी आकार उष्णस्पर्शादिलक्षणस्तस्य विकारोऽन्यथाभाव आदिर्यस्य वचनविशेषारोग्यादेस्तस्यानुपपत्तितः असंभवात्। कथं अन्यथा अदृश्यपर-चित्तादेरभावं विना। न खलु परचित्तभूतव्याध्यादयो दृश्यंते सूक्ष्मत्वात्। नाप्यदृश्यस्याभावः

अनुमान। (२) कार्य से कारण का अनुमान, जैसे—विद्युत् देखने से कारण का ज्ञान। (३) प्रकृतिविरोधी देखने से भिन्न विरोधी का अनुमान, जैसे—मेघ नहीं बरसेगा क्योंकि उल्टी हवा चल रही है। (४) सहचरानुमान, जैसे—दो चकवे पक्षी में से एक को देखने से दूसरे का ज्ञान। (५) स्व (धन) देखने से स्वामी का अनुमान, जैसे—छत्र विशेष से राजा का अनुमान। (६) बध्य—घातानुमान, जैसे—प्रसन्न नकुल को देखने से 'इसने सर्प को मारा है' ऐसा ज्ञान। (७) संयोगी अनुमान, जैसे—समुदाय के मध्य पारिव्राजक होने पर 'पारिव्राजक कौन है' ऐसा संशय होने पर त्रिदण्ड के देखने से 'यह पारिव्राजक है' ऐसा ज्ञान। इन सात हेतु से अनुमान ज्ञान होता है।

यह मान्यता भी गलत है क्योंकि कृतिकोदयादि हेतुओं का इनमें अंतर्भाव न होने से संख्या ठीक नहीं है तथा यदि अविनाभाव संबंध इनमें नहीं है तो ये अहेतु ही हैं, ऐसा समझना।

उत्थानिका—अब दृश्यानुपलब्धि ही निषेध साधन है, अदृश्यानुपलब्धि नहीं है, इस एकांत का निराकरण करते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(अदृश्य पर चित्तादेः) नहीं दिखने योग्य ऐसे अन्य के चैतन्य आदि के (अभावं) अभाव को (लौकिकाः विदुः) लौकिकजन भी जानते हैं (तदाकारविकारादेः) क्योंकि उसके आकार (उष्णस्पर्श, उच्छ्वास) आदि के विकार (अन्यथानुपपत्तितः) अन्य प्रकार से नहीं हो सकता है।।६।।

अर्थ—अदृश्य नहीं दिखने योग्य ऐसे पर के चैतन्य आदि का अभाव लौकिक जन भी जानते हैं क्योंकि उसके आकार (उष्णस्पर्श, उच्छ्वास आदि) के विकार की अन्यथानुपपत्ति है।।६।।

(अदृश्यानुपलब्धि हेतु की सिद्धि)

तात्पर्यवृत्ति—पर—आतुर के जनों के चित्त—चैतन्य आदि शब्द से भूत, ग्रह, व्याधि आदि ग्रहण किये जाते हैं। ये अदृश्य—हम, आपको दिखने योग्य नहीं हैं क्योंकि इनका स्वभाव सूक्ष्म है। ऐसे अदृश्यपने के चैतन्यभूत, ग्रह व्याधि आदि के अभाव को लौकिकजन, आबाल, गोपाल आदि भी जानते हैं पुनः परीक्षकजनों की तो बात ही क्या ? यहाँ 'अपि' को ग्रहण ले लेना चाहिए।

कैसे जानते हैं ? उन पर के चैतन्य आदि के कार्यभूत अविनाभावी उष्ण स्पर्शादि लक्षण को 'आकार' कहते हैं। उस आकार का विकार—अन्य प्रकार होना आदि शब्द से वचन विशेष आरोग्य श्वासोच्छ्वास

साधयितुमशक्योऽन्यथा संस्कर्तृणां पातकित्वप्रसंगात्। तद्भावेऽप्यनाश्वासात्। यथैव त्वुष्णस्पर्शाद्याकारोपलंभात्परचित्तादेर्भावः साध्यते तथा तदनुपालंभादभावोऽपीत्यर्थः। ननु कार्योपलब्धेः कारणसत्ता सुघटा साधयितुं न तु तदनुपालंभात् कारणाभावः। कारणस्य कार्येण सहाविनाभावाभावादिति चेन्न। एवं निर्बंधाभावात्। कार्यजननसमर्थस्य कारणस्य तेनाविनाभावोपपत्तेः। सति समर्थे कारणे कार्यस्यावश्यं भावात्। अन्यथा न कदापि कार्योत्पत्तिरिति सर्वस्यार्थक्रियाकारित्वाभावात् शून्यताप्रसंगात्। तत उपलब्ध्यनुपलब्धिभेदाल्लिंगं द्विविधं। तत्रोपलब्धिर्विधौ साध्ये षोढा प्रतिषेधे च तथा। अनुपलब्धिश्च प्रतिषेधे सप्तधा। विधौ तु त्रिधेति सुव्यवस्थितं। सर्वत्राविनाभाव-नियमनिश्चयैकलक्षणबलाद्गमकत्वसिद्धेः। नन्वदृश्यानुपलब्धेरभावे संशय एव स्यादिति चेन्न। एवमुपलब्धेः स्वचित्ताभावेऽपि संशयप्रसंगात्। किंच बहिरंतश्च निरंशं तत्त्वं न प्रमाणपदवीमधिरोहति। क्रमाक्रमाभ्यामनेक-स्वभावे बहिरंतस्तत्वे प्रमाणस्य प्रवृत्तेः।

आदि होने रूप हेतु से जान लेते हैं। अन्यथा — पर चैतन्यादि के अभाव बिना कैसे जानते हैं ? अर्थात् किसी रोगी आदि के शरीर को निश्चेष्ट, उच्छ्वासरहित और ठंडा देखकर जान लेते हैं कि इसमें चैतन्य का अभाव हो गया है तथा किसी रोगी के वचन विशेष और आरोग्य को देखकर यह भी जान लेते हैं कि इसमें भूत या पिशाच का प्रकोप नहीं है अथवा रोग का अभाव हो गया है। इन बातों को आबाल-गोपाल भी जान लेते हैं फिर परीक्षकजनों की तो बात ही क्या है ?

पर जीवों के भूत व्याधि आदि दिखते तो हैं नहीं क्योंकि वे सूक्ष्म हैं। अदृश्य का अभाव सिद्ध करना भी अशक्य नहीं है अन्यथा संस्कार करने वाले — जलाने वालों की पातकी कहना पड़ेगा तथा चैतन्य आदि होने पर भी विश्वास नहीं हो सकेगा। जिस प्रकार उष्ण, स्पर्श आदि आकार की उपलब्धि होने से पर के चैतन्य आदि का भाव (होना) सिद्ध किया जाता है। उसी प्रकार उष्ण, स्पर्शादि आकार विशेष की उपलब्धि न होने से पर के चैतन्य आदि का अभाव भी सिद्ध किया जाता है।

शंका — कार्य की उपलब्धि से कारण का अस्तित्व सिद्ध करना सुघटित है किन्तु कार्य की उपलब्धि न होने से कारण का अभाव सिद्ध करना शक्य नहीं है, क्योंकि कारण का कार्य के साथ अविनाभाव नहीं है।

समाधान — नहीं, इस प्रकार के निर्बंध का अभाव है। कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ जो कारण है, उसका कार्य के साथ अविनाभाव सुघटित है। समर्थ कारण के होने पर कार्य अवश्य ही होता है। अन्यथा — यदि ऐसा न मानोगे तो कभी भी कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी। इस प्रकार तो सभी में अर्थक्रिया को करने का अभाव होने से शून्यता का प्रसंग आ जावेगा।

(हेतु के भेद-प्रभेद)

इसलिए उपलब्धि और अनुपलब्धि के भेद से हेतु के दो भेद हैं। उनमें विधि को साध्य करने में उपलब्धि हेतु के छह भेद हैं और प्रतिषेध को साध्य करने में भी छह भेद हैं।

अनुपलब्धि के प्रतिषेध को सिद्ध करने में सात भेद हैं और विधि के सिद्ध करने में तीन भेद सुव्यवस्थित हैं। उन सभी हेतुओं में अविनाभाव नियम निश्चयरूप एक लक्षण के बल से गमकत्व — सिद्ध है अर्थात् ये सभी हेतु अविनाभाव नियमरूप निश्चित एक लक्षण के बल से अपने-अपने साध्य को सिद्ध करने वाले हैं।

शंका — अदृश्यानुपलब्धि हेतु से अभाव को सिद्ध करने में संशय ही बना रहेगा ?

समाधान — नहीं, इस प्रकार से तो उपलब्धि हेतु से अपने चैतन्य के अभाव में भी संशय का प्रसंग आ जावेगा।

ततः प्रमाणबाधितविषयत्वात्सौगतपरिकल्पितं सर्वं सत्त्वादिसाधनमकिं-चित्करं विरुद्धमेव वा स्यादिति कुतस्तन्मतेऽनुमानस्य प्रामाण्यमिति।।

दूसरी बात यह है कि बहिरंग और अंतरंग निरंश तत्त्व प्रमाण की पदवी पर आरोहण नहीं कर सकता है। क्रम और अक्रम से अनेक स्वभाव वाले बहिरंग और अंतरंगरूप चेतन-अचेतन तत्त्व में प्रमाण की प्रवृत्ति होती है इसलिए प्रमाण से बाधित विषय वाला होने से बौद्ध के द्वारा परिकल्पित सभी सत्त्व आदि हेतु अकिंचित्कर अभाव विरुद्ध ही हो जाते हैं। इस तरह उनके मन में अनुमान को प्रमाणता कैसे हो सकेगी ?

विशेषार्थ—किसी भी वस्तु के अभाव को अनुपलब्धि कहते हैं। उसके दो भेद हैं—दृश्यानुपलब्धि और अदृश्यानुपलब्धि। दिखने योग्य पदार्थ के अभाव को दृश्यानुपलब्धि और नहीं दिखने योग्य पदार्थ के अभाव को अदृश्यानुपलब्धि कहते हैं। जैसे—कमरे में पुस्तक थी, किसी ने वहाँ से हटा दी तब उस कमरे में पुस्तक की दृश्यानुपलब्धि है तथा कमरे में भूत था, चला गया, उस भूत के अभाव को या पर की आत्मा, ज्ञान, व्याधि आदि भी दिखने योग्य नहीं है, उनके अभाव को अदृश्यानुपलब्धि कहते हैं।

यहाँ बौद्ध दृश्यानुपलब्धि को ही मानता है उसके एकांत का निराकरण करने के लिए श्री भट्टाकलंक देव ने कहा कि अन्य के चैतन्य आदि अदृश्य हैं, उनका अभाव लौकिक जन भी मानते हैं। उनके श्वांस आदि को नहीं देखकर कह देते हैं कि इनमें से जीव निकल गया है अन्यथा उसको जलाने वाले को पापी, मनुष्यघाती कहना पड़ेगा परन्तु ऐसा तो है नहीं, इसलिए अदृश्यानुपलब्धि भी सिद्ध है।

पुनः किसी ने कहा कि नदीपूर आदि कार्य देखकर मेघ वर्षा आदि कारण को जानना ठीक है किन्तु किसी कार्य के अभाव में कारण को जानना असंभव है। तब श्री वृत्तिकार आचार्य ने कहा कि ऐसा नहीं है, देखो! अश्रद्धान रूप कार्य के अभाव में मिथ्यात्व रूप कारण का अभाव जाना जाता है तथा मुख का कड़ुवापन आदि के अभाव में पित्त ज्वर आदि के अभाव को जाना जाता है। बस! हेतु में साध्य के साथ अविनाभाव निश्चित होना चाहिए।

अनंतर हेतु के बाईस भेद किये हैं—

परीक्षामुख ग्रंथ में श्री माणिक्यनंदी आचार्य ने इनका स्पष्टीकरण किया है—

हेतु के उपलब्धि और अनुपलब्धि से दो भेद हैं। उपलब्धि के दो भेद हैं—अविरुद्धोपलब्धि और विरुद्धोपलब्धि। अनुपलब्धि के भी दो भेद हैं—अविरुद्धानुपलब्धि और विरुद्धानुपलब्धि।

अविरुद्धोपलब्धि के व्याप्य, कार्य, कारण, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर के भेद से छह भेद हैं— (१) शब्द परिणामी होता है क्योंकि वह किया हुआ है, यह अविरुद्धव्याप्योपलब्धि का उदाहरण है। (२) इस प्राणी में बुद्धि है क्योंकि बुद्धि के कार्य, वचन आदि पाये जाते हैं, यह अविरुद्ध कार्योपलब्धि है। (३) यहाँ छाया है क्योंकि छत्र मौजूद हैं, यह अविरुद्ध कारणोपलब्धि है। (४) एक मुहूर्त के बाद रोहिणी नक्षत्र का उदय होगा क्योंकि कृत्तिका का उदय हो रहा है, यह पूर्व चरोपलब्धि है। (५) एक मुहूर्त के पहले भरणी नक्षत्र का उदय हो चुका है क्योंकि कृत्तिका का उदय हो रहा है, यह उत्तर चरोपलब्धि है। (६) इस बिजौरे में रूप है क्योंकि रस पाया जाता है यह सद्चरोपलब्धि का उदाहरण है।

विरुद्धोपलब्धि के भी ऐसे ही छह भेद हैं—(१) यहाँ शीत स्पर्श नहीं है क्योंकि उससे विरुद्ध अग्नि की व्याप्य उष्णता मौजूद है, यह विरुद्ध व्याप्योपलब्धि का उदाहरण है। (२) यहाँ शीत स्पर्श नहीं है क्योंकि

ननु स्याद्वादिनामप्यनेकात्मकस्य तत्त्वस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वादनुमानवैफल्यप्रसंग इत्याशंकायामिदमाह—

वीक्ष्याणुपारिमांडल्यक्षणभंगाद्यवीक्षणं।।
स्वसंविद्विषयाकारविवेकानुपलंभवत्।।७।।

उससे विरुद्ध अग्नि का कार्य धूम मौजूद है यह विरुद्ध कार्योपलब्धि है। (३) इस जीव में सुख नहीं है क्योंकि उससे विरुद्ध दुख का शल्य मौजूद है, यह विरुद्ध कारणोपलब्धि है। (४) एक मुहूर्त के बाद रोहिणी का उदय नहीं होगा क्योंकि उसके विरुद्ध अश्विनी नक्षत्र के पूर्वचर रेवती नक्षत्र का उदय हो रहा है, यह विरुद्ध पूर्वचरोपलब्धि है। (५) एक मुहूर्त के पहले भरणी का उदय नहीं हुआ है क्योंकि अभी पुण्य का उदय हो रहा है, यह विरुद्ध उत्तरचरोपलब्धि है। (६) इस दीवाल में उस तरफ के भाग का अभाव नहीं है क्योंकि इस तरफ का भाग दिख रहा है, यह विरुद्ध सहचरोपलब्धि का उदाहरण है।

अविरुद्धानुपलब्धि के प्रतिषेध में सात भेद हैं—स्वभाव, व्यापक, कार्य, कारण, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर। (१) इस भूतल पर घट नहीं है क्योंकि वह दिखता नहीं है, यह अविरुद्ध स्वभावानुपलब्धि है। (२) यहाँ सीसम नहीं है क्योंकि उसके व्यापक वृक्ष का अभाव है, यह अविरुद्ध व्यापकानुपलब्धि है। (३) यहाँ बिना सामर्थ्य रुकी अग्नि नहीं है क्योंकि धूम नहीं पाया जाता है, यह अविरुद्ध कार्यानुपलब्धि है। (४) यहाँ धूम नहीं है क्योंकि अग्नि नहीं है, यह अविरुद्ध कारणानुपलब्धि है। (५) एक मुहूर्त बाद रोहिणी का उदय नहीं होगा क्योंकि अभी कृत्तिका का उदय नहीं हुआ है, यह अविरुद्ध पूर्वचरानुपलब्धि है (६) एक मुहूर्त पहले भरणी का उदय नहीं हुआ था क्योंकि अभी कृतिका का उदय नहीं हुआ है, यहाँ अविरुद्ध उत्तरचरोपलब्धि हेतु है। (७) इस तराजू में ऊँचापन नहीं है क्योंकि नीचेपन का अभाव है, यह अविरुद्ध सहचरोपलब्धि हेतु है।

विरुद्धानुपलब्धि के विधि में तीन भेद हैं—कार्य, कारण और स्वभाव। (१) इस प्राणी में कोई रोग है क्योंकि नीरोग चेष्टा नहीं पायी जाती है, यह विरुद्ध कार्यानुपलब्धि है। (२) इस प्राणी में दुख है क्योंकि इष्ट संयोग का अभाव है, यह विरुद्ध कारणानुपलब्धि है। (३) वस्तु अनेकांतात्मक है क्योंकि उसमें नित्य आदि एकांत स्वरूप का अभाव है, यह विरुद्ध स्वभावानुपलब्धि हेतु का उदाहरण है।

इस प्रकार से हेतु के बाईस भेदों का वर्णन करके आचार्य ने कहा है कि गुरु परम्परा से और भी जो हेतु संभव हो सकते हों, उनका पूर्वोक्त साधनों में ही अंतर्भाव करना चाहिए।

उत्थानिका—स्याद्वादियों के यहाँ भी अनेकांतात्मक तत्त्व प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध होने से अनुमान प्रमाण की विफलता का प्रसंग आ जाता है, इस प्रकार की आशंका होने पर आचार्य अगली कारिका को कहते हैं—

अन्वयार्थ—(वीक्ष्याणुपारिमांडल्य क्षण भंगाद्यवीक्षणं) स्थूल के अणुओं की गोलाई और क्षण-क्षण में नाश होना आदि दिखते नहीं हैं (स्वसंविद्विषयाकार विवेकानुपलम्भवत्) जैसे स्वसंवेदन के विषयाकार के भेद की उपलब्धि नहीं होती है।।७।।

अर्थ—वीक्ष्य—देखने योग्य स्थूल के अणु—सूक्ष्म अवयवों की गोलाई, और क्षणभंग—क्षण-क्षण में नाश होना आदि इनका अवीक्षण—प्रत्यक्ष से उपलब्धि नहीं होती है। जैसे—स्वसंवेदन के विषयाकार—घटपटादि आकार के भेद पृथक्करण की उपलब्धि नहीं होती है अर्थात् अणु की गोलाई आदि

वीक्ष्यमुपलब्धिलक्षणप्राप्तं स्थूलं तस्याणवः सूक्ष्मा भावा अवयवास्तेषां पारिमांडल्यं वर्तुलत्वमन्योन्य-विवेकः क्षणे क्षणे भंगः क्षणभंगः समयं प्रति नाश इत्यर्थः। स आदिर्यस्य कार्यकारणसामर्थ्यादेरसौ तथोक्तः वीक्ष्याणुपारिमांडल्यं च क्षणभंगादिश्च तत्तथोक्तं। तस्यावीक्षणं प्रत्यक्षेणानुपलंभोऽशक्तिः। न खलु सांव्यवहारिकप्रत्यक्षेण क्षणभंगादिर्वीक्ष्यते तेन स्थिरस्थूलसाधारणाकारस्यैव वीक्षणात्। योगिप्रत्यक्षस्यैव तद्वीक्षणसामर्थ्यात्। ततस्तत्रानुमानमेव जागर्ति तस्य तन्निर्णयसामर्थ्यादित्यर्थः। सत्त्वात्प्रमेयत्वादर्थक्रियाकारित्वादित्यादिहेतूनां कथंचिदनेकानित्यादिधर्मव्याप्यत्वात्तदविनाभावप्रसिद्धेः। प्रकृतार्थे दृष्टांतमाह— स्वसंविदित्यादि। स्वसंवित्स्वसंवेदनं तस्या विषयाकारो घटाद्याकारस्तस्माद्विवेको व्यावृत्तिस्तस्यानुपलंभः प्रत्यक्षेणाग्रहणं तद्वत्। यथा ज्ञानस्य स्वरूपप्रतिभासने बहिरर्थाकारनिवृत्तिर्विद्यमानेनापि च प्रतिभासते सौगतानां तस्य तादृक्सामर्थ्याभावात् तथा बहिरंतश्चाणुपारिमांडल्यादि प्रत्यक्षेण न प्रतिभासते तथा शक्त्यभावात्। अतोऽनुमानमनेकांतमते सफलमित्यर्थः।।

सूक्ष्म वस्तुएँ और क्षण-क्षण में पदार्थों का नाश होना आदि प्रत्यक्ष ज्ञान से नहीं दिखता है जैसे कि ज्ञान से उसमें होने वाले घटाकार को अलग करने की उपलब्धि नहीं होती है।।७।।

तात्पर्यवृत्ति— उपलब्धि लक्षण प्राप्त स्थूल को 'वीक्ष्य' कहते हैं। उसके सूक्ष्म अवयवों को 'अणु' कहते हैं। उन अणुओं का वर्तुलाकार परिमंडल कहलाता है। ये अणु परस्पर में भिन्न-भिन्न रहते हैं। क्षण-क्षण में भंग—नाश होना क्षण भंग है अर्थात् एक समय में नष्ट हो जाना। क्षणभंगादि में आदि शब्द से कार्य-कारण की सामर्थ्य आदि को लेना चाहिए। इनका अवीक्षण—प्रत्यक्ष से उपलब्ध न होना अर्थात् निश्चित ही सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष से वेक्षणभंग आदि नहीं दिखते हैं किन्तु उसके द्वारा स्थिर स्थूल साधारण आकार ही देखा जाता है। योगी प्रत्यक्ष ही उनको (क्षणवर्ती पर्यायों को) देखनें में समर्थ होता है इसलिए वहाँ—उस सूक्ष्म परमाणु आदि के आकार को और क्षणिक आदि को जानने में अनुमान ही जागता—प्रगट होता है। वही उनके निर्णय की सामर्थ्य रखता है।

सत्त्वात्, प्रमेयत्वात्, अर्थक्रियाकारित्वात् इत्यादि हेतुओं में कथंचित् अनेक, अनित्यादि धर्म व्याप्य होने से उनका अविनाभाव प्रसिद्ध है। इस प्रकृत अर्थ में दृष्टांत देते हैं—जैसे स्वसंवेदन के विषयाकार—घटादि आकार से विवेक—व्यावृत्ति की उपलब्धि नहीं होती है अर्थात् प्रत्यक्ष से ग्रहण नहीं होता है। जिस प्रकार आप सौगत के यहाँ ज्ञान के स्वरूप प्रतिभासन में बाह्य अर्थाकार का अभाव, विद्यमान होने से भी प्रतिभासित नहीं होता है क्योंकि उस ज्ञान में उस प्रकार के सामर्थ्य का अभाव है। उसी प्रकार बहिरंग-अंतरंग, अणु के वर्तुलाकार आदि प्रत्यक्ष से प्रतिभासित नहीं होते हैं, क्योंकि वैसी शक्ति का अभाव है इसलिए अनेकांत मत में अनुमान सफल है, यह अर्थ हुआ।

भावार्थ— 'अदृश्यपरचित्तादे' इत्यादि कारिका की टीका में श्री अभयचंद्रसूरि ने अंत में कहा कि बौद्ध के यहाँ प्रमाण से बाधित विषय के होने से 'सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्' इत्यादि अनुमानों में हेतु अकिंचित्कर या विरुद्ध ही हैं इसलिए उनके मत में अनुमान प्रमाण नहीं बनता है। तब उसने भी कह दिया कि आप स्याद्वादियों के यहाँ भी अनेकांतात्मक तत्त्व प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है पुनः आपके यहाँ भी अनुमान प्रमाण मानना व्यर्थ ही रहा।

तब आचार्यदेव ने उत्तर दिया कि आपके द्वारा मान्य अणु आदि के आकार और क्षण-क्षण का विनाश भी तो प्रत्यक्ष से ही नहीं दिख रहा है। उसको जानने के लिए अनुमान की आवश्यकता है ही है।

ननु मायात्सौगतमतेऽनुपलब्धिलिंगं कार्यस्वभावलिंगद्वयं भविष्यतीति चेत्तदपि न घटते इत्याह—

अनंशं बहिरंतश्च[१] प्रत्यक्षं तदभासनात्।
कस्तत्स्वभावो हेतुः स्यात्किं तत्कार्यं यतोऽनुमा।।८।।

यत् सौगतैः परिकल्पितं। बहिरचेतनमंतश्चेतनं। निरंशं अंशा द्रव्यक्षेत्रकालभावविभागास्तेभ्यो निष्कांतं निरंशं तदप्रत्यक्षं प्रत्यक्षाविषयः। कुतः तदभासनात् तस्य निरंशत्वस्याभासनादननुभवात्। न खलु द्रव्यादिविभागरहितं चिदचिद्वा तत्त्वं प्रत्यक्षबुद्धौ प्रतिभासते। तत्र नित्यानित्याद्यनेकांशव्यापित्वेन वस्तुनः प्रतीतेः। ततस्तस्य निरंशस्य प्रत्यक्षतोऽसिद्धस्य स्वभावो धर्मः को हेतुर्लिंगं स्यात्। न कोऽपीत्यर्थः। प्रमाणतोऽसिद्धस्याहेतुत्वात्। तस्य कार्यं च, किं नु हेतुः स्यात्। सर्वथानिरंशस्यापरिणामिनः कार्यकरणायोगात्।

अर्थात् बौद्ध का कहना है कि प्रत्येक दिखने योग्य स्थिर स्थूल घट आदि वस्तु में जितने भी परमाणु हैं वे प्रत्येक वर्तुलाकार हैं और परस्पर में भिन्न-भिन्न हैं तथा प्रत्येक पदार्थ एक क्षण ठहरता है। अनंतर क्षण में ही नष्ट हो जाता है तथा कार्य और कारण की शक्ति भी दिखती नहीं है।

आचार्यों का कहना है कि इन अदृश्य वस्तुओं के जानने के लिए अनुमान प्रमाण मानना बहुत जरूरी है क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान से उन सूक्ष्मादि का प्रतिभासन नहीं होता है प्रत्युत् स्थिर, स्थूल आदि का और अनेक क्षण रहने वाली वस्तु का ही ज्ञान होता है।

उत्थानिका—बौद्ध के मत में 'अनुपलब्धि हेतु मत सिद्ध होवे किन्तु कार्य हेतु और स्वभाव हेतु ये दो हेतु होवेंगे परन्तु वे दोनों हेतु भी नहीं घटते हैं, आचार्य ऐसा कहते हैं—

अन्वयार्थ—(बहिरंतः च अनंशं) बहिरंग और अंतरंग निरंश तत्त्व (अप्रत्यक्षं) प्रत्यक्ष नहीं है (तत् अभासनात्) क्योंकि वह प्रतिभासित नहीं होता है पुनः (तत्स्वभावः कः हेतुः) उस अनंश का कौन स्वभाव हेतु (स्यात्) होगा (तत्कार्यं किं) और उसका क्या कार्य होगा (यतः अनुमा) कि जिससे अनुमान (स्यात्) हो सके अर्थात् नहीं हो सकता है।।८।।

अर्थ—बहिरंग और अंतरंग अनंश तत्त्व प्रत्यक्ष का विषय नहीं है क्योंकि उस अनंश का प्रतिभास नहीं होता है पुनः उस अनंश का कौन सा स्वभाव हेतु होगा और उसका क्या कार्य होगा कि जिससे अनुमान हो सके।।८।।

तात्पर्यवृत्ति—सौगत के द्वारा परिकल्पित जो बाह्य—अचेतन और अंतरंग—चेतन वस्तुएं हैं जो कि निरंश हैं वे प्रत्यक्ष के ज्ञान का विषय नहीं हैं। यहाँ द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के विभाग को अंश कहते हैं उनसे निष्क्रांत—रहित वस्तु निरंश कहलाती है।

प्रश्न—ये निरंश चेतन-अचेतन आदि क्यों प्रमाण के विषय नहीं हैं ?

उत्तर—क्योंकि वह निरंशपना प्रतिभासित नहीं होता है अर्थात् अनुभव में नहीं आता है। द्रव्य, क्षेत्र आदि के विभाग से रहित चेतन अथवा अचेतन तत्त्व प्रत्यक्षज्ञान में प्रतिभासित होते हैं। उस ज्ञान में नित्यानित्यादि अनेक अंशों में व्यापी होने रूप वस्तु की प्रतीति होती है इसलिए प्रत्यक्ष से असिद्ध उस निरंश वस्तु का कौन स्वभाव—धर्म हेतु हो सकेगा अर्थात् कोई भी स्वभाव हेतु नहीं होगा क्योंकि जो प्रमाण से असिद्ध है वह अहेतु है—हेतु नहीं हो सकता है।

और उस निरंश का क्या कार्य है जो कि हेतु हो सके क्योंकि सर्वथा निरंश और अपरिणामी में कार्य

---

१. (चाप्रत्यक्षं) न्यायकुमुदचन्द्र।

यतोऽनुमा भवेदित्याक्षेपवचनं न कुतोऽपीत्यर्थः। तन्न सौगतमतेऽनुमानं प्रामाण्यमास्कंदत्यनुपपत्तेः।।

किं चानुमानं विकल्पात्मकं सौगतमते न सिद्ध्यत्येवेति प्रतिपादयति—

धीर्विकल्पाविकल्पात्मा बहिरंतश्च किं पुनः।।
निश्चयात्मा स्वतः सिद्ध्यत्परतोऽप्यनवस्थितेः।।९।।

किं पुनः सिद्ध्येत् न सिद्ध्येदित्यर्थः। का धीर्बुद्धिः। किंविशिष्टा निश्चयात्माऽनुमानबुद्धिरित्यर्थः। पुनरपि कथंभूता विकल्पाविकल्पात्मा विकल्पो व्यवसायः अविकल्पोऽव्यवसायः तावात्मानौ यस्याः सा तथोक्ता। क्व बहिरंतश्च अत्र यथासंख्यमभिसंबंधः कर्तव्यः। बहिर्घटादिविषये विकल्पात्मा अंतः स्वरूपे निर्विकल्पात्मा चेति। कुतो न सिद्ध्येत् स्वतः स्वसंवेदनात्तस्य निर्विकल्पकत्वेन विकल्पाविषयत्वात्। सर्वचित्तचैत्तानामात्म-संवेदनं स्वसंवेदनमिति वचनात्। न केवलं स्वतः, अपि तु परतोऽपि किं पुनः

कारण भाव का अभाव है। 'प्यतोऽनुमा' —कि जिससे अनुमान हो सके यह आक्षेप वचन है अर्थात् किसी प्रकार से भी अनुमान नहीं बन सकता है इसलिए सौगत के मत में अनुमान, प्रमाणता को नहीं प्राप्त होता है। अनुपपत्ति होने से अर्थात् इनके यहाँ अनुमान प्रमाण घटित नहीं होता है।

भावार्थ—बौद्ध ने चेतन-अचेतन सभी वस्तुओं को द्रव्यक्षेत्रादि अंश भागों से रहित निरंश माना है अतएव आचार्य कहते हैं कि उस निरंश का स्वभाव तो क्या है और कार्य भी क्या है ? उसमें कुछ स्वभाव मानें तो अंश कल्पना हो जायेगी और उसका कुछ कार्य मानें तो कार्य-कारण भाव से भी अंशकल्पना हो जाती है और जब उसका स्वभाव तथा कार्य सिद्ध नहीं हुआ, तब स्वभाव हेतु कार्य हेतु के बिना अनुमान का होना सुतरां असंभव है जैसे कि बंध्या के पुत्र के बिना उसको आकाश के फूलों की माला पहनाना असंभव है।

उत्थानिका—और दूसरी बात यह है कि अनुमान विकल्पात्मक है वह सौगत के मत में सिद्ध ही नहीं हो सकता है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

अन्वयार्थ—(बहिः अंतः च) बहिरंग और अंतरंग पदार्थ में (विकल्पाविकल्पात्मा) विकल्परूप और अविकल्पस्वरूप (निश्चयात्मा धीः) अनुमान ज्ञान (किं पुनः स्वतः सिद्ध्येत्) क्या पुनः स्वतः सिद्ध हो सकता है (परतोऽपि) पर से भी (क्या पुनः सिद्ध हो सकता है ?) (अनवस्थितेः) क्योंकि अनवस्था आती है।।९।।

अर्थ—बाह्य विषय में विकल्पात्मक और अंतरंग विषय में—स्वरूप में अविकल्पात्मक ऐसा निश्चयात्मा—अनुमान ज्ञान क्या पुनः स्वतः सिद्ध हो सकता है ? अर्थात् नहीं। और पर से भी नहीं सिद्ध हो सकता है क्योंकि अनवस्था आ जाती है अर्थात् आपके यहाँ अनुमान ज्ञान पर—घटादि को जानने में विकल्पस्वरूप है और स्वरूप में निर्विकल्प है, ऐसा अनुमानज्ञान स्वतः स्वसंवेदन से अथवा पर से विकल्पांतर सिद्ध नहीं हो सकता है।।९।।

तात्पर्यवृत्ति—अनुमान ज्ञान को निश्चयात्मा कहते हैं। विकल्प को व्यवसाय निश्चय और अविकल्प को अव्यवसाय कहते हैं। बाह्य—घट पटादि के विषय में विकल्पात्मक और अंतःस्वरूप में निर्विकल्पात्मक अनुमान ज्ञान पुनः कैसे सिद्ध हो सकता है अर्थात् सिद्ध नहीं हो सकता है।

प्रश्न—कैसे सिद्ध नहीं होता है ?

उत्तर—स्वतः अर्थात् स्वसंवेदन से सिद्ध नहीं होता है ? क्योंकि वह स्वसंवेदन निर्विकल्प होने से

सिद्ध्यति परस्माद्विकल्पांतरादपि न सिद्ध्यतीत्यर्थः। कुतः अनवस्थितेः तदपि विकल्पांतरतः स्वतो न सिद्ध्यत्यगोचरत्वात्। तत्रापि तत्सिद्ध्यर्थं विकल्पांतरं कल्पनीयमिति क्वचिदप्यनुपरमात्। ततोऽनुमानस्यासिद्धेः कथं बौद्धकल्पितः प्रमाणसंख्यानियमो घटत इति भावः।।

ननु भवतामपि प्रमाणद्वैविध्यनियमो न व्यवतिष्ठते उपमानस्य प्रमाणांतरस्यासंग्रहादिति नैयायिकादिप्रत्यवस्थां विहस्तयँस्तन्मतेऽपि संख्यानियमं विघटयति—

उपमानं प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात्साध्यसाधनं।।
तद्वैधर्म्यात्प्रमाणं किं स्यात्संज्ञिप्रतिपादनं।।१०।।

विकल्प को विषय नहीं करता है। ''सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं स्वसंवेदनम्'' अर्थात् सभी ज्ञान क्षणों का स्वरूप संवेदन ही स्वसंवेदन है ऐसा आप बौद्धों का वचन है। केवल स्वतः ही नहीं किंतु पर से भी कैसे सिद्ध होगा ? अर्थात् पर—विकल्पांतर से भी सिद्ध नहीं होता है।

प्रश्न—पर से क्यों नहीं सिद्ध होता है ?

उत्तर—अनवस्था आ जाने से सिद्ध नहीं होता है अर्थात् विकल्पात्मक अनुमान को सिद्ध करने के लिए एक दूसरा विकल्प ज्ञान लाये, पुनः उसकी सिद्धि के लिए तीसरा विकल्पज्ञान लाना पड़ेगा क्योंकि वह भी विकल्प को विषय न करने से स्वतः सिद्ध नहीं है और उस तीसरे को सिद्ध करने के लिए पुनः एक विकल्पांतर की कल्पना करनी पड़ेगी। इस प्रकार से बहुत दूर जाकर कहीं पर भी उपरति न होने से अनवस्था आ जाती है इसलिए अनुमान की सिद्धि न होने से बौद्ध के द्वारा कल्पित प्रमाण की संख्या (दो) का नियम भी कैसे घटित हो सकेगा, अर्थात् नहीं हो सकेगा यह भाव हुआ।

भावार्थ—बौद्धों का कहना है कि अनुमान ज्ञान निश्चयात्मक है और वह बाह्य पदार्थों का निश्चय करता है किन्तु अपने स्वरूप में निर्विकल्प है। यहाँ आचार्य कहते हैं कि ऐसा अनुमान ज्ञान स्वतः तो सिद्ध नहीं हो सकता है क्योंकि स्वसंवेदन में तो वह निर्विकल्प ही रहा तथा पर से सिद्धि मानने से तो उस पर की सिद्धि पर से पुनः पर की सिद्धि पर से मानते चलिए, कहीं भी विराम न होने से अनवस्था आ जाती है अतः आप बौद्धों के यहाँ अनुमान ज्ञान के सिद्ध न होने से आपके द्वारा मान्य प्रमाण की दो संख्या का नियम समाप्त हो जाता है।

उत्थानिका—आप जैन के यहाँ भी प्रमाण के दो विध का नियम नहीं टिकता है क्योंकि आपने उपमान नाम के एक भिन्न प्रमाण को संगृहीत नहीं किया है। इस प्रकार से कहने वाले नैयायिक आदि की व्यवस्था को आड़े हाथ लेते हुए उनके मत में भी संख्या के नियम को विघटित करते हैं—

अन्वयार्थ—(प्रसिद्धार्थ साधर्म्यात् साध्यसाधनं) प्रसिद्ध अर्थ की सदृशता से साध्य को सिद्ध करने वाला (उपमानं) उपमान है। पुनः (वैधर्म्यात्) विसदृशता से (होने वाला साध्य का ज्ञान (तत् किं प्रमाणं स्यात्) वह क्या प्रमाण होगा ? (संज्ञिप्रतिपादनं) तथा संज्ञी—वाच्य का प्रतिपादन करने वाला ज्ञान—संज्ञा-संज्ञी का संबंध ज्ञान (तत् किं प्रमाणं स्यात्) वह क्या प्रमाण होगा ?।।१०।।

अर्थ—'प्रसिद्ध अर्थ की सदृशता से साध्य को सिद्ध करने वाला ज्ञान उपमान प्रमाण है।' तब तो उस प्रसिद्ध अर्थ की विसदृशता से होने वाला साध्य का ज्ञान कौन सा प्रमाण होगा ? तथा संज्ञी—वाच्य का प्रतिपादन करने वाला—संज्ञा और संज्ञी का संबंध ज्ञान भी कौन सा प्रमाण होगा ? अर्थात् इनको भी पृथक् प्रमाण मानने

अत्र यदित्येतदध्याह्रियते। प्रसिद्धप्रमाणेन निश्चितोऽर्थो गोरूपस्तेन साधर्म्यात् सादृश्यात्। उपजायमानं साध्यस्य ज्ञेयस्य तत्सादृश्यविशिष्टस्य गवयलक्षणस्य साधनं गोसदृशो गवय इति ज्ञानं ह्युपमानं प्रमाणांतरमभ्युपगम्यते। तदा तद्वैधर्म्यात् प्रसिद्धार्थवैसादृश्यादुपजायमानं साध्यसाधनं गोविलक्षणो महिष इति ज्ञानं। किं प्रमाणं स्यात् तस्य किं नामेत्याक्षेपः। न हि तदुपमानमेव तल्लक्षणाभावात्। नापि प्रत्यक्षादि भिन्नविषयत्वाद्भिन्नसामग्रीप्रभवत्वाच्च। तथा संज्ञिनो वाच्यस्य प्रतिपादनं च विवक्षितसंज्ञाविषयत्वेन संकलनं यथा वृक्षोऽयमिति। तदपि किं नाम प्रमाणं स्यादित्याक्षिप्यते। न खलु संज्ञासंज्ञिसंबंधज्ञानमप्रमाणं आगमप्रामाण्यविलोपापत्तेः। उपमानाप्रमाण्यापत्तेश्च।।

एतदेव समर्थयते —

प्रत्यक्षार्थांतरापेक्षा संबंधप्रतिपद्यतः।।
तत्प्रमाणं न चेत्सर्वमुपमानं कुतस्तथा।।११।।

पड़ेंगे। तब आपकी प्रमाण संख्या का व्याघात हो जावेगा इसलिए उपमान को भी पृथक् मत मानिये।।१०।।

तात्पर्यवृत्ति — यहाँ पर 'यत्' इस पद का अध्याहार करना चाहिए। प्रसिद्ध प्रमाण से निश्चित गोरूप अर्थ के सादृश्य धर्म से उत्पन्न हुआ साध्य — ज्ञेयरूप उस सादृश्य धर्म से विशिष्ट गवयलक्षण को सिद्ध करता है अर्थात् 'गाय के सदृश गवय है' इस प्रकार का जो ज्ञान है वह उपमान नाम का भिन्न प्रमाण है। यदि आप नैयायिक इस तरह उपमान को भिन्न प्रमाण स्वीकार करते हैं तब तो आपको उस गाय के रूप से वैधर्म्य से प्रसिद्ध हुई अर्थ की विसदृशता से उत्पन्न हुआ और साध्य को सिद्ध करने वाला जो ज्ञान है वह 'गाय से विलक्षण महिष है' इस प्रकार का ज्ञान कौन सा प्रमाण है ? अर्थात् उसका क्या नाम है ? इसको भी आप उपमान ही नहीं कह सकते क्योंकि उसके लक्षण का अभाव है। इसे आप प्रत्यक्ष आदि प्रमाण भी नहीं कह सकते, क्योंकि यह भिन्न विषय वाला है और भिन्न सामग्री से उत्पन्न हुआ है।

उसी प्रकार से संज्ञी — वाच्य प्रतिपादन करना, विवक्षित संज्ञा के विषय रूप से संकलन करना; जैसे — 'यह वृक्ष है'। ऐसा ज्ञान, वह भी किस नाम वाला प्रमाण होगा ? अर्थात् उपमान प्रमाण को पृथक् मानने से तो आपको अनेकों प्रमाण मानने पड़ेंगे। संज्ञा और संज्ञी (नाम-नाम वाले) के संबंध का ज्ञान अप्रमाण भी नहीं है अन्यथा आगम प्रमाण का लोप हो जावेगा और उपमान भी अप्रमाण हो जावेगा।

भावार्थ — नैयायिक उपमान को एक पृथक् प्रमाण मानता है किन्तु आचार्यों का कहना है कि इस तरह तो विसदृश धर्म आदि के निमित्त से हुए ज्ञानों को आप भिन्न -भिन्न प्रमाण मानते चलिए, यह दूषण दिया है। वास्तव में हम जैनों के यहाँ तो इस उपमान आदि प्रमाणों को प्रत्यभिज्ञान प्रमाण में गर्भित किया है और सादृश्य प्रत्यभिज्ञान आदि नाम दिये हैं इसलिए हमारे यहाँ कोई दूषण नहीं आता है।

उत्थानिका — इसी उपर्युक्त कथन का ही समर्थन करते हैं —

अन्वयार्थ — (यतः) जिस ज्ञान से (प्रत्यक्षार्थान्तरापेक्षा) प्रत्यक्ष से भिन्न अर्थ की अपेक्षा रखने वाला (संबंध प्रतिपत्) वाच्य-वाचक भावरूप संबंध का ज्ञान होता है (चेत् तत् प्रमाणं न) यदि वह ज्ञान प्रमाण नहीं है, तो (तथा सर्वं उपमानं कुतः) उसी प्रकार से सभी उपमान प्रमाण कैसे होंगे ?।।११।।

अर्थ — जिस ज्ञान से प्रत्यक्षार्थान्तर की अपेक्षा करने वाले संबंध का ज्ञान होता है यदि वह ज्ञान प्रमाण नहीं है तब उसी प्रकार से सभी उपमान प्रमाण कैसे होंगे ?।।११।।

भावार्थ — यदि आप उपमान को एक पृथक् प्रमाण मानते हो तो वाच्य-वाचक के संबंध का ज्ञान

यतो यस्माज्ज्ञानाद्भवति। का संबंधप्रतिपत् संबंधस्य वाच्यवाचकभावस्य प्रतिपत् ज्ञप्तिः। किंविशिष्टा प्रत्यक्षार्थांतरापेक्षा प्रकृतात् शब्दलक्षणादर्थादन्योऽर्थोऽर्थांतरं प्रत्यक्षं च तदर्थांतरं च प्रत्यक्षार्थांतरं वृक्षादि तत्तथोक्तं। तस्यापेक्षा यस्यां सा प्रत्यक्षार्थांतरापेक्षा। तज्ज्ञानं चेद्यदि न प्रमाणं स्यात्तदा तर्हि सर्वं नैयायिकमीमांसकादिकल्पितं उपमानं कुतः प्रमाणं स्यादविशेषात्। न हि सादृश्यसंबंधज्ञानं प्रमाणं न पुनर्वाच्यवाचकसंबंधज्ञानमिति विशेषोऽस्ति। ततः संज्ञासंज्ञिसंकलनमपि प्रमाणांतरमेव भविष्यतीति कुतः प्रमाणसंख्यानियमः।।

न केवलमेतदेव प्रमाणांतरमपि तु अन्यदपीति दर्शयन्नाह—

इदमल्पं महद् दूरमासन्नं प्रांशु नेति वा।।
व्यपेक्षातः समक्षेऽर्थे विकल्पः साधनांतरं।।१२।।

साधनांतरं प्रमाणांतरं स्यात्। किं विकल्पो निश्चयः। तस्योल्लेखमाह—इदमस्मादल्पं। इदमस्मान्महत्। इदमस्मादा[१]सन्नं। इदमस्मात्प्रांशु दीर्घं। इदमस्मान्न प्रांशु इति। वाशब्दः परस्परसमुच्चये। कस्मिन् समक्षे

आदि जितने भी जोड़रूप ज्ञान होंगे, सभी को प्रमाण मानना पड़ेगा।

तात्पर्यवृत्ति—जिस ज्ञान से प्रत्यक्ष अर्थांतर—उससे भिन्न अर्थ की अपेक्षा करने वाला वाच्य-वाचक भावरूप संबंध का ज्ञान होता है अर्थात् प्रकृत शब्द लक्षण से भिन्न अर्थ अर्थांतर है, 'वृक्षादि' प्रत्यक्ष अर्थांतर हैं, उनकी अपेक्षा जिस ज्ञान को है, वह प्रत्यक्ष अर्थांतर की अपेक्षा वाला ज्ञान कहलाता है। वह ज्ञान यदि प्रमाण न होवे, तब तो सभी नैयायिक, मीमांसक आदि के द्वारा कल्पित सभी उपमान कैसे प्रमाण हो सकते हैं ? क्योंकि दोनों जगह कोई अंतर नहीं है। सादृश्य संबंधी ज्ञान प्रमाण है किन्तु वाच्य वाचक संबंधी ज्ञान प्रमाण नहीं है, इस प्रकार का अंतर तो है नहीं। इसलिए संज्ञा और संज्ञी का संकलन—जोड़ रूप ज्ञान भी एक भिन्न प्रमाण हो ही जायेगा इसलिए आप लोगों के द्वारा मान्य प्रमाण की संख्या का नियम कैसे बनेगा ?

उत्थानिका—न केवल ये ही प्रमाणांतर है अपितु अन्य भी हैं, ऐसा दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(इदं अल्पं महत्) यह अल्प है, बहुत है, (दूरं आसन्नं) दूर है, निकट है, (प्रांशुं वा न इति) यह दीर्घ है अथवा दीर्घ नहीं है—ह्रस्व है, इस प्रकार (व्यपेक्षातः) अपेक्षा से (समक्षे अर्थे) प्रत्यक्ष अर्थ में (विकल्पः) जो विकल्प हैं (साधनांतरं) वे प्रमाणांतर हैं।।१२।।

अर्थ—यह अल्प है, यह बहुत है, यह दूर है, यह निकट है, यह दीर्घ है, यह दीर्घ नहीं है, इस प्रकार अपेक्षा से प्रत्यक्ष अर्थ में जो विकल्प—निश्चय हैं वे सभी प्रमाणांतर हैं।।१२।।

तात्पर्यवृत्ति—यह इससे अल्प है, यह इससे महान् है, यह इससे दूर है, यह इससे आसन्न है, यह इससे दीर्घ है, यह इससे दीर्घ नहीं है। यहाँ कारिका में 'वा' शब्द परस्पर समुच्चय अर्थ में है। किस विषय में ? प्रत्यक्ष पदार्थ में व्यपेक्षा से—विरुद्ध-प्रतिपक्ष की अपेक्षा से कथंचित अजहद्वृत्ति—कथंचित् अपने स्वभाव को न छोड़ते हुए जो विकल्प—निश्चय होता है, वह भिन्न प्रमाण है।

इस प्रकार अल्प महत्व आदि का जोड़रूप ज्ञान पर के द्वारा मान्य प्रमाण की संख्या के नियम को विघटित कर देता है।

शंका—आप स्याद्वादियों के यहाँ भी इस प्रकार प्रमाण की संख्या का विधान कैसे नहीं होता है ?

समाधान—हमारे यहाँ तो परोक्ष के भेदरूप प्रत्यभिज्ञान में सादृश्य संकलन आदि सभी का अंतर्भाव

---

१. इदमस्माद्दूरं होना चाहिए।

प्रत्यक्षे पदार्थे। कुतः व्यपेक्षातः विरुद्धस्य प्रतिपक्षस्यापेक्षा कथंचिदजहद्वृत्तिस्तत इति। एवमल्पमहत्त्वादि-संकल्पनमपि परप्रमाणसंख्यानियमं विघटयतीत्यर्थः। ननु स्याद्वादिनामप्येवं प्रमाणसंख्या कथं न विहन्यत इति चेन्न। तन्मते परोक्षभेदे प्रत्यभिज्ञाने सादृश्यसंकलनादीनामंतर्भावात्। नन्वर्थापत्तेः प्रमाणांतरत्वमनुमंतव्यमेव तस्याः क्वाप्यनंतर्भावादिति चेन्न। अनुमानेंऽतर्भावात्। नदीपूरादेरुपरि वृष्ट्याद्यविनाभावित्वेन लिंगत्वात्। लिंगजज्ञानस्य चानुमानत्वात्। पक्षधर्मत्वाभावात्तस्यालिंगत्वमिति चेन्न। अपक्षधर्मस्यापि हेतुत्वसमर्थनात्। अविनाभावो हि गम्यगमकभावनिबंधनं नान्यत्। स चात्राप्यस्तीत्यर्थापत्तिरनुमानमेव। एतेनाभावः प्रमाणांतरमित्यपि निरस्तं। प्रत्यक्षादिप्रमाणस्यैव भावाभावात्मवस्तुविषयत्वेन तथा व्यवहारात्। न खल्वेकांततो भावविषयं प्रमाणमभावविषयं वा ततोऽर्थक्रियानुपपत्तेः। यद्यभावः स्वतंत्रः स्यात्तदा तद्ग्राहकप्रमाणांतरं कल्पनीयं। तस्य घटो नास्तीति भावतंत्रस्यैवोपलंभात्। भावग्राहकेणैव तद्ग्रहणात्। किं च भावग्राहक-ज्ञानादभावग्राहकं ज्ञानमन्यदेवेति निर्बंधे सामान्यग्राहकाद्विशेषग्राहकं नित्यत्वग्राहकादनित्यत्वग्राहकमपि प्रमाणांतरमेव भवेदिति न क्वाप्यवयविसिद्धिः स्यात्। तन्नाभावाख्यं प्रमाणांतरं विषयाभावात्केशोंडुक-ज्ञानवदिति सुस्थितं परोक्षं स्मृत्याद्यविशदज्ञानत्वादत्रैव सकलास्पष्टज्ञानानामंतर्भावादिति।।

हो जाता है।

शंका—अर्थापत्ति को प्रमाणांतर मानना ही चाहिए , क्योंकि उसका कहीं पर भी अंतर्भाव नहीं हो सकता है ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना, क्योंकि अनुमान में उसका अंतर्भाव हो जाता है। नदीपूर आदि से अनंतर वृष्टि आदि के अविनाभावी रूप से लिंगत्व है और लिंग से उत्पन्न हुआ ज्ञान अनुमान है।

शंका—पक्षधर्मत्व का अभाव होने से उसको लिंगपना नहीं है ?

समाधान—नहीं, पक्ष में जिसका धर्म नहीं है ऐसा अपक्ष धर्म वाला भी हेतु समर्पित है। गम्य गमक भाव निमित्तक ही अविनाभाव है, अन्य नहीं है और वह अविनाभाव यहाँ भी है इसलिए अर्थापत्ति अनुमान ही है। इस कथन से अभाव भी एक भिन्न प्रमाण है' ऐसा मानने वालों का भी खंडन कर दिया गया है क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाण में ही भावाभावात्मक वस्तु को विषय करने से वैसा व्यवहार होता है। ऐसा तो है नहीं कि भाव को ग्रहण करने वाला प्रमाण अथवा अभाव को विषय करने वाला प्रमाण कोई हो क्योंकि उससे अर्थक्रिया नहीं हो सकती है।

यदि अभाव स्वतंत्र होता तब तो उसको ग्रहण करने वाला एक भिन्न प्रमाण कल्पित करना ही चाहिए। उसमें 'घट नहीं है' इस प्रकार भाव के आश्रित की उपलब्धि होती है। भाव को ग्रहण करने वाले के द्वारा ही उसका ग्रहण होता है।

दूसरी बात यह है कि भावग्राहक ज्ञान से अभावग्राहक ज्ञान अन्य ही है। ऐसा मानने पर तो सामान्य ग्राहक ज्ञान से विशेष ग्राहक ज्ञान और नित्यत्वग्राहक ज्ञान से अनित्यत्वग्राहक ज्ञान भी भिन्न-भिन्न प्रमाण ही हो जावेंगे और इस प्रकार से तो कहीं पर भी अवयवी की सिद्धि नहीं हो सकेगी इसलिए 'अभाव' नाम का कोई भिन्न प्रमाण नहीं है क्योंकि उसके विषय का अभाव है, केशों में मच्छर ज्ञान के समान। इसलिए यहाँ यह सुस्थित हो गया कि 'स्मृति आदि ज्ञान परोक्ष हैं क्योंकि वे अविशद ज्ञान हैं और इसी परोक्ष में ही सकल अस्पष्ट ज्ञानों का अंतर्भाव हो जाता है।

भावार्थ—यह छोटा है, यह बड़ा है। इन दोनों ज्ञानों में एक-दूसरे की अपेक्षा है। जैसे—आंवले की

स्पष्टोऽकलंकचंद्रोद्भगवीभिर्विशदेतरः।।
तत्र प्रमाणभेदे स्यात्सौरी गौः किं न भासिनी।।१।।

इत्यभयचंद्रसूरिकृतौ लघीयस्त्रयतात्पर्यवृत्तौ स्याद्वाद-
भूषणायां परोक्षपरिच्छेदस्तृतीयः।।३।।

अपेक्षा बेल बड़ा है और बेल की अपेक्षा आंवला छोटा है, यहाँ अपेक्षा से होने वाला ज्ञान भी संकलन—जोड़रूप है इसे भी एक अलग प्रमाण कहना चाहिए। वैसे ही दूर-निकट के जोड़रूप, ह्रस्व-दीर्घ के जोड़रूप, आदि अनेकों भिन्न-भिन्न प्रमाण मानने चाहिए और उनके नाम बताने चाहिए। तब आप नैयायिक, मीमांसक आदि की मान्य संख्या खत्म हो जाती है तब उन लोगों ने कहा कि यह दोष तो आप जैनों को भी संभव है, किन्तु आचार्य ने कहा कि हमारे यहाँ परोक्ष के अंतर्गत एक प्रत्यभिज्ञान प्रमाण है जिसमें ये सभी भेद सम्मिलित हो जाते हैं।

मीमांसक ने कहा कि 'अर्थापत्ति' को तो अलग प्रमाण मानना ही पड़ेगा। अर्थापत्ति—इसके होने पर होना, नहीं होने पर नहीं होना, जैसे—देवदत्त मोटा है किन्तु दिवस में नहीं खाता है, मतलब रात्रि में खाता है, इसे अर्थापत्ति कहते हैं। यह अनुमान में अंतर्भूत है क्योंकि इस अर्थापत्ति के बिना अनुमान होता ही नहीं है।

पुनः मीमांसक ने अभाव को एक स्वतंत्र प्रमाण मानना चाहा तब आचार्य ने कहा कि यदि भाव के विपक्षी अभाव का ग्राहक एक अभाव प्रमाण है तो नित्य के विपक्षी अनित्य आदि को ग्राहक प्रमाण भी मानना पड़ेगा। किन्तु ऐसा तो है नहीं अतः प्रत्यक्ष आदि प्रमाण ही भाव और अभावरूप सभी वस्तुओं को ग्रहण करने वाले हैं इसलिए जितने भी अस्पष्ट ज्ञान हैं वे सभी परोक्ष प्रमाण में शामिल हैं।

श्लोकार्थ—श्री भट्टाकलंकदेवरूपी चंद्रमा से प्रगट हुई किरणों के द्वारा विशदेतर—परोक्ष प्रमाण का स्पर्श किया गया है—स्पष्ट हुआ है। इस प्रमाण के भेद में श्री अभयचंद्रसूरि की वाणी प्रतिभासित करने वाली क्यों नहीं होगी ? अर्थात् श्री अकलंकदेव ने परोक्ष प्रमाण का स्पष्टरूप से वर्णन किया है, मेरे द्वारा बनाई गई तात्पर्यवृत्ति से आप सभी लोगों को उस प्रमाण का प्रतिभास—ज्ञान हो जावेगा।।१।।

इस प्रकार श्री अभयचंद्रसूरि कृत लघीयस्त्रय की स्याद्वादभूषण
नामक तात्पर्यवृत्ति में परोक्ष प्रमाण का वर्णन करने
वाला तृतीय परिच्छेद पूर्ण हुआ।

चतुर्थ परिच्छेद
(प्रमाणाभास)

एवं सम्यग्ज्ञानलक्षणप्रमाणं प्रत्यक्षपरोक्षभेदं द्रव्यपर्यायात्मकार्थविषयमज्ञाननिवृत्त्यादिफलं च प्रतिपाद्येदानीं प्रमाणाभासं निरूपयन्नाह—

प्रत्यक्षाभं कथंचित्स्यात्प्रमाणं तैमिरादिकं।।
यद्यथैवाविसंवादि प्रमाणं तत्तथा मतं।।१।।

स्याद्भवेत्। किं प्रत्यक्षाभं प्रत्यक्षप्रमाणाभासमित्यर्थः अक्षमिंद्रियानिंद्रियं प्रति नियतं प्रत्यक्षं ज्ञानमात्रं तदिवाभातीति व्युत्पत्तेः। किंविशिष्टं तैमिरादिकं तिमिरादागतं तैमिरं तदादिर्यस्याशुभ्रमणादेस्तथोक्तं। तत्किं स्यात् प्रमाणं भवति। कथं कथंचित् भावप्रमेयापेक्षया द्रव्यापेक्षया वा न सर्वथा प्रमाणाभासमेव। बहिरर्थाकारविषय एव ज्ञानस्य विसंवादात्। स्वरूपापेक्षया तस्याविसंवादात्। अत्राविनाभावं दर्शयति यदित्यादि—यत् ज्ञानं यथैव यावद्विषयावबोधनप्रकारेणाविसंवादि विसंवादो गृहीतार्थव्यभिचारस्तद्रहितं अविसंवादि तत् ज्ञानं तथा तावद्विषयावबोधनप्रकारेण प्रमाणं मतमिष्टं परीक्षकैरिति। तथाहि सर्वं संशयादिकं

चतुर्थ परिच्छेद
(प्रमाणाभास का वर्णन)

उत्थानिका—इस प्रकार सम्यग्ज्ञान लक्षण प्रमाण, प्रत्यक्ष-परोक्ष भेद, द्रव्य पर्यायात्मक अर्थ विषय और अज्ञाननिवृत्ति आदि फल, इन चारों को प्रतिपादित करके इस समय प्रमाणाभास का निरूपण करते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(प्रत्यक्षाभं) प्रत्यक्षाभास (तैमिरादिकं) तैमिर आदि ज्ञान (कथंचित्) कथंचित् (प्रमाणं स्यात्) प्रमाण हैं, (यत्) जो ज्ञान (यथा एव) जिस प्रकार से ही (अविसंवादि) अविसंवादी है (तत्) वह (तथा) उसी प्रकार से (प्रमाणं मतं) प्रमाण माना गया है।।१।।

अर्थ—प्रत्यक्षाभास तैमिर आदि ज्ञान कथंचित् प्रमाण हैं, जो ज्ञान जिस प्रकार से ही अविसंवादी है वह उसी प्रकार से प्रमाण माना गया है।।१।।

(संशय आदि कथंचित् प्रमाण हैं)

तात्पर्यवृत्ति—अक्ष—इंद्रिय और अनिंद्रिय के प्रति जो नियत है वह प्रत्यक्ष ज्ञानमात्र है उसके समान जो आभासित होता है वह प्रत्यक्षाभ—प्रत्यक्षाभास कहलाता है। वह कैसा है ? तिमिर से उत्पन्न हुआ ज्ञान तैमिरिक है, ऐसे ही और भी शीघ्र भ्रमण आदि ज्ञान होते हैं, वे प्रमाण हैं। वे कैसे प्रमाण हैं ? कथंचित् भाव प्रमेय की अपेक्षा से अथवा द्रव्य की अपेक्षा से वे सर्वथा प्रमाणाभास ही नहीं हैं किन्तु प्रमाण भी हैं। बाह्य पदार्थ के आकार को विषय करने में ही ज्ञान में विसंवाद आता है किन्तु स्वरूप की अपेक्षा उन ज्ञानों में विसंवाद नहीं है। इस विषय में अविनाभाव दिखलाते हैं—

जो ज्ञान जिस प्रकार ही—जितने विषय को जानने प्रकार से अविसंवादी है अर्थात् गृहीत अर्थ के विषय में व्यभिचार होना विसंवाद है उससे रहित अविसंवादी वह ज्ञान उसी प्रकार—उतने विषय को जानने के प्रकार से परीक्षकों ने प्रमाण इष्ट किया है—माना है। उसी को कहते हैं—

प्रमाणाभासं स्वरूपापेक्षया द्रव्यापेक्षया वा प्रमाणं भवति तत्राविसंवादित्वात्। यद्यत्राविसंवादि तत्तत्र प्रमाणं यथा रसे रसज्ञानं। अविसंवादि च संशयादिकं स्वरूपे द्रव्यरूपादौ वा। ततस्तत्र तत्कथंचित्प्रमाणमिति। विसंवाद एव खल्वप्रामाण्यनिबंधनं अविसंवादश्च प्रामाण्यनिबंधनमिति न्यायस्य सकलवादिसंमतत्वात्। सर्वथाप्रमाणाभासत्वस्य न्यायशून्यत्वात्। बहिःप्रमेयापेक्षायां प्रमाणं तन्निभं च ते इति वचनात्। न हि ज्ञानं स्वरूपे विसंवादि तस्याहंप्रत्ययसिद्धत्वात्। प्रसिद्धे च विषये प्रवर्तमानं कथमप्रमाणं स्यादिति।।

अथेदानीं यत्सौगतैः परिकल्प्यते विकल्पज्ञानं प्रत्यक्षाभासमिति तन्निराकुर्वन्नाह—

स्वसंवेद्यं विकल्पानां विशदार्थावभासनं।।
संहृताशेषचिंतायां सविकल्पावभासनात्।।२।।

भवतिं। किं स्वसंवेद्यं स्वेन तत्त्वज्ञानात्मना संवेद्यं ग्राह्यं स्वसंवेद्यं ज्ञानस्वरूपमित्यर्थः। वेद्यवेदका-कारद्वयाविरोधात् ज्ञानस्य अन्यथा अवस्तुत्वापतेः। किंविशिष्टं विशदार्थावभासनं अर्थस्य परमार्थसतोऽव-

---

'सभी प्रमाणाभास संशय आदि ज्ञान स्वरूप की अपेक्षा से अथवा द्रव्य की अपेक्षा से प्रमाण होते हैं क्योंकि उस विषय में अविसंवादी हैं। जो जिस विषय में अविसंवादी है वह उस विषय में प्रमाण है जैसे रस में रसज्ञान और संशय आदिक ज्ञान स्वरूप के विषय में अथवा द्रव्य रूपादि को विषय करने में अविसंवादी हैं इसलिए उन विषयों में वे कथंचित् प्रमाण हैं।

विसंवाद ही निश्चित रूप से अप्रमाणता का कारण है और अविसंवाद ही प्रमाणता का कारण है। इस प्रकार न्याय सभी वादीजनों सम्मत है। सर्वथा प्रमाणाभासता न्याय से शून्य है। "बहिः[१] प्रमेयापेक्षायां प्रमाणं तन्निभं च ते" बाह्य प्रमेय की अपेक्षा में प्रमाण और प्रमाणाभास दोनों होते हैं, ऐसा वचन है। ज्ञान अपने स्वरूप से विसंवादी नहीं है। क्योंकि वे 'अहं प्रत्ययं' से (मैं इस ज्ञान से) सिद्ध हैं और प्रसिद्ध विषय में प्रवर्तमान होते हुए अप्रमाण कैसे हो सकेंगे ?

भावार्थ—आचार्यश्री का ऐसा कहना है कि यदि संशय ज्ञान अपने स्वरूप में भी अप्रमाण हो जावे तब तो संशय न रहकर असंशय—सच्चा हो जावेगा अतः सभी ज्ञान अपने-अपने स्वरूप को बताने में सच्चे ही हैं और द्रव्यदृष्टि से ज्ञान सामान्य की अपेक्षा भी सच्चे ही हैं। हाँ, बाह्य पदार्थों को जानने के विषय में जहाँ पर विसंवादी होता है वहीं पर झूठा कहलाता है और जहाँ पर विसंवाद रहित होता है वहीं पर सच्चा कहा जाता है ऐसा समझना।

उत्थानिका—इस समय जो सौगतों ने विकल्पज्ञान को प्रत्यक्षाभास कल्पित किया है, उसका निराकरण करते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(विकल्पानां) विकल्पों में (विशदार्थावभासनं) विशद अर्थ को प्रतिभासित करने वाला ज्ञान (स्वसंवेद्यं) स्वसंवेद्य है, (संहृताशेषचिंतायां) वह अशेष विकल्पों के नष्ट हो जाने पर (सविकल्पावभासनात्) सविकल्प रूप के प्रतिभास से होता है।।२।।

अर्थ—विकल्पों में विशद अर्थ को प्रतिभासित करने वाला ज्ञान स्वसंवेद्य है, वह अशेष चिंता—विकल्पों के संहृत—नष्ट हो जाने पर सविकल्प रूप के प्रतिभास—अनुभव से होता है। अर्थात् 'यह गौ है, यह घट है', इत्यादि रूप से जो विकल्प ज्ञान होता है, वह विशद होने से प्रत्यक्ष है, प्रत्याक्षाभास नहीं है।।२।।

तात्पर्यवृत्ति—स्व-तत्त्वज्ञानरूप से संवेद्य—ग्राह्य अर्थात् ज्ञान का स्वरूप स्वसंवेद्य कहलाता है क्योंकि इसमें वेद्य और वेदक इन दोनों आकार का विरोध नहीं है अन्यथा ज्ञान अवस्तु हो जावेगा। वह ज्ञान कैसा है ? विशद अर्थ का अवभासी है विशद—स्पष्ट और परमार्थ सत्—वास्तविक पदार्थ का अवभासित

---

१. आप्तमीमांसा, कारिका।

भासनमवबोधनमर्थावभासनं। विशदं स्पष्टं तच्च तदर्थावभासनं च तत्तथोक्तं। केषां विकल्पानां घटोऽयं गौरयं शुक्लोऽयं गायकोऽयमित्यादि निश्चयज्ञानानां। कुतः सविकल्पावभासनात् विकल्पो जात्याद्याकारावबोधः सह विकल्पेनेति सविकल्पकं तस्यावभासनादनुभवात्। कदा संहृताशेषचिंतायां संहृता नष्टा अशेषाः स्मृत्यादयश्चिंता विकल्पा यस्यामवस्थायां सा तथोक्ता तस्यां। चक्षुरादिबुद्धौ जात्याद्याकारविशेषस्याव-बोधनस्याप्रतिहतत्वात्ततो विकल्पज्ञानस्य प्रत्यक्षाभासत्वमयुक्तमित्यर्थः।।

ननु स्वसंवेदनादिप्रत्यक्षबुद्धौ विकल्पा न संत्येवानुपलक्षणादिति प्रत्यवस्थां निराकुर्वन्नाह—

प्रतिसंविदितोत्पत्तिव्ययाः सत्योऽपि कल्पनाः।।
प्रत्यक्षेषु न लक्षेरंस्तत्स्वलक्षणभेदवत्।।३।।

न लक्षेरन् न विविच्येरन्। काः कल्पना विकल्पाः। केषु प्रत्यक्षेषु स्वसंवेदनादिषु। किंविशिष्टा अपि सत्योऽपि विद्यमाना अपि। पुनः कथंभूताः प्रतिसंविदितोत्पत्तिव्ययाः उत्पत्तिः स्वरूपलाभः व्ययोऽभावप्रत्ययः

करने वाला ज्ञान विशद अर्थावभासी है। किनमें विशद अर्थ प्रतिभासन होता है ? यह घट है, यह गौ है, यह शुक्ल है, यह गायक है इत्यादि विकल्पों का—निश्चय ज्ञानों में विशद अर्थ प्रतिभासन होता है। कैसे प्रतिभासित होता है ? विकल्प—जाति आदि आकार वाले ज्ञान सहित जो सविकल्पक ज्ञान है, उसके प्रतिभासन—अनुभव से प्रतिभासित होता है। कब प्रतिभासित होता है ? अशेष स्मृति आदि चिंता—विकल्पों के नष्ट हो जाने पर होता है अर्थात् चक्षु आदि के ज्ञान में जाति आदि आकार विशेष का जानना अप्रतिहत—निर्विघ्न रूप से होता है इसलिए विकल्प ज्ञान को प्रत्यक्षाभास कहना गलत है, यह अर्थ हुआ।

भावार्थ—'यह गौ है, यह घट है' इत्यादि विषयों में जो स्पष्ट रूप से पदार्थों का प्रतिभासन होता है वह स्वसंवेद्य है अर्थात् ज्ञानस्वरूप है। वह ज्ञान संपूर्ण स्मृति आदि विकल्पों की समाप्त दशा में जाति आदि आकार के विकल्प सहित होने वाले अनुभव से होता है इसलिए यह विकल्पों से अर्थ को स्पष्ट जानने वाला ज्ञान सविकल्पक है वह सच्चा है, प्रमाणाभास—असत्य नहीं है।

उत्थानिका—स्वसंवेदन आदि प्रत्यक्ष ज्ञान में विकल्प नहीं हैं क्योंकि वे दिखते नहीं हैं, इस पक्ष का निराकरण करते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(प्रतिसंविदितोत्पत्तिव्ययाः) प्रत्येक में अनुभव में आते हुए उत्पत्ति और व्ययरूप (कल्पनाः) विकल्प (सत्यः अपि) विद्यमान होते हुए भी (प्रत्यक्षेषु) प्रत्यक्ष ज्ञानों में (तत् न लक्षेरन्) वे लक्षित नहीं होते हैं (स्वलक्षण भेदवत्) जैसे स्वलक्षण में भेद नहीं जाना जाता है।।३।।

अर्थ—प्रत्येक प्राणियों में उत्पत्ति और व्यय—विकल्प विद्यमान होते हुए भी स्वसंवेदन आदि प्रत्यक्ष ज्ञानों में वे लक्षित नहीं होते हैं। उस विकल्प में स्वलक्षण के भेद के समान अर्थात् प्रत्येक संवेदन वालों में अनेकों विकल्प उत्पत्ति और व्ययरूप से मौजूद हैं फिर भी निर्विकल्प प्रत्यक्ष आदि ज्ञानों में वे जाने नहीं जाते हैं जैसे कि विकल्पज्ञान में स्वरूप का भेद जाना नहीं जाता है।।३।।

तात्पर्यवृत्ति—स्वसंवेदन आदि प्रत्यक्ष ज्ञानों में विद्यमान रहते हुए भी वे विकल्प लक्षित—विवेचित नहीं किये जाते हैं अर्थात् उन्हें कह नहीं सकते हैं। वे कैसे हैं ? उत्पत्ति—आत्मलाभ और व्यय—अभाव प्रतिसंविदित—प्रत्येक प्राणियों में उपलब्ध होने वाले ऐसे ये उत्पत्ति और व्ययरूप विकल्प हैं।

प्रतिसंविदितौ प्रतिप्राणिसमुपलब्धौ उत्पत्तिव्ययौ यासां तास्तथोक्ताः। न खलु सत्त्वं विना उत्पादव्ययवत्त्वमनुभूयते। अन्यथाऽतिप्रसंगात्। न चोत्पादव्ययवत्त्वं विकल्पानामसिद्धं कार्यकारणप्रबंधेन प्रवर्तमानत्वात्। न हि निर्विकल्पकाद्विकल्प उत्पत्तुमर्हति। तस्याकिंचित्करणत्वात् विकल्पोत्पादनशक्तिवैकल्यात्। ननु सतां विकल्पानां प्रत्यक्षबुद्धावनुपलक्षणे किं कारणमिति चेत्प्रतिपत्तुरशक्तिरप्रणिधानं चेति ब्रूमः। अत्र निदर्शनमाह—तदित्यादि। तेषां विकल्पानां स्वलक्षणं स्वरूपं तस्य भेदः सजातीयविजातीयव्यावृत्तिःस इव तद्वत्। अयमर्थः यथा प्रतीतोत्पादव्यया सत्यपि स्वलक्षणव्यावृत्तिः कल्पनासु न लक्ष्यते अनुमानत एव तत्सिद्धेः तथा प्रत्यक्षेषु कल्पना अपि न लक्ष्यंत इति। तर्हि कथमलक्षितानां तासां तत्राप्स्तित्वसिद्धिरिति चेन्न। पुनस्तद्विषयस्मरणान्यथानुपपत्त्या तत्सिद्धेः। संहृतसकलविकल्पावस्था ह्यश्वं विकल्पयतो गोदर्शनावस्था। तत्रापि गोदर्शनं निश्चयात्मकमेव पुनस्तद्विषयस्मरणान्यथानुपपत्तेः। यत्र निश्चयाभावस्तत्र स्मरणं नोत्पद्यते यथा गच्छत्तृणस्पर्शने। अस्ति च पुनः तत्स्मरणमित्यनुमानविकल्पास्तित्वसिद्धेः तत्स्वलक्षणव्यावृत्तिसिद्धिवत्। न हि तद्यावृत्तिरध्यक्षतः सिद्धा तथाऽननुभवनात्। ततः स्थितं निश्चयः प्रमाणमविसंवादादिति।।

एतदेव समर्थयमानः प्राह—

क्योंकि सत्त्व के बिना उत्पादव्ययवत्त्व अनुभव में नहीं आता है अन्यथा अतिप्रसंग हो जावेगा और विकल्पों में उत्पाद, व्ययपना असिद्ध भी नहीं है क्योंकि वह कार्य कारण के संबंध में प्रवर्तमान है। निर्विकल्प से विकल्प का होना भी शक्य नहीं है। वह निर्विकल्प अकिंचित्कर है, विकल्प को उत्पन्न करने की शक्ति से रहित है।

शंका—विकल्पों के मौजूद होने पर भी प्रत्यक्षज्ञान में नहीं दिखते हैं। इसका क्या कारण है ?

समाधान—जानने वाले का शक्ति का अप्रणिधान—उधर न लगना ही है ऐसा हम कहते हैं। इस विषय में दृष्टांत—उन विकल्पों के स्वलक्षण—स्वरूप का सजातीय विजातीय से व्यावृत्त होना भेद कहलाता है उसके स्वलक्षण के भेद के समान। यहाँ यह अर्थ हुआ कि जिस प्रकार प्रतीति के विषयभूत उत्पाद, व्यय विद्यमान होते हुए भी स्वलक्षण से व्यावृत्तिरूप कल्पनाओं में लक्षित नहीं होते हैं, वे अनुमान से ही सिद्ध हैं उसी प्रकार से निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञानों में कल्पना में भी लक्षित नहीं होती हैं।

शंका—तब तो नहीं दिखती हुई उन कल्पनाओं का उस ज्ञान में कैसे अस्तित्व सिद्ध होगा ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना, पुनः उस विषय के स्मरण की अन्यथानुपपत्ति से वे कल्पनाएं सिद्ध हैं अर्थात् ज्ञान में यदि कल्पनाएं न हों तब तो पुनः उनके विषय का स्मरण कैसे हो सकेगा ? इसलिए उनका अस्तित्व सिद्ध है।

संहृतसकल विकल्पावस्था अर्थात् अश्व का विकल्प करते हुए गौ को देखने की अवस्था है, उसमें भी गोदर्शन निश्चयात्मक ही है क्योंकि पुनः उसके विषय के स्मरण की अन्यथानुपपत्ति है। जहाँ निश्चय का अभाव है वहाँ स्मरण नहीं उत्पन्न होता है, जैसे—चलते हुए तृण का स्पर्श हो जाने पर स्मरण नहीं उत्पन्न होता है और पुनः उनका स्मरण होता है, इसलिए अनुमान में विकल्पों का अस्तित्व सिद्ध है। जैसे—उस विकल्प के स्वरूप की व्यावृत्ति सिद्ध है। उसकी व्यावृत्ति भी प्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं है क्योंकि वैसा अनुभव नहीं आता है। इसलिए यह बात सिद्ध हो गई कि निश्चय—विकल्पज्ञान प्रमाण है क्योंकि वह अविसंवादी है।

उत्थानिका—इसी का समर्थन करते हुए कहते हैं—

अक्षधीस्मृतिसंज्ञाभिश्चिंतयाऽऽभिनिबोधिकैः।।
व्यवहाराविसंवादस्तदाभासस्ततोऽन्यथा।।४।।

प्रमाणमित्यनुवर्तते। तेनाभिसंबंधादक्षध्यादीनां प्रथमांतत्त्वमर्थवशाद्विभक्तिविपरिणाम इति न्यायात्। तत एवं व्याख्यायते—अक्षधीस्मृतिसंज्ञाभिश्चिंतयाऽऽभिनिबोधिकैश्च व्यवहारे हानोपदानरूपेऽविसंवादाव्यभिचारः सकलव्यवहारिणां प्रतीतिसिद्धः। ततस्तानि प्रमाणं भवंतीत्यर्थः। अक्षैर्जनिता धीः अक्षधीः। सांव्यवहारिकप्रत्यक्षं। स्मृतिरतीतार्थावमर्शिनी। संज्ञा प्रत्यभिज्ञा। चिंता तर्कः आभिनिबोधिकमनुमानं। अभिनिबोधो हेतोरन्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयस्तत्र भवमाभिनिबोधिकमिति व्याख्यानात्। एतैश्च प्रमेयं परिच्छेद्य प्रवर्तमानो हानादिफले न विसंवाद्यते इति कथं न प्रामाण्यं तेषामिति। नन्वेवं तेषां प्रामाण्यं कथमित्याशंकां निराकरोति—ततो व्यवहाराविसंवादादन्यथा तद्विसंवादप्रकारेण। तदाभासः प्रमाणाभासोऽक्षाध्यादेरिति। न खल्वर्थक्रियाव्यभिचारिणः प्रमाणत्वमतिप्रसंगात्। तत्र प्रत्यक्षाभासाः संशयविपर्यासानध्यवसायादर्शनादयः।

अन्वयार्थ—(अक्षधीः) इंद्रियज्ञान—मतिज्ञान (स्मृतिसंज्ञाभिः) स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, (चिंतया) तर्क और (आभिनिबोधकैः) अनुमान ज्ञानों के द्वारा (व्यवहाराविसंवादः) व्यवहार में अविसंवादी है (अतः प्रमाण हैं) (ततः) इनसे (अन्यथा) अन्य प्रकार से—व्यवहार में विसंवादी होने से (तदाभासः) प्रमाणाभास हैं।।४।।

अर्थ—इन्द्रियज्ञान—मतिज्ञान स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान ज्ञानों के द्वारा व्यवहार में अविसंवादी है। इनसे अन्य प्रकार से—व्यवहार में विसंवादी होने से प्रमाणाभास हैं।।४।।

(प्रमाण और प्रमाणाभास)

तात्पर्यवृत्ति—'प्रमाण' यह अनुवृत्ति में चला आ रहा है। उससे अभिसंबंध करने से अक्षधी आदि में प्रथमान्त विभक्ति करके अर्थ करना चाहिए। यहाँ 'अर्थवशाद्विभक्तिविपरिणामः' इस न्याय से अर्थ के निमित्त से विभक्ति में परिवर्तन हो गया है। इससे इस प्रकार व्याख्यान किया जाता है—अक्षधी, स्मृति, संज्ञा से, चिंता से और आभिनिबोधिक से हानोपादान रूप व्यवहार में अविसंवाद—अव्यभिचार सकल व्यवहारीजनों में प्रतीति से सिद्ध है इसलिए वे ज्ञान प्रमाण होते हैं, यह अर्थ हुआ।

अक्ष—इंद्रियों से उत्पन्न हुआ धी—ज्ञान अक्षधी है अर्थात् सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष को अक्षज्ञान कहते हैं। अतीत अर्थ का अवमर्श करने वाला ज्ञान स्मृति है। संज्ञा—प्रत्यभिज्ञान, चिंता—तर्क और आभिनिबोधिक—अनुमान। आभिनिबोध अर्थात् हेतु के अन्यथानुपपत्ति नियम का निश्चय, उसमें होने वाला आभिनिबोधिक है ऐसा व्याख्यान किया गया है। इन ज्ञानों के द्वारा प्रमेय—जानने योग्य विषय प्रवर्तन करता हुआ छोड़ने-ग्रहण करने आदि फल में विसंवाद को प्राप्त नहीं होता है इसलिए उन ज्ञानों को प्रमाणता क्यों नहीं होगी ?

शंका—इस प्रकार से उन ज्ञानों में प्रमाणता कैसे होगी ?

समाधान—ऐसी आशंका को हम दूर करते हैं—उसी व्यवहार में विसंवाद नहीं होने से वे प्रमाण हैं अन्यथा उस व्यवहार में विसंवाद होने से वे अक्षधी—सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष, स्मृति आदि ज्ञान तदाभास—प्रमाणाभास हो जाते हैं। निश्चित ही अर्थक्रिया से व्यभिचरित होने वाले को प्रमाणता नहीं है अन्यथा अति प्रसंग आ जावेगा।

(प्रमाणाभास के लक्षण)

संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय और अदर्शन आदि प्रत्यक्षाभास कहलाते हैं। जो वह नहीं है उसमें 'वह' इस प्रकार का परामर्शी ज्ञान स्मृत्याभास है। जो उस सदृश नहीं है उसमें 'यह उसके सदृश हैं' और जो वह

अतस्मिंस्तदिति परामर्शः स्मृत्याभासः। अतत्सदृशे तत्सदृशमिदमतस्मिंस्तदेवेद मित्यादि प्रत्यभिज्ञानाभासः। असंबद्धे व्याप्तिग्रहणं तर्काभासः। असिद्धविरुद्धानैकांतिकाकिंचित्कारा हेत्वाभासाः। प्रत्यक्षादिबाधितः साध्याभासः। साध्यसाधनोभयविकला दृष्टांताभासाः। विस्तरः परीक्षामुखालंकारादौ द्रष्टव्यः।।

अथेदानीं श्रुतज्ञानस्य प्रमाणेतरव्यवस्थां प्रतिपादयति—

प्रमाणं श्रुतमर्थेषु सिद्धं द्वीपांतरादिषु।।
अनाश्वासं न कुर्वीरन् क्वचित्तद्व्यभिचारतः।।५।।

व्यवहाराविसंवाद इत्यनुवर्तते। आप्तवचनादिनिबंधनं मतिपूर्वकमर्थज्ञानं श्रुतं तच्च प्रमाणं सिद्धमेव। केन सिद्धमिति चेत् व्यवहाराविसंवादादित्युच्यते। प्रत्यक्षादिवत्। केषु अर्थेषु प्रमेयेषु। कीदृक्षु द्वीपांतरादिषु प्रकृतो जम्बूद्वीपः। तस्मादन्ये धातकीखंडादयो द्वीपांतराणि तान्यादिर्येषां कालस्वभावव्यवहितानां ते तथोक्ताः तेषु। देशकालाकारविप्रकृष्टेष्वित्यर्थः। न हि श्रुतादर्थं परिच्छिद्य प्रवर्तमानो रसायनादिक्रियायां विसंवाद्यते ग्रहणादौ वा मलयादिप्राप्तौ वा। ततोऽनाश्वासमविश्वासं न कुर्वीरन् परीक्षकाः। कुतः क्वचित्तद्व्यभिचारतः

नहीं है उसमें 'यह वहीं है' इत्यादि ज्ञान प्रत्यभिज्ञानाभास हैं। जिसका आपस में संबंध नहीं है ऐसे असंबद्ध में व्याप्ति को ग्रहण करना तर्काभास है। असिद्ध, विरुद्ध, अनैकांतिक और अकिंचित्कर ये हेत्वाभास हैं। प्रत्यक्ष आदि से बाधित साध्याभास है। साध्य विकल, साधन विकल और उभयविकल ये दृष्टांताभास हैं। विस्तार से इनका लक्षण परीक्षामुखालंकार आदि ग्रंथों में देखना चाहिए।

उत्थानिका— अब इस समय श्रुतज्ञान में प्रमाण और प्रमाणाभास की व्यवस्था को प्रतिपादित करते हैं—

अन्वयार्थ— (द्वीपांतरादिषु) द्वीपान्तर आदि (अर्थेषु) पदार्थों में (श्रुतं) श्रुतज्ञान (प्रमाणं सिद्धं) प्रमाण सिद्ध है (क्वचित् तद् व्यभिचारतः) कहीं पर उसमें व्यभिचार होने से (अनाश्वासं) अविश्वास (न कुर्वीरन्) नहीं करना चाहिए।।५।।

अर्थ— द्वीपान्तर आदि पदार्थों में श्रुतज्ञान प्रमाण सिद्ध है, कहीं पर उसमें व्यभिचार होने से अविश्वास नहीं करना चाहिए।।५।।

(श्रुत की प्रमाणता-अप्रमाणता)

तात्पर्यवृत्ति— व्यवहार में अविसंवाद यह अनुवृत्ति में चला आ रहा है। आप्त के वचन आदि के निमित्त से होने वाला मतिपूर्वक अर्थज्ञान श्रुत कहलाता है और वह प्रमाण सिद्ध ही है।

प्रश्न— किस प्रकार से सिद्ध है ?

उत्तर— व्यवहार-त्याग-ग्रहण आदि में अविसंवादी होने से प्रत्यक्षादि ज्ञानों के समान प्रमेय अर्थों को जानने में वह प्रमाण सिद्ध है।

प्रश्न— वे प्रमेय क्या हैं ?

उत्तर— द्वीपान्तर आदि प्रमेय हैं। उन्हीं का स्पष्टीकरण करते हैं। प्रकृत जंबूद्वीप है, उससे अन्य धातकीखंड आदि द्वीपांतर कहलाते हैं। आदि शब्द से काल से और स्वभाव से व्यवहित— अत्यंत परोक्ष पदार्थों को ग्रहण करना अर्थात् देशकाल और आकार से विप्रकृष्ट— अत्यंत दूरवर्ती— पदार्थों में श्रुतज्ञान प्रमाण है।

श्रुत से अर्थ को जानकर प्रवृत्ति करता हुआ कोई भी पुरुष रसायन आदि क्रिया में अथवा ग्रहण आदि करने में या मलय— चंदन आदि की प्राप्ति में विसंवाद को प्राप्त नहीं होता है इसलिए परीक्षकजनों को अनाश्वास— अविश्वास नहीं करना चाहिए।

क्वचिन्नदीतीरे मोदकादिप्रतिपादने तस्य श्रुतस्य व्यभिचारो विसंवादस्तस्मात्। न हि क्वचिद्विसंवादादप्रामाण्ये ज्ञानस्य सर्वत्राप्रामाण्यं शंकनीयं प्रत्यक्षादिष्वपि तथात्वप्रसंगात् सकलव्यवहारविलोपापत्तेः। श्रुतविषये वादिनां विप्रतिपत्तिदर्शनादप्रामाण्यमिति चेत् प्रत्यक्षादावपि तत एवाप्रामाण्यमस्तु विशेषाभावात्। यथैव हि परलोकपुण्यपापसर्वज्ञादौ श्रुतविषये वादिनां विप्रतिपत्तिस्तथा प्रत्यक्षादिविषयेऽपि जीवाद्यर्थे सदसन्नित्यानित्यादिविप्रतिपत्तिरस्तीति। ततोऽविसंवाद[१]कृता प्रामाण्येतरव्यवस्था श्रुतस्यान्यस्य वा प्रतिपत्तव्या न्यायत्वात्।

श्रुतस्य सर्वत्राप्रामाण्यशंकायामतिप्रसंगं दर्शयति—

प्रायः श्रुतेर्विसंवादात्प्रतिबंधमपश्यतां।
सर्वत्र चेदनाश्वासः सोऽक्षलिंगधियां समः।।६।।

प्रश्न— कहीं-कहीं व्यभिचार देखा जाता है। जैसे—किसी नदी के किनारे लड्डू रखे हुए हैं इत्यादि रूप से प्रतिपादन करने पर उस श्रुत में व्यभिचार—विसंवाद देखा जाता है ?

उत्तर— ऐसा नहीं कहना, क्योंकि कहीं पर विसंवाद होने से ज्ञान को अप्रमाण मानने पर सभी जगह अप्रमाण की आशंका नहीं करना चाहिए अन्यथा प्रत्यक्ष आदि ज्ञानों में भी वैसे ही अप्रमाणता का प्रसंग हो जाने से सकल व्यवहार का ही लोप हो जावेगा।

प्रश्न— श्रुत के विषय में वादियों को विसंवाद देखा जाता है, इसलिए वह अप्रमाण है ?

उत्तर— प्रत्यक्षादि ज्ञानों में भी उसी हेतु से अप्रमाणता आ जावे, कोई अंतर नहीं है। जिस प्रकार से पर लोक, पुण्य, पाप, सर्वज्ञादि जो श्रुतज्ञान के विषय हैं इनमें वादियों को विसंवाद है उसी प्रकार से प्रत्यक्ष आदि ज्ञान के विषयभूत जीवादि पदार्थों में भी सत्-असत्, नित्य-अनित्य आदि रूप से विसंवाद होते हैं। इसलिए अविसंवाद (और विसंवाद) से की गई प्रमाणता और अप्रमाणता की व्यवस्था श्रुतज्ञान में अथवा अन्य ज्ञान में स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि यही न्याय रूप है।

भावार्थ— कुछ लोग आगम को प्रमाण नहीं मानते हैं इसलिए यहाँ आचार्य ने स्पष्ट किया है कि जैसे प्रत्यक्ष, अनुमान आदि ज्ञान जहाँ-जहाँ जिस-जिस विषय में अव्यभिचारी हैं वहाँ-वहाँ उस-उस विषय में प्रमाण हैं अन्यत्र व्यभिचारित होने से अप्रमाण हैं। वैसे ही श्रुतज्ञान भी सूक्ष्म—परमाणु आदि अंतरित राम, रावणादि और दूरवर्ती—हिमवान्, सुमेरु आदि विषयों में अविसंवादी होने से प्रमाण है और जहाँ व्यभिचारी हो जाता है वहाँ अप्रमाण है।

उत्थानिका— श्रुत को सर्वत्र अप्रमाण की आशंका करने पर अतिप्रसंग दोष को दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ— (प्रायः श्रुतेः विसंवादात्) कदाचित् आगम में विसंवाद होने से (प्रतिबंधं अपश्यतां) शब्द और अर्थ के संबंध को नहीं जानने वालों को (चेत् सर्वत्र अनाश्वासः) यदि सभी आगम में अविश्वास है तो (सः) वह अविश्वास (अक्षलिंगधियां समः) इंद्रिय ज्ञान और अनुमान ज्ञान में समान है।।६।।

अर्थ— प्रायः क्वचित् कदाचित् श्रुत—आगम में विसंवाद होने से उन शब्द और अर्थ के सहज योग्यता लक्षण संबंध को नहीं जानने वाले लोगों को यदि सर्वत्र—सभी आगम में अनाश्वास—अविश्वास रहेगा तब तो यह अविश्वास इंद्रिय ज्ञान और अनुमान ज्ञान में भी समान है अर्थात् आपके द्वारा मान्य प्रत्यक्ष और अनुमान भी क्वचित् विसंवादी होने से अविश्वासी हो जावेंगे।।६।।

---

१. विसंवाद भी हो सकता है।

चेद्यदि भवेत्। कः अनाश्वासः अविश्वासः। क्व सर्वत्र अविसंवादिश्रुतिप्रामाण्ये। केषां प्रतिबंधमपश्यतां शब्दार्थयोः सहजयोग्यतालक्षणं संबंधमनीक्षमाणानां सौगतानां। कस्मात् विसंवादात्। कस्याः श्रुतेरागमस्य। कथं प्रायः क्वचित्कदाचिदित्यर्थः। तदा सोऽनाश्वासः समः समानः। कासां अक्षलिंगधियां अक्षमिंद्रियं लिंगं हेतुः ताभ्यां जनिता धियो ज्ञानानि तासामपि प्रसक्तमित्यर्थः। क्वचित्कदाचिद्विसंवाददर्शनात्। अदुष्टकारणजन्यं प्रत्यक्षमनुमानं वा अर्थं न विसंवदतीति चेदाप्तवचनाददुष्टादुद्भूतं श्रुतमपि किं विसंवदेदिति समानं।

सर्वत्र श्रुतस्यानाश्वासेऽनिष्टांतरमावेदयति—

आप्तोक्तेर्हेतुवादाच्च बहिरर्थाविनिश्चये।।
सत्येतरव्यवस्था का साधनेतरता कुतः।।७।।

का भवेन्न काऽपीत्यर्थः। का सा सत्येतरव्यवस्था सत्यं सुगतवचनं इतरच्चासत्यं कपिलादिवचनं तयोर्व्यवस्था विभागः। तथा साधनेतरता च साधनं स्वेष्टसिद्धिनिबंधनं लिंगं सत्त्वादि इतरच्च साधनाभासं

तात्पर्यवृत्ति—प्रतिबंध को नहीं देखने वालों को अर्थात् शब्द और अर्थ के सहज योग्यता लक्षण संबंध को नहीं समझने वाले सौगतों को प्रायः क्वचित्-कदाचित् श्रुत—आगम के विसंवाद से यदि सर्वत्र—अविसंवादी श्रुत की प्रमाणता में विसंवाद हो जावे, तब तो वह अविश्वास समान है।

प्रश्न—किसके समान है ?

उत्तर—अक्ष—इन्द्रियाँ और लिंग—हेतु इनसे उत्पन्न होने वाले सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और अनुमान ज्ञानों के समान है अर्थात् इन प्रत्यक्ष और अनुमान ज्ञानों में भी क्वचित्-कदाचित् व्यभिचारी दिखने से अविश्वास हो जावेगा, यह अर्थ हुआ है।

प्रश्न—अदुष्ट—निर्दोष कारण से जन्य प्रत्यक्ष अथवा अनुमान ज्ञान पदार्थों में विसंवाद को प्राप्त नहीं होते हैं ?

उत्तर—यदि ऐसी बात है तो अदुष्ट—निर्दोष आप्त वचन से उत्पन्न हुआ श्रुत भी विसंवाद को क्यों प्राप्त होगा ? इस प्रकार दोनों जगह समान ही है।

भावार्थ—सौगत आगम को प्रमाण नहीं मानता है। आचार्यों ने समझाया है कि शब्द और अर्थ में एक सहज योग्यता लक्षण संबंध पाया जाता है। इस निमित्त से वह श्रुतज्ञान सर्वत्र अप्रमाणीक नहीं है अन्यथा प्रत्यक्ष और अनुमान ज्ञान भी सर्वत्र अप्रमाणीक हो जावेंगे। यदि कोई कहे कि निर्दोष कारण से उत्पन्न होने से प्रत्यक्ष और अनुमान ज्ञान नहीं है, तब तो हमारे यहाँ भी निर्दोष कारणरूप आप्त के वचन से उत्पन्न हुआ आगम रूप श्रुतज्ञान प्रमाणीक है, यह अर्थ हुआ।

उत्थानिका—सर्वत्र श्रुत में अविश्वास होने पर और भी अनिष्ट को बताते हैं—

अन्वयार्थ—(आप्तोक्तेः) आप्त के वचन से (हेतुवादात् च) और हेतुवाद से (बहिः अर्थाविनिश्चये) बाह्य अर्थ का निश्चय न मानने पर तो (सत्येतर व्यवस्था का) सत्य-असत्य की व्यवस्था क्या होगी ? और (साधनेतरता कुतः) साधन-असाधन की व्यवस्था कैसे होगी ?।।७।।

अर्थ—आप्त के वचन से और हेतुवाद से बाह्य अर्थ का निश्चय न मानने पर तो सत्य-असत्य की व्यवस्था क्या होगी ? और साधन-असाधन की व्यवस्था कैसे होगी ?।।७।।

तात्पर्यवृत्ति—सत्य—सुगत के वचन और इतर—असत्य कपिल आदि के वचन इन दोनों की व्यवस्था—विभाग क्या होगा ? अर्थात् कुछ भी नहीं होगा। उसी प्रकार साधन—अपने इष्ट की सिद्धि

तयोर्भावः साधनेतरता। साऽपि कुतः कस्माद्व्यवतिष्ठते इत्यर्थः। कस्मिन् सति बहिरर्थाविनिश्चये बहिरर्थस्य विप्रकृष्टस्य प्रमेयस्याविनिश्चयेऽप्रतीतौ। कस्मादाप्तोक्तेः यो यत्रावंचकः स तत्राप्तः तस्योक्तिर्वचनं ततः। न केवलमाप्तोक्तेरपि तु हेतुवादाच्च साधनप्रयोगाच्च। अयमर्थः आप्तोक्तेर्बहिरर्थाविनिश्चये सुगतेतरवचनयोः सत्येतरव्यवस्था का ? अर्थाविषयत्वाविशेषात्। हेतुवादाच्च बहिरर्थाविनिश्चये साधनेतरता कुतः बहिरर्थशून्यत्वाविशेषादिति।।

नन्वस्तु सुगतवचनस्याप्यप्रामाण्यं प्रत्यक्षानुमानयोरेव प्रामाण्यात्पुंसां विचित्राभिप्रायत्त्वेनार्थव्यभिचारादिति दाशबलशंकां निरस्यति—

पुंसश्चित्राभिसंधेश्चेद्वागर्थव्यभिचारिणी।।
कार्यं दृष्टं विजातीयाच्छक्यं कारणभेदि किं।।८।।

निमित्तक सत्त्वादि हेतु और इतर—हेत्वाभास इन दोनों का भाव साधनेतरता भी कैसे व्यवस्थित होगी ?

प्रश्न—कब ये दोष आएंगे ?

उत्तर—जो जहाँ पर अवंचक है वह वहाँ पर आप्त है, उसके वचन से, केवल आप्त के वचन से ही नहीं किन्तु हेतुवाद—साधन के प्रयोग से इन दोनों से बाह्य अर्थ विप्रकृष्ट—अत्यंत परोक्ष प्रमेय का निश्चय नहीं होने पर उपर्युक्त सत्य-असत्य व्यवस्था और साधन-साधनाभास की व्यवस्था नहीं हो सकेगी। अर्थ यह हुआ कि आप्त के कथन से यदि अर्थ की प्रतीति नहीं मानोगे तब तो आपके सुगत के वचन सत्य हैं और कपिलादि के वचन असत्य हैं यह व्यवस्था कैसे बनेगी ? क्योंकि अर्थ को विषय नहीं करना दोनों जगह समान है और हेतुवाद से भी बाह्य अर्थ का निश्चय नहीं मानने पर साधन-साधनाभास की व्यवस्था भी कैसे बनेगी, क्योंकि बाह्य अर्थ की शून्यता दोनों जगह समान है।

भावार्थ—यहाँ पर आचार्य ने सौगत को लक्ष्य करके ही श्रुत को प्रमाण मानने की पुष्टि की है कि यदि आप बुद्ध के वचन को प्रमाण नहीं मानोगे तो आपके बुद्ध सत्य हैं और उनके वचन सत्य हैं। अन्य संप्रदाय वालों के ईश्वर और उनके वचन असत्य हैं यह विभाग भी कैसे बनेगा ? अतः श्रुत को प्रमाण मान लेना उचित है।

उत्थानिका—सुगत के वचन को भी अप्रमाणता हो जावे क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमान को ही प्रमाणता है क्योंकि पुरुषों के विचित्र अभिप्राय होने से अर्थ में व्यभिचार आता है, इस प्रकार की दाशबल की शंका का निरसन करते हैं—

अन्वयार्थ—(चेत् चित्राभिसंधेः) यदि नाना अभिप्राय से (पुंसः वाक् अर्थ व्यभिचारिणी) पुरुष के वचन अर्थ को व्यभिचारित करते हैं, तब तो (विजातीयात् कार्यं दृष्टं) विजातीय कारण से कार्य विरोध रहित हो जावेगा (कारण भेदि किं शक्यं) पुनः कारण में भेद करना क्या शक्य होगा ?।।८।।

अर्थ—चित्र—नाना अभिप्राय से पुरुष के वचन यदि अर्थ को व्यभिचारित करते हैं तब तो विजातीय कारण से कार्य दृष्ट—विरोध रहित हो जावेगा, पुनः कारण का भेद करना क्या शक्य होगा ? अर्थात् नहीं होगा।।८।।

भावार्थ—यदि पुरुष के अभिप्राय भिन्न-भिन्न हैं अतः उनके वचन अर्थ में विसंवाद करते हैं इसलिए किसी को आप्त नहीं माना जा सकता, न उनके वचन ही अर्थ को सही कहने वाले माने जा सकते हैं तब तो

चेद्यदि। वागाप्तवचनं। अर्थव्यभिचारिणी बाह्यार्थविसंवादिनी स्यात्। कस्मात् चित्राभिसंधेः। चित्रः सत्यासत्यादिनानारूपोऽभिसंधिरभिप्रायो विवक्षा तस्मात्। कस्य पुंसो वक्तुः सरागा अपि वीतरागवच्चेष्टंते इति वचनात्। तर्हि विजातीयादपि कारणात् कार्यं दृष्टमविरुद्धं स्यात्। ततस्तत्कारणभेदि कारणं प्रतिनियतं स्वात्मलाभनिबंधनं भिनत्ति विजातीयाद्विशिनष्टीत्येवंशीलं किं शक्यं स्यान्न स्यादेवेत्यर्थः। तस्य यतः कुतश्चिदुत्पत्तेरविरोधात्। न खल्वनियतकारणजन्यं कार्यं कारणभेदं गमयत्यशक्तेः। ततः कार्यस्य कारणव्यभिचारादलिंगत्वमित्यनुमानोच्छेद इति भावः। सत् विवेचितं कार्यं कारणं नातिवर्तत इति चेत् सुप्रयुक्ता वागपि यथार्थविवक्षां नातिवर्तते इति कथमर्थव्यभिचारः। ननु विवक्षाधिरूढ एव बागर्थो न बाह्य इति चेन्न। विवक्षायास्तदव्यभिचारात्। वक्तुरिच्छा हि विवक्षा। न च बाह्यार्थनियमं तदिच्छानियमो युज्यते अतिप्रसंगात्। करशाखाशिखराधिकरणकरेणुशतास्तित्वादिप्रतिपादनवचनानां प्रतारणत्वाद-प्रामाण्यसिद्धेः। रागद्वेषमोहाक्रांतपुरुषवचनस्यागमाभासत्वात्। ततः सिद्धं श्रुतं प्रमाणं द्वीपांतराद्यर्थेषु विसंवादाभावादिति साधूक्तं।।

गेहूँ के बीज से शालिधान्य उत्पन्न हो जावेंगे, पुनः कारण में भेद कुछ भी नहीं रह सकेगा।

तात्पर्यवृत्ति— पुरुष—वक्ता के चित्र—सत्य-असत्य आदि नानारूप अभिसंधि—अभिप्राय—विवक्षा से यदि वाक्—आप्त के वचन अर्थ में व्यभिचारी हैं—बाह्य पदार्थ में विसंवादी हैं अर्थात् ''सरागा अपि वीतरागवच्चेष्टंते'' सराग भी वीतराग के समान चेष्टा करते हैं ऐसा वचन है। तब तो विजातीय कारण से भी कार्य दृष्ट—अविरुद्ध हो जावें पुनः उस कारण में भेद करना अर्थात् कारण के प्रतिनियत—स्वात्मलाभ के निमित्त को अलग करना—विजातीय से भेद करना क्या शक्य होगा ? अर्थात् नहीं होगा।

तब उस कार्य के जिस किसी से उत्पन्न होने में विरोध नहीं होगा, निश्चित ही अनियत कारण से उत्पन्न होने वाला कार्य कारण के भेद को नहीं बतलाता है क्योंकि उसमें वैसी शक्ति नहीं है। पुनः कार्य में कारण का व्यभिचार होने से वह अहेतु हो जावेगा, इस तरह अनुमान का उच्छेद हो जावेगा, यह भाव हुआ।

सौगत— विवेकपूर्वक होने वाले कार्य कारण का उल्लंघन नहीं करते हैं।

जैन— यदि ऐसा कहो, तो सम्यक् प्रकार से प्रयुक्त हुए वचन भी यथार्थ विवक्षा का उल्लंघन नहीं करते हैं। इस प्रकार से अर्थ में व्यभिचार कैसे होगा ?

प्रश्न— विवक्षा में अधिरूढ़ ही वचन का अर्थ है, बाह्य अर्थ नहीं है अर्थात् कहने की इच्छा तक ही वचन का अर्थ सीमित है, बाह्य पदार्थ को नहीं कहता है।

उत्तर— ऐसा नहीं कहना, क्योंकि विवक्षा का उससे व्यभिचार नहीं है। बोलने की इच्छा विवक्षा है। उस बोलने की इच्छा का नियम बाह्य अर्थ के नियम से युक्त नहीं है अन्यथा अतिप्रसंग आ जावेगा।

हाथ की अंगुली के अग्रभाग के आधार पर तो हाथी के अस्तित्व आदि के प्रतिपादक वचन प्रतारण करने वाले—ठगने वाले होने से अप्रमाण सिद्ध हैं क्योंकि राग, द्वेष, मोह से आक्रांत पुरुष के वचन आगमाभास हैं इसलिए द्वीपांतर आदि अर्थों में विसंवाद का अभाव होने से श्रुतज्ञान प्रमाणरूप सिद्ध है, यह बात ठीक ही कही है।

भावार्थ— पुरुषों के मनोगत भावों में और वचनों में अंतर देखकर सर्वत्र वचन को अर्थ का व्यभिचारी कहना ठीक नहीं है अन्यथा विजातीय गेहूँ के बीज से शालिधान्य का अंकुर उत्पन्न हो जावेगा, पुनः कोई भी

प्रमाणाभं कथंचिद्यदकलंकप्रभांजितं।।
गाव:सौर्यो विवृण्वंति तदेतत्स्यान्मताश्रयात्।।१।।
इत्यभयचंद्रसूरिकृतौ लघीयस्त्रयतात्पर्यवृत्तौ स्याद्वादभूषणसंज्ञायां प्रमाणाभासपरिच्छेदश्चतुर्थः।।

इति भट्टाकलंकशशांकस्मृते लघीयस्त्रये
प्रमाणप्रवेशः प्रथमः।

कारण अपने कार्य का नियामक नहीं हो सकेगा। इसलिए सर्वथा अर्थशून्य अथवा विरोधी वचनों को देखकर सर्वत्र सत्य आगम में भी अविश्वास करना, उसे प्रमाण नहीं मानना अयुक्त है। हमारे यहाँ तो आगम प्रमाण सबसे बलवान है, वही तो प्रत्यक्ष अनुमान आदि की प्रमाणता को सिद्ध करता है। पिता को प्रमाण न मानकर बेटे को प्रमाण मानना कहाँ तक उचित है।

श्लोकार्थ—श्री भट्टाकलंकदेव और प्रभाचंद्राचार्य से अंजित—स्पष्ट किये कथंचित् प्रमाणाभास को 'स्यात्'—स्याद्वाद मत का आश्रय लेकर श्री अभयचंद्रसूरि के वचन विशेष रूप से वर्णन कर देते हैं अर्थात् कारिका में श्री भट्टाकलंकदेव ने कथंचित् प्रमाणाभास का वर्णन किया है। पुनः श्री प्रभाचंद्राचार्य ने न्याय-कुमुदचंद्र टीका और उसका विशद विवेचन किया है।।१।।

यहाँ पर उन दोनों के आधार से और स्याद्वादमत का आश्रय लेकर श्री अभयचंद्रसूरि ने तात्पर्यवृत्ति में उसका ही स्पष्ट और संक्षेप विवेचन कर दिया है।

इस प्रकार से अभयचंद्रसूरि कृत लघीयस्त्रय की स्याद्वादभूषण नामक तात्पर्यवृत्ति में प्रमाणाभास नाम का चतुर्थ परिच्छेद पूर्ण हुआ।

इस प्रकार भट्टाकलंक शशांक से स्मृत
लघीयस्त्रय में प्रमाण प्रवेश नाम का
प्रथम प्रकरण समाप्त हुआ।

पंचम परिच्छेद

(नय एवं नयाभास)

नमो नम[१]न्मरुन्मौलिमिलत्पदनखांशवे।।
स्वांतध्वांतप्रतिध्वंस प्रशंसाय जिनांशवे।।१।।

अथेदानीं प्रमाणं तदाभासं परीक्ष्य नयतदाभासलक्षणपरीक्षार्थमाह—

भेदाभेदात्मके ज्ञेये भेदाभेदाभिसंधयः।।
एतेऽपेक्षानपेक्षाभ्यां लक्ष्यंते नयदुर्नयाः।।१।।

लक्ष्यंते निश्चीयंते। के नयदुर्नयाः नयाश्च दुर्नयाश्च नयाभासाश्च नयदुर्नयाः। काभ्यां अपेक्षानपेक्षाभ्यां अपेक्षा प्रतिपक्षधर्माकांक्षा अनपेक्षा ततोऽन्या सर्वथैकांतः ताभ्यां। किंविशिष्टास्ते ये भेदाभेदाभिसंधयः भेदो विशेषः पर्यायो व्यतिरेकश्च अभेदः सामान्यमेकत्वं सादृश्यं च भेदश्चाभेदश्च भेदाभेदौ तयोर्भेदा-भेदयोरभिसंधयोऽभिप्रायाः श्रुतज्ञानिनो विकल्पा इत्यर्थः। कस्मिन् ज्ञेये प्रमेये जीवादौ। किंविशिष्टे भेदाभेदात्मके भेदाभेदावात्मानौ स्वभावौ यस्य तत्तथोक्तं तस्मिन्। न खल्वेकांततो भेदात्मकमभेदात्मकं वा प्रमेयमुपलब्धं।

पंचम परिच्छेद

(नय एवं नयाभास)

अर्थ—नमस्कार करते हुए देवों के मुकुट से स्पर्शित है चरण नख किरणें जिनकी, ऐसे हृदय के अंधकार को ध्वंस करने में प्रशंसित जिन चंद्रमा को मेरा नमस्कार होवे।।१।।

उत्थानिका—अब इस समय प्रमाण और प्रमाणाभास की परीक्षा करके नय और नयाभास के लक्षण की परीक्षा के लिए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(भेदाभेदात्मके ज्ञेये) भेदाभेदात्मक ज्ञेय पदार्थ में (भेदाभेदाभिसंधयः) जो भेद और अभेदरूप अभिप्राय हैं (एते) ये (अपेक्षानपेक्षाभ्यां) अपेक्षा और अनपेक्षा के द्वारा (नयदुर्नयाः) नय और दुर्नयरूप (लक्ष्यंते) निश्चित किये जाते हैं।।१।।

अर्थ—भेदाभेदात्मक ज्ञेय पदार्थ में भेद और अभेदरूप अभिप्राय को नय कहते हैं। ये अपेक्षा और अनपेक्षा के द्वारा नय और दुर्नय रूप से निश्चित किये जाते हैं।।१।।

तात्पर्यवृत्ति—प्रतिपक्ष धर्म की आकांक्षारूप अपेक्षा से और इससे विपरीत सर्वथा एकांतरूप अनपेक्षा से ये नय और नयाभास लक्षित—निश्चित किये जाते हैं।

प्रश्न—ये किन विशेषताओं से सहित हैं ?

उत्तर—ये भेद और अभेद के अभिप्राय रूप हैं। विशेष, पर्याय और व्यतिरेक को भेद कहते हैं। सामान्य, एकत्व और सादृश्य को अभेद कहते हैं। इन भेद और अभेद के अभिप्राय रूप हैं अर्थात् ये नय श्रुतज्ञानी के विकल्प रूप हैं। भेदाभेदात्मक जीवादि ज्ञेय—प्रमेय के जानने में ये भेदाभेद विकल्प होते हैं।

निश्चित ही एकांतरूप से भेदात्मक अथवा अभेदात्मकरूप प्रमेय उपलब्ध नहीं है। अनुवृत-व्यावृत्त प्रत्यय के बल से उभयात्मक ही उपलब्ध हो रहा है क्योंकि प्रमाण अनेकांत को विषय करने वाला है।

---

१. मरुमौलि पाठ है मु.।

अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययबलादुभयात्मकस्यैवोपलब्धेः। प्रमाणस्यानेकांतविषयत्वात्। अनेकांतः प्रमाणादिति वचनात्। न चोभयात्मकत्वेनार्पितं व्यवहारयोग्यं वस्तु। ततस्तदुपयोगिन एकांतस्य नयाधीनत्वान्नया उच्यंते। तदेकांतोऽर्पितान्नयादिति राद्धांतात्। ते च परस्परापेक्षा एव व्यवहाराय कल्पंये। अन्यथा तद्विलोपहेतुत्वेन दुर्नयत्वात्। निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृदिति स्वामिभिरभिधानात्। ते च द्विविधाः द्रव्यार्थिकाः पर्यायार्थिकाश्चेति। द्रव्यं सामान्यमभेदोऽन्वय उत्सर्गोऽर्थो विषयो येषां ते द्रव्यार्थिकाः। पर्यायो विशेषो भेदो व्यतिरेकोऽपवादोऽर्थो विषयो येषां ते पर्यायार्थिका इति निरुक्तेः। तत्र द्रव्यं द्विधा शुद्धद्रव्यमशुद्धद्रव्यं चेति। सत्सामान्यं हि शुद्धद्रव्यं। जीवतत्त्वादि पुनरशुद्धं द्रव्यमिति।।

ननु देशकालाकारभेदादत्यंतभिन्ना एव भावाः परमार्थसंतो न सत्सामान्यमिति बौद्धविप्रतिपत्तिं निराकुर्वन्नाह—

'अनेकांतः प्रमाणात्[१]' अनेकांत प्रमाण से जाना जाता है।

(सुनय और दुर्नय का लक्षण)

उभयात्मक रूप से अर्पित—अपेक्षित वस्तु व्यवहार के योग्य नहीं है इसलिए व्यवहार के उपयोगी एकांत नय के आधीन होने से नय कहे जाते हैं। '[२]तदेकांतोऽर्पितान्नयात्' अर्पित नय से व्यवहार के लिए उपयोगी एकांत होता है। इस प्रकार सिद्धांत में कहा है। वे नय परस्पर की अपेक्षा करने वाले ही व्यवहार के लिए समर्थ होते हैं अन्यथा परस्पर की अपेक्षा न रखने से उस व्यवहार के लोप करने में हेतु होने से दुर्नय हो जाते हैं। [३]निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्" निरपेक्ष नय मिथ्या हैं और सापेक्ष होते हुए वे नय हे भगवन्! आपके यहाँ वस्तुभूत अर्थक्रियाकारी हैं, ऐसा श्री स्वामी समंतभद्राचार्य ने कहा है।

(नय के विषय)

वे नय दो प्रकार के हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। द्रव्य, सामान्य, अभेद, अव्यय और उत्सर्ग ये पर्यायवाची नाम हैं। यह द्रव्य जिसका अर्थ—विषय है, वे द्रव्यार्थिक नय हैं। पर्याय विशेष, भेद, व्यतिरेक, अपवाद ये पर्यायवाची नाम हैं। ये पर्याय अर्थ—विषय है जिसका वे पर्यायार्थिक नय हैं, ऐसा निरुक्ति अर्थ है।

द्रव्य के दो भेद हैं—शुद्ध द्रव्य और अशुद्ध द्रव्य। उसमें सत्सामान्य को शुद्ध द्रव्य कहते हैं और जीव तत्त्वादि पुनः अशुद्ध द्रव्य कहलाते हैं।

भावार्थ—प्रत्येक वस्तु में अनेक अंत अर्थात् धर्म पाये जाते हैं इसलिए वस्तु अनेकांतात्मक है। प्रमाण अनेकांत को विषय करता है। अनेकांतात्मक वस्तु के एक धर्म अर्थात् एक अंश को एकांत कहते हैं। नय एकांत को विषय करता है। यह नय अपने से विपरीत अंश के ग्राहक नय की अपेक्षा रखता है तभी तक सुनय है। जब दूसरे की अपेक्षा न करके आग्रहपूर्वक एक अंश को ही ग्रहण करता है तब वह दुर्नय या नयाभास कहलाता है।

द्रव्य मात्र को जानने वाला द्रव्यार्थिक नय है और पर्याय मात्र को जानने वाला पर्यायार्थिक नय है। द्रव्य में भी सत्सामान्य को शुद्ध द्रव्य कहते हैं और जीवादि तत्त्व को अशुद्ध द्रव्य कहते हैं।

उत्थानिका—देश, काल और आकार के भेद से अत्यंत भिन्न ही भाव परमार्थसत् हैं किन्तु सत् सामान्य नहीं हैं। इस प्रकार की बौद्ध की मान्यता का निराकरण करते हुए कहते हैं—

---

१. अनेकांतः प्रमाणात्ते तदेकांतोऽर्पितान्नयात्, स्वयंभूस्तोत्र। २. श्री समंतभद्रस्वामी कृत स्वयंभू स्तोत्र। ३. आप्तमीमांसा कारिका।

जीवाजीवप्रभेदा यदंतर्लीनास्तदस्ति सत्।
एकं यथा स्वनिर्भासि ज्ञानं जीवः स्वपर्ययैः।।२।।

अस्ति विद्यते प्रतीयते। तत्किं सत् सत्तासामान्यं। किंविशिष्टं यदित्यादि यस्मिन्नंतर्लीना अंतर्भूताः। के जीवाजीवप्रभेदाः। जीवश्चेतनालक्षणः। अजीवः पुनस्तद्विपर्ययः पुद्गलादिः। प्रभेदाश्च त्रसस्थावराद्य-वांतरविशेषाः। जीवाजीवौ च प्रभेदाश्च ते तथोक्ताः। न खलु द्रव्यं पर्यायो वा सत्त्वव्यतिरिक्तमस्तीति किंचिद् व्यवहर्तुं शक्यं स्ववचनविरोधादतिप्रसंगाच्च। नन्वेकस्य कथमनेकजीवादिभेदव्यापकत्वमिति चेदत्राह—एकमित्यादि। यथा एकं ज्ञानं चित्रपटादिविषयं स्वनिर्भासि स्वे आत्मीया ज्ञानात्मानो निर्भासा नीलाद्याकारा विद्यंतेऽस्येति स्वनिर्भासि। यथा चैको जीव आत्मा स्वपर्ययैः स्वे चिद्रूपाः पर्ययाः रागादयः परिणामास्तैराक्रांतः प्रतीतिपदारूढो न विरुध्यते तथा सत्त्वमपि जीवाद्यनेकभेदाक्रांतं न विरुध्यत इत्यर्थः।।

तस्य सत्सामान्यस्य नयं निरूपयति—

अन्वयार्थ—(जीवाजीवप्रभेदाः) जीव और अजीव के प्रभेद (यत् अंतर्लीनाः) जिसके अंतर्लीन हैं (तत् सत् अस्ति) वह सत् है। (यथा) जैसे (स्वनिर्भासि) स्वनिर्भासी (एकं ज्ञानं) एक ज्ञान और (स्वपर्ययैः) अपनी पर्यायों से (जीवः) जीव एक है।।२।।

अर्थ—जीव और अजीव के प्रभेद जिसके अंतर्लीन हैं वह सत् है। जैसे स्वनिर्भासी एक ज्ञान और स्वपर्यायों से एक जीव है अर्थात् जिसमें जीव-अजीव और उनके सभी भेद-प्रभेदरूप यह ब्रह्मांड अंतर्गर्भित है—समा जाता है वह 'सत्' है। जैसे—चित्र के सभी रंगों—अंशों में व्यापी एक ज्ञान अथवा अनेकों पर्यायों से सहित जीव।।२।।

(सत् का लक्षण)

तात्पर्यवृत्ति—जीव का लक्षण चेतना है। अजीव पुनः उससे विपरीत पुद्‌गल आदि हैं। त्रस-स्थावर आदि अवांतर विशेष जीव के प्रभेद हैं। ये भेद-प्रभेद सहित सभी जीव-अजीव जिसमें अंतर्गर्भित हैं वह सत्—सत्तासामान्य है—मौजूद है—प्रतीति में आ रहा है।

निश्चित ही सत्त्व—अस्तित्व से व्यतिरिक्त द्रव्य अथवा पर्याय 'अस्ति—है' इस प्रकार कुछ भी व्यवहार करना शक्य नहीं है क्योंकि स्ववचन में विरोध आता है और अतिप्रसंग दोष आता है अर्थात् 'अस्ति' को ही 'है' इस शब्द से कहते हैं। जब द्रव्य या पर्याय का अस्तित्व ही नहीं है तब यह द्रव्य है या पर्याय है ऐसा कहना तो 'मैं मौनव्रती हूँ' ऐसा बोलने वाले के समान स्ववचन बाधित ही है और अतिप्रसंग से आकाश के फूल, बंध्या के पुत्र आदि भी दिखने लगेंगे।

प्रश्न—एक ही अनेक जीवादि भेदों में व्यापक कैसे हो सकता है ?

उत्तर—जैसे आपके द्वारा मान्य एक ही ज्ञान चित्रपटाति को विषय करने वाला है स्वनिर्भासी है। स्व—अपने ज्ञानस्वरूप निर्भास—नीलादि आकार जिसमें हैं, वह स्वनिर्भासी कहलाता है और जिस प्रकार से एक जीव—आत्मा अपनी पर्यायों से सहित है। स्व—चिद्रूप पर्याय—रागादि परिणामों से आक्रांत—व्याप्त प्रतीति के पद पर आरूढ़ हुआ विरुद्ध नहीं है अर्थात् चैतन्य स्वरूप राग, द्वेषादि भावों से व्याप्त और प्रतीति में आता हुआ एक जीव द्रव्य सिद्ध है। उसी प्रकार से जीवादि अनेक भेदों से आक्रांत सत्त्व भी विरुद्ध नहीं है।

उत्थानिका—उस सत्सामान्य के नय का निरूपण करते हैं—

शुद्धं द्रव्यमभिप्रैति संग्रहस्तदभेदतः।
भेदानां नासदात्मैकोऽप्यस्ति भेदो विरोधतः।।३।।

अभिप्रैति विषयीकरोति। कः संग्रहः संग्रहनयः। किं शुद्धं द्रव्यं सत्सामान्यं तस्यान्योपाधिरहितत्वेन शुद्धिसंभवात्। तद्विषयो हि नयः संग्रहः सजात्यविरोधेन पर्यायानाक्रांतभेदानैकध्यमुपनीय समस्तग्रहणं संग्रह इति निर्वचनात्। कुतः तदभेदतः तस्य सत्सामान्यलक्षणस्य शुद्धद्रव्यस्याभेदात्। सर्वेषु जीवाजीवेष्व-व्यतिरेकात्। ननु प्रागभावादेः सत्त्वव्यतिरेकात्कथं तदभेद इत्याशंक्याह—भेदानां जीवादीनां सद्विशेषाणां मध्ये एकोऽपि भेदो जीवस्तत्पर्यायोऽन्यो वाऽसदात्माऽसत्स्वरूपो नास्ति न विद्यते। विरोधतः। यद्यसदात्मा कथमस्ति। यद्यस्ति कथमसदात्मेति स्ववचनविरोधादस्य प्रसिद्धेः। ततः प्रागभावादिरन्यो वा कथंचित्सदात्मक एवाभ्युपगंतव्यः प्रतीतिबलात्।।

अन्वयार्थ—(संग्रहः तदभेदतः) संग्रहनय उस सामान्य के अभेद से (शुद्धं द्रव्यं) शुद्ध द्रव्य को (अभिप्रैति) स्वीकार करता है। (भेदानां) भेदों में (असदात्मा) असत्स्वरूप (एकः अपि भेदः) एक भी भेद (न अस्ति) नहीं है।।३।।

अर्थ—संग्रहनय उस सामान्य के अभेद से शुद्ध द्रव्य को विषय करता है। भेदों में असदात्मा—असत्स्वरूप एक भी भेद नहीं है क्योंकि विरोध आता है अर्थात् संग्रहनय भेदों को न देखकर—गौण करके अभेद से केवल मात्र अस्तित्व सामान्य—महासत्ता को विषय करता है।।३।।

(संग्रहनय का विषय)

तात्पर्यवृत्ति—संग्रहनय सत्सामान्य शुद्ध द्रव्य को विषय करता है क्योंकि उसमें अन्य उपाधि से रहित होने से ही शुद्धि संभव है। 'सामान्य को विषय करने वाला ही नय संग्रह है वह स्वजाति के अविरोध से भेदों से सहित ऐसी पर्यायों में एकत्व को प्राप्त करके समस्त को ग्रहण करने वाला 'संग्रह' कहलाता है। ऐसा निरुक्ति सिद्ध अर्थ है।

क्योंकि वह तदभेदतः—उस सत्सामान्य लक्षण शुद्ध द्रव्य में अभेद रूप है। सभी जीव और अजीवों में अव्यतिरिक्त—अभिन्न है।

प्रश्न—प्रागभाव आदि सत्त्व से भिन्न हैं तो यह उनसे अभिन्न कैसे होगा ?

समाधान—जीवादि सत् विशेषों के मध्य में एक भी भेद जीव, उसकी पर्याय अथवा अन्य कोई असदात्मा—असत्वरूप नहीं है क्योंकि विरोध आता है। यदि असत् रूप है पुनः 'है कैसे' ? यदि 'है' तो असत्स्वरूप कैसे है ? इस प्रकार स्ववचन में विरोध होता है अतः वह सत् सिद्ध है इसलिए प्रागभाव आदि हो अथवा अन्य कोई हो उसे कथंचित् प्रतीति के बल से सदात्मक—सत् रूप ही स्वीकार करना चाहिए।

भावार्थ—संग्रहनय सत् सामान्य को विषय करता है अर्थात् इसी नय की अपेक्षा से संपूर्ण चराचर जगत् एकरूप है। इस संग्रहनय के उदर में सारा लोकालोक समा गया है। इसी नय के एकांत दुराग्रह से ब्रह्माद्वैतवादी आदि अद्वैतवादियों ने सारे विश्व को एक सत्‌रूप—ब्रह्मरूप या ज्ञानरूप इत्यादि प्रकार से स्वीकार कर लिया है। यहाँ एक प्रश्न हुआ कि प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव आदि अभावों को संग्रहनय कैसे जानेगा ? तब आचार्य ने कहा है कि नैयायिक द्वारा मान्य अभाव तो तुच्छाभावरूप है किन्तु जैनों ने अभाव

ननु प्रत्यक्षतो भेदस्य सिद्धेरभेदनयः संग्रहो मिथ्या प्रत्यक्षबाधितत्वादिति सौगतविप्रतिपत्तिं निराकुर्वन्नाह—

प्रत्यक्षं बहिरंतश्च भेदाज्ञानं सदात्मना।।
द्रव्यं स्वलक्षणं शंसेद्भेदात्सामान्यलक्षणात्।।४।।

शंसेत् स्तूयात् कथयेदित्यर्थः। किं प्रत्यक्षं विशदमिंद्रियानिंद्रियज्ञानं। किंविशिष्टं भेदाज्ञानं भेदान् परपरिकल्पितान् निरंशक्षणान्न जानाति न गृण्हातीति भेदाज्ञानं। किं शंसेत् द्रव्यं शुद्धमशुद्धं वा स्वलक्षणं वस्तुभूतं न कल्पितमित्यर्थः। क्व बहिरचेतने घटादौ। अंतश्चेतने। केन सदात्मना सद्रूपेण न खलु सद्रूपेण भेदः पदार्थेषु प्रत्यक्षतो ज्ञायते येन प्रत्यक्षं द्रव्यं न (?) शंसेत्। कस्मात् भेदात् भेदमाश्रित्य। किंविशिष्टात् सामान्यलक्षणात् सामान्यमन्वयो लक्षणं लिंगं यस्यासौ सामान्यलक्षणस्तस्मात्। न हि भेदनिरपेक्षमभेदं प्रत्यक्षमन्यद्वा प्रमाणं साधयति। तस्यानुपलब्धेः। ततः प्रत्यक्षमपि द्रव्यसिद्धिनिबंधनमेवेति कुतः संग्रहनयो

को भावांतर रूप से स्वीकार किया है जैसे 'दीपस्तमः[1] पुद्गलभावतोऽस्ति' दीपक के बुझने से अंधकार हो गया तो भी जैसे प्रकाश पुद्गल की पर्याय थी वैसे ही अंधकार भी पुद्गल की पर्याय है। अथवा 'खे नास्ति[2] पुष्पं तरुषु प्रसिद्धं' आकाश में पुष्प नहीं है यह कथन सर्वथा अभाव रूप नहीं है क्योंकि पुष्प वृक्षों में तो प्रसिद्ध ही है।

अथवा जीव या उसकी कोई भी पर्याय 'नहीं है' ऐसा कहने पर तो यदि असत् स्वरूप है तो 'है' कैसे कहा ? और यदि 'है' तो असत्स्वरूप उसका कैसे रहा ? इसलिए सभी अभाव कथंचित् भावात्मक ही हैं। 'न जैनः अजैनः' जैन नहीं है वह अजैन है यहाँ पर भी नञ् समास में नहीं का अर्थ है कि वह जैन नहीं है किन्तु ब्राह्मण या क्षत्रिय आदि कुछ है।

उत्थानिका—प्रत्यक्ष से भेद सिद्ध है पुनः अभेद नयरूप संग्रह मिथ्या है क्योंकि प्रत्यक्ष से बाधित है। इस प्रकार की सौगत की विचारधारा का निराकरण करते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(भेदाज्ञानं प्रत्यक्षं) भेद को नहीं ग्रहण करने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान (सदात्मना) सत्रूप से (बहिः अंतः च) बहिरंग और अंतरंग पदार्थ में (सामान्य लक्षणात्) सामान्य लक्षण वाले (भेदात्) भेद से (द्रव्यं स्वलक्षणं) द्रव्य को वस्तुभूत (शंसेत्) कहता है।।४।।

अर्थ—भेद को नहीं ग्रहण करने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान सत् रूप से बहिरंग और अंतरंग पदार्थ में सामान्य लक्षण भेद का आश्रय करके द्रव्य को स्वलक्षण—वस्तुभूत कहता है।।४।।

तात्पर्यवृत्ति—इंद्रिय और मन से होने वाला विशद ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। वह भेदाज्ञान अर्थात् बौद्धों के द्वारा परिकल्पित भेदों को—निरंश क्षणों को नहीं जानता है—नहीं ग्रहण करता है, ऐसा वह भेद को नहीं ग्रहण करने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान सद्रूप से बाह्य—अचेतन घटादि और अंतरंग चेतन में शुद्ध अथवा अशुद्ध द्रव्य को स्वलक्षण—वास्तविक कहता है, कल्पित नहीं कहता है क्योंकि पदार्थों में सत्रूप से भेद प्रत्यक्ष से नहीं जाना जाता है कि जिससे प्रत्यक्षज्ञान द्रव्य को (एकरूप) न कहे।

कैसे ? सामान्य—अन्वय, लक्षण—लिंग है जिसका उस सामान्य लक्षण भेद का आश्रय लेकर कहता है अर्थात् प्रत्यक्ष अथवा अन्य अनुमानादि प्रमाण भेदनिरपेक्ष अभेद को सिद्ध नहीं करते हैं क्योंकि

१-२. स्वयंभूस्तोत्र।

मिथ्या स्यात्।।

एवं सत्सामान्यलक्षणं शुद्धद्रव्यं समर्थ्य ऊर्ध्वतासामान्यमशुद्धद्रव्यं समर्थयते—

सदसत्स्वार्थनिर्भासैः सहक्रमविवर्तिभिः।।
दृश्यादृश्यैर्विभात्येकं भेदैः स्वयमभेदकैः।।५।।

विभाति विशेषेण प्रत्यक्षादिबुद्धौ प्रतिभासते। किं एकं द्रव्यरूपेणाभिन्नं जीवादि वस्तु। कैः सह भेदैः ? पर्यायैः सह। कथंभूतैः ? सहक्रमविवर्तिभिः यह युगपत् क्रमेण च कालभेदेन विवर्तंते विपरिणमंते इत्येवंशीलास्तैः गुणपर्यायैरित्यर्थः। गुणपर्ययवद्द्रव्यमिति वचनात्। सहवर्तिनस्तु पर्याया रागादय इति। पुनश्च किंभूतैः ? स्वयमभेदकैः स्वयं स्वरूपेण गुणपर्यायात्मना न विद्यते भेदो गुणः पर्यायो वा येषां ते तथोक्तास्तैः। द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणा इति वचनात्। गुणपर्याययोरपि गुणपर्यायवत्त्वेन द्रव्यत्वप्रसंगात्। तल्लक्षणत्वाद्द्रव्यस्येति। भूयोऽपि कथंभूतैः दृश्यादृश्यैः दृश्याः स्थूला व्यंजनपर्यायाः अदृश्याः सूक्ष्माः

वैसी उपलब्धि नहीं होती है। इस हेतु से प्रत्यक्ष भी द्रव्य सिद्धि का कारण ही है इसलिए संग्रहनय मिथ्या कैसे हो सकेगा ? अर्थात् नहीं हो सकेगा।

भावार्थ—प्रत्यक्ष प्रमाण भी सत्‌रूप से किन्हीं भी चेतन-अचेतन पदार्थों में भेद को नहीं करते हुए सत् लक्षण वाले द्रव्य को सिद्ध कर देता है इसलिए सत्‌सामान्य—सबको एक सत् रूप ग्रहण करने वाला संग्रहनय मिथ्या नहीं है प्रत्युत् समीचीन ही है क्योंकि यहाँ अभेद भी भेद निरपेक्ष विवक्षित नहीं है।

उत्थानिका—इस प्रकार सत्सामान्य लक्षण शुद्ध द्रव्य का समर्थन करके अब ऊर्ध्वता सामान्य लक्षण अशुद्ध द्रव्य का समर्थन करते हैं—

अन्वयार्थ—जैसे (सदसत् स्वार्थ निर्भासैः) सत्-असत् रूप और अर्थ के आकार से (एकं) ज्ञान एक है, वैसे ही (स्वयं अभेदकैः) स्वरूप से भेद नहीं करने वाले ऐसे (सहक्रम विवर्तिभिः) सहभावी और क्रमभावी से तथा (दृश्यादृश्यैः) व्यंजन पर्याय और अर्थ पर्यायों से (एकं विभाति) एक द्रव्य प्रतिभासित होता है।।५।।

अर्थ—जैसे सत्-असत् रूप स्व और अर्थ के निर्भास—आकार से ज्ञान एक है। वैसे ही स्वयं स्वरूप से भेद को नहीं करने वाले, ऐसे सहभावी-क्रमभावी, दृश्य—व्यंजन और अदृश्य—अर्थ पर्यायों से जीवादि वस्तु एक प्रतिभासित होती है।।५।।

तात्पर्यवृत्ति—एक द्रव्य रूप से अभिन्न जीवादि वस्तु युगपत् होने वाली सहभावी और क्रम से काल के भेद से होने वाली, परिणमन करने वाली क्रमभावी भेद—गुण पर्यायों से विशेषरूप से प्रत्यक्षादि ज्ञान में प्रतिभासित होती है। '[1]गुणपर्ययवद्द्रव्यं—गुण पर्याय वाला द्रव्य है' ऐसा सूत्रकार का कथन है। रागादि पर्याय में सहवर्ती हैं। स्वयं—स्वरूप से गुणपर्याय रूप से जिसमें गुण अथवा पर्याय का भेद नहीं है तथा '[2]द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः'—जो द्रव्य के आश्रित हैं, निर्गुण हैं, वे गुण कहलाते हैं" ऐसा वचन है। गुण और पर्यायों को भी गुणपर्यायवत्त्व से द्रव्यत्व का प्रसंग आ जाता है क्योंकि द्रव्य उस लक्षण वाला ही है।

प्रश्न—वे पर्यायें कैसी हैं ?

उत्तर—स्थूल व्यंजन पर्यायों को दृश्य कहते हैं और सूक्ष्म, केवल आगम से जानने योग्य अर्थ पर्यायों

१-२. तत्त्वार्थसूत्र।

केवलागमगम्या अर्थपर्यायाः दृश्याश्च अदृश्याश्च दृश्यादृश्यास्तैरिति। अस्मिन्नर्थे परप्रसिद्धं दृष्टांतमाह— सदसत्स्वार्थनिर्भासैः। अत्र यथा ज्ञानमित्येतावानध्याहारः। यथा एकं ज्ञानं विभाति। कैः सह संतश्चासंतश्च सदसंतः। स्वं चार्थश्च स्वार्थौ तयोर्निर्भासा नीलाद्याकारास्तथोक्ताः। सदसंतश्च ते स्वार्थनिर्भासाश्च सदसत्स्वार्थनिर्भासास्तैरिति। अयमर्थः यथा सद्भिर्ज्ञानगताकारैरसद्भिरर्थाकारैर्नीलादिभिः सहैकं ज्ञानं विभाति तव न विरुध्यते। तथा अर्थव्यंजनपर्यायैः सहक्रमविवर्तिभिः गुणपर्यायैः सहैकं द्रव्यमपि विभाति न विरुध्यते इति। विरोधस्यानुपलंभसाध्यत्वात्। उपलभ्यंते च द्रव्यं भेदाश्च। ततः सिद्धं भेदाभेदात्मकं जीवादि वस्तु। तथा ज्ञेयत्वात् अर्थक्रियाकारित्वाच्च। न खलु सर्वथानित्यं क्षणिकं वाऽर्थक्रियां कुर्वत्प्रतीयते। यतस्तत्परमार्थसन्मन्येत।।

ननु कार्यकारणयोर्भिन्नकालत्वात् क्षणिके एवार्थक्रियासंभवो न नित्ये इति शाक्यवाक्यं शोधयन्नाह—

कार्योत्पत्तिर्विरुद्धा चेत्स्वयंकारणसत्तया।।
युज्येत क्षणिकेऽर्थेऽर्थक्रियासंभवसाधनम्।।६।।

चेद्यदि विरुद्धा विप्रतिषिद्धा स्यात्। का कार्योत्पत्तिः कार्यस्योत्तरपरिणामस्योत्पत्तिः स्वरूपलाभः। कया स्वयंकारणसत्तया स्वयंकारणं विवक्षितकार्यजनकं द्रव्यस्वरूपमुपादानं तस्य सत्तया भावेन। तर्हि

को अदृश्य कहते हैं। इन उभयात्मक पर्यायों से द्रव्य अभिन्न है अतः एक है।

इसी अर्थ को पुष्ट करने में परप्रसिद्ध दृष्टांत देते हैं। यहाँ कारिका के अर्थ में 'यथा ज्ञान' इतना पद अध्याहार करना चाहिए। जैसे—एक ज्ञान में स्व और अर्थ के निर्भास—जीवादि आकार सत्-असत् रूप हैं अर्थात् ज्ञानगत आकार सत्रूप हैं और नीलादि अर्थाकार असत् रूप हैं, इन सत्रूप-असत्रूप आकारों से सहित होकर भी चित्रज्ञान एक है यह बात विरुद्ध नहीं है। उसी प्रकार अर्थ व्यंजन पर्यायों से और सहक्रमवर्ती गुण, पर्यायों से सहित एक द्रव्य भी प्रतिभासित हो रहा है, यह बात विरुद्ध नहीं है क्योंकि विरोध तो अनुपलब्धि से सिद्ध होता है तथा द्रव्य और भेद तो उपलब्ध हो रहे हैं।

इसलिए जीवादि वस्तु भेदाभेदात्मक सिद्ध हैं क्योंकि उसी प्रकार से वे ज्ञान का विषय हैं और अर्थ क्रियाकारी हैं। निश्चित ही सर्वथा नित्य अथवा वस्तु अर्थक्रिया को करते हुए प्रतीति में नहीं आती है कि जिससे उसे परमार्थसत् माना जा सके अर्थात् उन नित्य अथवा क्षणिक को वास्तविक नहीं माना जा सकता है।

भावार्थ—सभी वस्तुएँ अपने-अपने अनंत गुण पर्यायों से सहित होकर भी कथंचित् सत् रूप से एक रूप हैं और कथंचित् अपने अस्तित्व से पृथक्-पृथक् होने से अनेक रूप भी हैं इसलिए सभी वस्तुएँ भेदाभेदात्मक ही हैं। सत्ता के दो भेद हैं—महासत्ता और अवांतरसत्ता। महासत्ता सत्सामान्य मात्र से सभी चेतन-अचेतन वस्तु को एकरूप ग्रहण करती है और अवांतर सत्ता अर्थात् प्रत्येक वस्तु का अलग-अलग अस्तित्व यह सभी वस्तुओं को भेदरूप ग्रहण करता है अतएव वस्तु भेदाभेदात्मक है।

उत्थानिका—कार्य कारण का भिन्न काल होने से क्षणिक में ही अर्थक्रिया संभव है नित्य में नहीं, इस प्रकार के बौद्ध के वाक्यों को शोधन करते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(चेत् स्वयं कारणसत्तया) यदि स्वयं कारण की सत्ता से (कार्योत्पत्तिः विरुद्धाः) कार्य की उत्पत्ति विरुद्ध होवे, तब (क्षणिके अर्थे) क्षणिक अर्थ में (अर्थक्रिया संभव साधनं) अर्थक्रिया का होना सिद्ध (युज्येत) किया जा सके।।६।।

अर्थ—यदि स्वयं कारण की सत्ता से द्रव्य के उपादान भाव से कार्य की उत्पत्ति विरुद्ध होवे तब क्षणिक अर्थ में अर्थक्रिया का संभव सिद्ध हो सके। इष्ट प्रयोजनभूत कार्य का होना संभव किया जा सके किन्तु

युज्येत युक्तं स्यात्। किं अर्थक्रियासंभवसाधनं अर्थस्य अभिमतप्रयोजनस्य क्रिया निष्पत्तिस्तत्संभवसाधनं नित्यक्रमयौगपद्यविरहादित्याद्यनुमानं। क्व अर्थे। किंविशिष्टे क्षणिके निरन्वयक्षणनश्वरे। इदमतिपत्तिवचनं। न च सा विरुद्धा कार्यकाले सत एव कारणत्वात्। अन्यथा कार्यस्याकस्मिकत्वप्रसंगात्। क्षणिकैकांते कार्यकारणभावविरोधाच्च। न हि यदभावे यदुत्पद्यते यद्भावे यन्नोत्पद्यते तयोः कार्यकारणभावोऽस्ति। अन्यथाऽतिप्रसंगात्। ततः कथंचित्सत एव कारणत्वं कार्यत्वं वाऽनुमंतव्यमिति द्रव्यपर्यायात्मकमेव वस्तु। तत्रैवार्थक्रियासंभवात्।

ननु कथमेकस्यानेककार्यकारित्वमनेकधर्मव्यापित्वं च विरोधादित्याशंकां निराकुर्वन्नाह—

यथैकं भिन्नदेशार्थान्कुर्याद् व्याप्नोति वा सकृत्।।
तथैकं भिन्नकालार्थान्कुर्याद् व्याप्नोति वा क्रमात्।।७।।

ऐसा है नहीं। इसलिए क्षणिक एकांत में अर्थक्रिया का अभाव है।।६।।

(सर्वथा क्षणिक में अर्थक्रिया संभव नहीं है)

तात्पर्यवृत्ति—कार्यरूप उत्तर परिणाम का स्वरूप लाभ होना कार्य की उत्पत्ति है। स्वयं कारण—कार्य उत्पन्न करने वाला द्रव्य का स्वरूप उपादान है। उसे स्वयं कारण कहते हैं और उसका अस्तित्व स्वयं कारण सत्ता है। यदि स्वयं द्रव्य स्वरूप उपादान की सत्ता से कार्य की उत्पत्ति विरुद्ध होवे तब क्षणिक अर्थ में अर्थक्रिया के संभव का अनुमान हो सके।

अर्थ—अभिमत प्रयोजन की क्रिया—निष्पत्ति अर्थक्रिया है, उसका संभवसाधन—'नित्यक्रम यौगपद्य विरहात्' नित्य में क्रम और युगपत् का अभाव है' इत्यादि अनुमान है। निरन्तर विनश्वर को क्षणिक कहते हैं अर्थात् क्षणिक—विनश्वर पदार्थ में वह अर्थक्रिया संभव नहीं है।

तथा वह कार्य की उत्पत्ति विरुद्ध नहीं है क्योंकि कार्य के समय सत् रूप ही कारण होता है अन्यथा कार्य को आकस्मिकपने का प्रसंग आ जाएगा और क्षणिकैकांत में कार्य-कारणभाव का विरोध है। जिसके अभाव में जो उत्पन्न होता है और जिसके सद्भाव में जो उत्पन्न नहीं होता है, उनमें कार्य-कारण भाव नहीं है अन्यथा अतिप्रसंग दोष आ जायेगा। इस हेतु से कथंचित् सत् को ही कारण अथवा कार्य स्वीकार कर लेना चाहिए। इस प्रकार वस्तु द्रव्य पर्यायात्मक ही है, क्योंकि उसी में अर्थक्रिया संभव है।

भावार्थ—बौद्ध का कहना है कि कारण रूप मृत्पिंड का सर्वथा निमूल चूल नाश होकर घटरूप कार्य बनता है। इस पर आचार्यों का कहना है कि स्वयं उपादान कारणरूप मृत्पिंड ही घट कार्य रूप से परिणत होता है, ऐसा स्पष्ट प्रतीत हो रहा है अतएव सर्वथा क्षणिक सिद्धांत में कार्य-कारण भाव सिद्ध नहीं होता है और न उस क्षणिक वस्तु में इष्ट प्रयोजन के होने रूप अर्थक्रिया ही संभव है अतः वस्तु कथंचित् नित्यानित्यात्मक स्वीकार करना चाहिए।

उत्थानिका—एक ही अनेक कार्य को करने वाला और धर्मों में व्याप्त होकर रहने वाला कैसे हो सकता है क्योंकि परस्पर में विरोध है ? इस आशंका का निराकरण करते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यथा एकं) जैसे एक—क्षणिक स्वलक्षण (सकृत्) एक क्षण में (भिन्नदेशार्थान्) भिन्न देश वाले कार्यों को (कुर्यात्) करता है (वा) अथवा (व्याप्नोति) व्याप्त करता है (तथा) वैसे ही (एकं) एक द्रव्य (क्रमात्) क्रम से (भिन्न कालार्थान्) भिन्न कालवर्ती कार्यों को (कुर्यात्) करता है (वा

यथा येनाविरोधप्रकारेण एकं सौगताभिमतं क्षणिकस्वलक्षणं। सकृदेकक्षणे। भिन्नदेशार्थान् भिन्नो विप्रकृष्टो देशो येषां ते भिन्नदेशास्ते च तेऽर्थाश्च कार्याणि तान् स्वसंतानवर्तिनमुपादानत्वेन संतानांतरवर्तिनश्च निमित्तत्वेन जनयेदित्यर्थः। यथा वा एकं ज्ञानं भिन्नदेशार्थान् विप्रकृष्टनीलाद्याकारान् व्याप्नोति न विरुध्यते तथा एकमभिन्नद्रव्यं। क्रमात् कालभेदेन। भिन्नकालार्थान् भिन्नः पूर्वापरीभूतः कालो येषां ते च तेऽर्थाश्च कार्याणि तान्। कुर्यात् पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितिरूपेण परिणमत इत्यर्थः। तानेव व्याप्नोति वा तादात्म्यमनुभवति वा न विरुध्यते। एकस्यैव नानादेशकार्यकारित्वमविरुद्धं। नानाकालकार्यकारित्वं तु विरुद्धमित्यपि स्वदर्शनानुरागमात्रं। न्यायस्य समानत्वात्। ततः सिद्धमेकानेकाद्यनेकांतात्मकं जीवादि वस्त्वन्यथाऽर्थक्रियाविरोधादिति।।

एवं सत्सामान्यरूपं परद्रव्यमुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तमपरद्रव्यं च प्रतिपाद्य तत्र परद्रव्यविषयं परसंग्रहं तदाभासं च दर्शयन्नाह—

संग्रहः सर्वभेदैक्यमभिप्रैति सदात्मना।।
ब्रह्मावादस्तदाभासः स्वार्थभेदनिराकृतेः।।८।।

व्याप्नोति) अथवा उनको व्याप्त करता है।।७।।

अर्थ—जिस प्रकार एक (क्षणिक स्वलक्षण) सकृत्—एकक्षण में भिन्न—विप्रकृष्ट देश वाले कार्यों को उत्पन्न करता है अथवा जैसे एक ही (ज्ञान) भिन्न देश वाले अर्थों को व्याप्त करता है। वैसे ही एक (अभिन्न द्रव्य) क्रम से भिन्न कालवर्ती कार्यों को करता है अथवा उनको व्याप्त करता है।।७।।

तात्पर्यवृत्ति—जिस अविरोध प्रकार से एक सौगत के द्वारा स्वीकृत क्षणिक स्वलक्षण एक क्षण में भिन्न—विप्रकृष्ट देश वाले कार्यों को 'स्वसंतानवर्ती को उपादानरूप से और भिन्न संतानवर्ती को निमित्त रूप से उत्पन्न करता है। अथवा जैसे एक ही ज्ञान भिन्न देशार्थ अर्थात् विप्रकृष्ट नीलादि आकारों को व्याप्त करता है इसमें विरोध नहीं है। वैसे ही एक अभिन्न द्रव्य क्रम से काल भेद से पूर्व और अपर काल में होने वाले कार्यों को करता है, पूर्वाकार का परिहार, उत्तर आकार की प्राप्ति और स्थितिरूप से परिणमन करता है अथवा उन्हीं को व्याप्त करता है—उनके साथ तादात्म्य का अनुभव करता है, यह बात विरुद्ध नहीं है।

एक के ही नाना देश के कार्यों को करना अविरुद्ध है किन्तु नाना काल के कार्य को करना विरुद्ध है। यह कथन भी अपने दर्शन का अनुराग मात्र ही है क्योंकि न्याय तो सर्वत्र समान होता है इसलिए जीवादि वस्तु एकानेकादि रूप से अनेकांतात्मक सिद्ध हैं अन्यथा अर्थक्रिया का विरोध हो जावेगा।

भावार्थ—बौद्ध का कहना है कि एक क्षणिक स्वलक्षण भिन्न देशवर्ती कार्यों को उत्पन्न करता है और एक निरंश ज्ञान भिन्न देशवर्ती नीलादि आकारों में व्याप्त होता है किन्तु आचार्य कहते हैं कि वैसे ही सत् रूप से अभिन्न एक द्रव्य पूर्वोत्तर कालवर्ती कार्यों को करता है और उन्हीं को व्याप्त करके उन्हीं में तादात्म्य का अनुभव भी करता है अतः एक अनेक कार्य को नहीं कर सकता या अनेक धर्मों में व्याप्त नहीं रह सकता है ऐसा दोष कहाँ रहा ? भाई, न्याय तो दोनों जगह समान ही रहेगा।

उत्थानिका—इस प्रकार सत्सामान्य रूप पर द्रव्य को और उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य से युक्त अपर द्रव्य को प्रतिपादित करके उसमें पर द्रव्य को विषय करने वाले परसंग्रह को और तदाभास को दिखलाते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(संग्रहः) संग्रह नय (सदात्मना) सत्रूप से (सर्वभेदैक्यं) सभी भेदों में ऐक्य को (अभिप्रैति) स्वीकार करता है किन्तु (ब्रह्मवादः) ब्रह्माद्वैतवाद (तदाभासः) संग्रहाभास है (स्वार्थ भेदनिराकृतेः)

अभिप्रैति विषयीकरोति। कः संग्रहः संग्रहनयः। किं सर्वभेदैक्यं सर्वे च ते द्रव्यादयो भेदा विशेषास्तेषामैक्यमभेदं। केन सदात्मना सर्वं सदिति सद्रूपेण सत्सामान्यात्तु सर्वैक्यमिति प्रवचनात्। न सर्वथा तथाऽप्रतीतेः। नन्वेवं ब्रह्मवाद एव समर्थितः स्यादिति चेदत्राह—ब्रह्मेत्यादि। तदाभासः संग्रहाभासो भवति। क्रः ब्रह्मवादः सत्ताद्वैतं भावैकांत इत्यर्थः। कुतः स्वार्थभेदनिराकृतेः स्वस्य ब्रह्मवादस्यार्थो विषयः सन्मात्रं तस्य भेदा जीवादिविशेषास्तेषां निराकृतेः प्रतिषेधात्। न खलु सर्वथा सत्त्वे भेदानामवकाशोऽस्ति। भेदरहितं च तत्कथं सामान्यं नाम निराश्रयत्वात् अर्थक्रियाविरहाच्च। नैकं स्वस्मात्प्रजायत इति न्यायात्। न हि तदद्वैते क्रियाकारकभेदोऽस्ति यतोऽर्थक्रिया संभवेत्।

अथेदानीं नैगमनयं तदाभासं च निरूपयति—

अन्योन्यगुण भूतैकभेदाभेदप्ररूपणात्।।
नैगमोऽर्थांतरत्वोक्तौ नैगमाभास इष्यते।।९।।

क्योंकि वह अपने और अर्थ के भेदों का निराकरण करता है।।८।।

अर्थ—संग्रहनय सत्रूप से सभी भेदों में ऐक्य को स्वीकार करता है। अपने अर्थ के भेद का निराकरण करने से ब्रह्माद्वैतवाद संग्रहाभास है।।८।।

तात्पर्यवृत्ति—संग्रहनय सभी भेदरूप द्रव्यादि के ऐक्य—अभेद को 'सर्वं सत्—सभी सत्रूप हैं' इस सत्रूप से विषय करता है। 'सत्सामान्यात्तु सर्वैक्यं[1]' सत्सामान्य से सभी में ऐक्य—अभेद है' ऐसा श्री समंतभद्रस्वामी का वचन है। सर्वथा सभी वस्तु एक रूप नहीं है क्योंकि वैसी प्रतीति नहीं होती है।

शंका—इस प्रकार से तो आपने ब्रह्मवाद का ही समर्थन कर दिया है ?

समाधान—नहीं। वह सत्ता द्वैतरूप भावैकांत ही ब्रह्मवाद है अतः वह संग्रहाभास है।

शंका—क्यों ?

समाधान—क्योंकि वह अपने ब्रह्मवाद विषय के भेदों का निराकरण करने वाला है। स्व—अपने ब्रह्मवाद का अर्थ—विषय, सन्मात्र, उसके भेद—जीवादि विशेषों का निराकरण—निषेध करने वाला है। निश्चित ही सर्वथा सत्रूप में भेदों को अवकाश नहीं है और भेद रहित वह सामान्य कैसे रह सकता है क्योंकि निराश्रय रूप है और अर्थक्रिया से रहित है। नैकं[2] स्वस्मात् प्रजायते—' एक ही ब्रह्म अपने आप से उत्पन्न नहीं हो सकता है' ऐसा न्याय है। उस ब्रह्माद्वैत में क्रिया कारक का भेद भी नहीं है कि जिससे अर्थक्रिया संभव हो सके अर्थात् नहीं हो सकती है।

भावार्थ—ब्रह्माद्वैतवादी का कहना है कि सभी चेतन-अचेतन रूप जगत् सत्रूप है वह सन्मात्र शरीरधारी परम ब्रह्म ही है।

उत्थानिका—अब इस समय नैगमनय और तदाभास का निरूपण करते हैं—

अन्वयार्थ—(अन्योन्यगुणभूतैकभेदाभेद प्ररूपणात्) परस्पर में गौणभूत और प्रधानभूत भेद तथा अभेद का प्ररूपण करने से (नैगमः) नैगमनय है। (अर्थांतरोक्तौ) और द्रव्य से गुणादि को भिन्न कहने पर (नैगमाभासः) नैगमाभास (इष्यते) माना जाता है।।९।।

अर्थ—परस्पर में गौणभूत और एक—प्रधानभूत भेद और अभेद का प्ररूपण करने वाला नैगम नय है और अर्थांतर को करने में—द्रव्य से गुणादि को भिन्न कहने में वह नैगमाभास माना जाता है अर्थात् द्रव्य

१-२. आप्तमीमांसा कारिका।

इष्यते मन्यते स्याद्वादिभिः। कः नैगमः निगमो मुख्यगौणकल्पना तत्र भवो नयो नैगम इति। कुतः अन्योन्येत्यादिगुणभावोऽप्रधानभूतः एकश्च प्रधानभूतः अन्योन्यं परस्परं गुणभूतैकौ अन्योन्यगुणभूतैकौ तौ च तौ भेदाभैदौ च तयोः प्ररूपणात् ग्रहणात्। तथाहि गुणगुणिनामवयवावयविनां क्रियाकारकाणां जातितद्वतां च कथंचिद्भेदं गुणीकृत्याभेदं प्ररूपयति। अभेदं वा गुणीकृत्य भेदं प्ररूपयति। नैगमनयस्यैवंविधत्वात्। प्रमाणे भेदाभेदयोरनेकांतग्रहणात्। ननु गुणगुण्यादीनामत्यंतभेद एवेति चेदत्राह—अर्थेत्यादि। अर्थांतरत्वं गुणगुण्यादीनामत्यंतभेदः तस्योक्तौ प्ररूपणायां नैगमाभास इष्यते तस्य प्रमाणबाधितत्वात्। न खलु द्रव्याद्गुणादयोऽत्यंतभिन्नाः प्रतीयंते। अशक्यविवेचनत्वेन कथंचित्तादात्म्यप्रतीतेः। संबंधाभावाच्च।।

ननु समवायसंबंधोऽस्त्येव गुणगुण्यादीनामिति यौगमतं निराकुर्वन्नाह—

स्वतोऽर्थाः संतु सत्तावत्सत्तया किं सदात्मनां।।
असदात्मसु नैषा स्यात्सर्वथाऽतिप्रसंगतः।।१०।।

से गुणादि के भेद-अभेद को कथंचित् मुख्य गौण से कहने से नैगमनय होता है और सर्वथा भेद को कहने से नैगमाभास हो जाता है।।९।।

तात्पर्यवृत्ति—निगम—मुख्य गौण कल्पना, उसमें होने वाला नय ‘‘नैगम’’ कहलाता है, ऐसा स्याद्वादियों ने स्वीकार किया है। अन्योन्य-परस्पर में गुणभूत—अप्रधानभूत और एक—प्रधानभूत भेद-अभेद का प्ररूपण करता है अर्थात् गुण-गुणी में, अवयव-अवयवी में, क्रिया-कारकों में और सामान्य-सामान्यवान् में कथंचित् भेद को गौण करके अभेद का प्ररूपण करता है अथवा अभेद को गौण करके भेद को प्ररूपित करता है, यह नैगमनय इस प्रकार का है। प्रमाण में भेद और अभेद का अनेकांत ग्रहण होता है।

शंका—गुण-गुणी आदि में अत्यंत भेद ही है ?

समाधान—गुण और गुणी में अर्थांतर—अत्यंत भेद प्ररूपित करने पर तो वह नैगमाभास माना जावेगा क्योंकि वह अत्यंत भेद प्रमाण से बाधित है। निश्चित ही द्रव्य से अत्यन्त भिन्न गुण आदि प्रतीति में नहीं आते हैं क्योंकि द्रव्य से गुणादि का अशक्य विवेचन होने से उनमें तादात्म्य प्रतीत हो रहा है और उन्हें अत्यन्त भिन्न मानने पर उनमें संबंध का अभाव है।

भावार्थ—वैशेषिक का कहना है कि अग्नि द्रव्य से उष्ण गुण सर्वथा भिन्न है, वस्त्र के सूतरूप अवयवों से वस्त्र अवयवी भी भिन्न है, सत् सामान्य से सत्सामान्य वाली वस्तु भी भिन्न है किन्तु आचार्यों का कहना है कि इस प्रकार से द्रव्यादि से गुणादि का अलग अस्तित्व प्रतीत नहीं हो रहा है इसलिए द्रव्य से गुणादि को भिन्न कहने में वह नैगमनय नहीं रहकर नैगमाभास हो जाता है।

उत्थानिका—गुण-गुणी आदि में समवाय संबंध है ही है इस प्रकार के यौगमत का निराकरण करते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(सत्तावत् अर्थाः स्वतः संतु) सत्ता के समान पदार्थ स्वतः विद्यमान होवें, पुनः (सदात्मनां सत्तया किं) सत्रूप पदार्थों में सत्ता से क्या प्रयोजन है ? (असदात्मसु एषा न स्यात्) असत् रूप पदार्थों में भी वह सत्ता नहीं हो सकती है (सर्वथा अतिप्रसंगतः) सब प्रकार से अतिप्रसंग दोष आता है।।१०।।

अर्थ—सत्ता के समान पदार्थ स्वतः विद्यमान होवें, पुनः सत्स्वरूप पदार्थों में सत्ता से क्या प्रयोजन है ? यदि वे सर्वथा असत्स्वरूप हैं तो उनमें भी यह सत्ता नहीं हो सकती है अन्यथा अतिप्रसंग दोष आ जाता है।।१०।।

यौगमते भावानां स्वतः सदात्मनां सत्तासमवायोऽसदात्मनां वेति विकल्पद्वयं मनसिकृत्य प्रथमपक्षे दूषणमाह—स्वतः स्वरूपेणार्थाः पदार्थाः संतु। किंवत् सत्तावत् यथा सत्तांतराद्विनाऽपि सत्ता परसामान्यं स्वत एवास्ति तथा द्रव्यादीन्यपि स्वत एव संतु विद्यंतां। तथा च स्वतः सदात्मनां सत्तया किं साध्यं न किमपीत्यर्थः। विनाऽपि तया तेषां सत्त्वात्। द्वितीयविकल्पं दूषयति। सर्वथाऽसदात्मसु द्रव्यादिषु परा सत्ता न स्यात् न वर्तेत अतिप्रसंगात्। खरविषाणादावपि सर्वथाऽसति सत्तासमवायप्रसंगात्। एवं द्रव्यत्वादि-समवायोऽप्यनयैव दिशा चिंतनीयः। स्वतो द्रव्यस्य द्रव्यत्वसमवायानर्थक्यात्। अद्रव्यस्य तु तत्समवायेऽति-प्रसंगादिविकल्पोपपत्तेः। किंच अवयव्यवयवेष्वेकदेशेन सर्वात्मना वा वर्तेत ? आद्यपक्षे तस्य तावद्भिरंशै-र्भवितव्यं अन्यथा अवयवानामेकत्वप्रसंगात् तत्रापि वृतौ तस्य तावदंशांतरकल्पनायामनवस्था स्यात्। सर्वात्मना चेदवयविबहुत्वापत्तेः। अन्यथा वृत्तिविरोधात्। ततः कथंचित्तादात्म्यलक्षणः समवायस्तेषामभ्यु-पगंतव्यो नान्यथेति स्थितं।।

तात्पर्यवृत्ति—यौगमत में स्वतः सत् स्वरूप पदार्थों में सत्ता समवाय होता है या असत् स्वरूप पदार्थों में सत्ता समवाय है ? इस प्रकार के दो विकल्प को मन में रखकर प्रथम पक्ष में दूषण देते हैं—

स्वतः स्वरूप से सत्तावत् पदार्थ होवें अर्थात् जैसे सत्तांतर के बिना भी सत्ता—परसामान्य स्वतः ही है, उसी प्रकार द्रव्यादि भी स्वतः ही होवें और उस प्रकार से स्वतः सत् स्वरूप के सत्ता से क्या प्रयोजन है? अर्थात् कुछ भी प्रयोजन नहीं है यह अर्थ हुआ क्योंकि उस सत्ता के बिना भी उन पदार्थों का सत्त्व है।

अब द्वितीय विकल्प को दूषित करते हुए कहते हैं—

सर्वथा असत् स्वरूप द्रव्यादिकों में अन्य कोई सत्ता है नहीं अन्यथा अतिप्रसंग आ जावेगा। सर्वथा असत् रूप खर, विषाण आदि में भी सत्ता समवाय हो जाना चाहिए।

एवं द्रव्यत्वादि समवाय का भी इसी प्रक्रिया से विचार करना चाहिए अर्थात् प्रश्न यह उठता है कि द्रव्य में स्वतः द्रव्यत्व है या नहीं ? यदि द्रव्य में स्वतः द्रव्यत्व है तो द्रव्यत्व का समवाय अनर्थक है और यदि नहीं है अर्थात् वह द्रव्य अद्रव्य है तब तो उसमें अद्रव्य में द्रव्यत्व का समवाय मानने पर अतिप्रसंग दोष आ जाता है।

दूसरी बात यह है कि अवयवी अवयवों में एकदेश से रहता है या सर्वात्मदेश से रहता है ? यदि प्रथम पक्ष लो कि वह अवयवी अवयवों में एकदेश से रहता है तब तो उस अवयवी को जितने कि अवयव हैं उतने ही अंशों से होना चाहिए अन्यथा सभी अवयवों को एकत्व का प्रसंग आ जावेगा। यहाँ पर भी रहना मानने पर तो फिर उस अवयवी के उतने ही अंश कल्पित करने पर अनवस्था हो जावेगी।

यदि आप कहें कि अवयवी अवयवों में संपूर्ण रूप से रहता है तब तो अवयवी को बहुत मानना पड़ेगा अन्यथा रहने का विरोध हो जावेगा इसलिए उन गुण-गुणी आदि में कथंचित् तादात्म्य लक्षण समवाय स्वीकार करना चाहिए अन्य प्रकार से नहीं, यह बात व्यवस्थित हो गई।

विशेषार्थ—प्रत्येक वस्तु में कथंचित् तद्भाव लक्षण अभिन्न रूप एक संबंध दिख रहा है जैसे कि जीव का ज्ञान गुण जीव से अभिन्न है, तद्भावरूप है और अग्नि का उष्ण गुण भी अभिन्न है। इसे ही जैनों ने तादात्म्य लक्षण संबंध कहा है कि जिसको कभी भी वस्तु से अलग नहीं कर सकते हैं। यौग ने अकारण ही इस अभिन्न रूप अयुत लक्षण संबंध को समवाय नाम देकर पृथक् से सिद्ध करना चाहा था किन्तु जैनाचार्यों का कहना है कि कथंचित् तादात्म्य लक्षण संबंध को ही आप समवाय नाम दे दीजिए, कोई बाधा नहीं है।

ननु ब्रह्मवादभेदवादयोरपि प्रमाणादिव्यवहारसंभवात्कथं संग्रहनैगमाभासत्वमित्याक्षेपं विक्षिपन्नाह —

प्रामाण्यं व्यवहाराद्धि स न स्यात्तत्त्वतस्तयोः।
मिथ्यैकांते विशेषो वा कः स्वपक्षविपक्षयोः।।११।।

प्रमाणं स्वेष्टानिष्टसाधनदूषणनिबंधनं प्रत्यक्षमन्यद्वा सर्वैरभ्युपगंतव्यमन्यथाऽतिप्रसंगात्। तच्च व्यवहारात् विधिपूर्वकमवहरणं विभंजनं भेदकल्पनं व्यवहारस्तस्मात् तमाश्रित्येत्यर्थः। स च तत्त्वतः परमार्थतो न स्यात्। क्व तयोः संग्रहाभासनैगमाभासयोः। न खलु निरपेक्षे भावैकांते प्रमाणादिभेदव्यवहारोऽस्ति निराकृतत्वात्। भेदैकांते वा प्रमाणफलव्यवहारोऽस्ति संबंधाभावात्। औपचारिकः प्रमाणफलव्यवहारस्तत्रास्तीति चेदत्राह — मिथ्येत्यादि। मिथ्यैकांते प्रमाणव्यवहारस्यावास्तवैकांते अंगीक्रियमाणे। विशेषोऽभेदोऽपि (भेदोपि) कः? न कोऽपीत्यर्थः। कयोः स्वपक्षविपक्षयोः स्वपक्षो ब्रह्मवादो भेदवादो वा। विपक्षः क्षणिकवादोऽद्वैतवादो वा तयोः संकरप्रसंगादित्यर्थः। ततः कथंचिद् व्यवहारोऽपि वास्तवोंऽगीकर्तव्यः।

उत्थानिका — ब्रह्मवाद और भेदवाद में भी प्रमाण आदि व्यवहार संभव हैं अतः वे संग्रहावास और नैगमाभास कैसे हैं ? इस प्रकार के आक्षेप को समाप्त करते हुए कहते हैं —

अन्वयार्थ — (व्यवहारात् हि प्रामाण्यं) निश्चित रूप से व्यवहार से प्रमाणता होती है। (तयोः) इन ब्रह्मवाद और भेद में (सः तत्त्वतः न स्यात्) वह व्यवहार वास्तविक नहीं है। (वा) अथवा (मिथ्यैकांते) इस व्यवहार को एकांत से मिथ्या मानने पर (स्वपक्ष विपक्षयोः) स्वपक्ष और विपक्ष में (का विशेषः) क्या अंतर रहेगा ?।।११।।

अर्थ — व्यवहार से प्रमाणता है ऐसा कहने पर तो इन ब्रह्मवाद और भेदवाद में वह प्रमाणादि व्यवहार वास्तविक नहीं रहेगा, पुनः एकांत से वह व्यवहार मिथ्या है ऐसा मानने पर तो स्वपक्ष और परपक्ष में क्या अंतर रहेगा ? अर्थात् कुछ भी नहीं रहेगा।।११।।

तात्पर्यवृत्ति — अपने इष्ट के साधन और अनिष्ट के दूषण में निमित्तक प्रत्यक्ष अथवा अन्य — अनुमान आदि प्रमाण हैं, इस बात को सभी को स्वीकार करना चाहिए, अन्यथा अतिप्रसंग आ जावेगा और वह प्रमाण व्यवहार से उन दोनों में वास्तविक नहीं है अर्थात् विधिपूर्वक अवहरण — विभाग करना — भेद कल्पना करना व्यवहार कहलाता है। इस व्यवहार का आश्रय लेकर संग्रहाभास और नैगमाभास में प्रमाणता परमार्थ से नहीं है।

निश्चित ही निरपेक्ष भावैकांत में प्रमाण आदि भेद व्यवहार नहीं है, इसका पहले निराकरण कर दिया है। भेदैकांत में भी प्रमाण और प्रमाण के फल का व्यवहार नहीं है क्योंकि उसमें संबंध का अभाव है।

प्रश्न — उनमें औपचारिक प्रमाण और फल का व्यवहार है ?

उत्तर — भेद एकांत के पक्ष में यदि आप प्रमाण और फल के व्यवहार को एकांत से अवास्तविक स्वीकार करते हैं तब तो स्वपक्ष और परपक्ष में क्या अंतर होगा ? अर्थात् कुछ भी अंतर नहीं होगा।

ब्रह्मवादी के पक्ष में ब्रह्मवाद स्वपक्ष है और क्षणिकवाद विपक्ष है। यौग के पक्ष में भेदवाद स्वपक्ष है और अद्वैतवाद विपक्ष है।

भेदैकांत में प्रमाण, फल आदि व्यवहार को मिथ्या मानने पर तो स्वपक्ष और परपक्ष में संकर का प्रसंग आ जावेगा इसलिए कथंचित् प्रमाणादि व्यवहार भी वास्तविक स्वीकार करना चाहिए।

सांप्रतं तस्य सुनयत्वं प्रतिपादयति—

व्यवहारोऽविसंवादी नयः स्याद्दुर्नयोऽन्यथा।
बहिरर्थोऽस्ति विज्ञप्तिमात्रशून्यमितीदृशः।।१२।।

स्वाद्भवेत्। कः नयः संग्रहादिः। किंविशिष्टः बहिरर्थोऽस्तीतीदृशः। इतिशब्दात्प्रमाणमस्ति साध्यसाधनभावोऽस्ति इत्यादि। कथंभूतः सन् व्यवहाराविसंवादी हेतुफलभावादिव्यवस्था व्यवहारः तस्याविसंवादोऽव्यभिचारः सोऽस्यास्तीति तथोक्तः। व्यवहारस्य हि सुनयत्वे तदाश्रया हेतुफलभावादिसिद्धिः स्यात्। अन्यथा व्यवहारविसंवादी दुर्नयः स्यात्। कीदृशः विज्ञप्तिमात्रं विज्ञप्तिविज्ञानमेव तत्त्वं नान्यत्। शून्यं समस्तज्ञानज्ञेयोपप्लव एव तत्त्वमितीदृशः। इतिशब्दः प्रकारवाची सन्मात्रमेव तत्त्वं विभ्रम एव तत्त्वं

विशेषार्थ—ब्रह्मवादी का कहना था कि हमारे यहाँ प्रमाणादि व्यवहार संभव हैं पुनः हमारे ब्रह्मवाद को विषय करने वाला नय संग्रहाभास कैसे होगा ? ऐसे ही यौग ने कहा कि हमारे भेद पक्ष में भी प्रमाणादि व्यवहार होते हैं पुनः हमारे मत के पदार्थों को जानने वाला नय नैगमाभास कैसे कहलाएगा ? आचार्यों ने कहा कि यह प्रमाण आदि का कथन व्यवहार मात्र से ही है अर्थात् कल्पित ही है किन्तु वास्तविक नहीं है, पुनः उस कल्पित मात्र प्रमाण आदि की व्यवस्था से स्वपक्ष और परपक्ष में अंतर सिद्ध करना असंभव हो जावेगा इसलिए प्रमाण आदि व्यवहार को आप कल्पित मत कहिए और वास्तविक प्रमाण आदि व्यवस्थाएँ जहाँ हैं वहाँ एकांत मान्यता को गुंजाइश नहीं है।

उत्थानिका—अब उनके सुनयत्व को प्रतिपादित करते हैं—

अन्वयार्थ—(बहिः अर्थः अस्ति) 'बाह्य पदार्थ है' ऐसा (अविसंवादी व्यवहारः) अविसंवादी व्यवहार (नयः) स्यात् नय है। (अन्यथा) अन्य प्रकार से (विज्ञप्तिमात्र शून्यं) तत्त्व विज्ञानमात्र या शून्यमात्र है (इति ईदृशः) इस प्रकार ऐसा व्यवहार (दुर्नयः) दुर्नय है।।१२।।

अर्थ—'बाह्य अर्थ है' इस प्रकार से अविसंवादी व्यवहार वाले नय सुनय हैं और अन्यथा—अन्य प्रकार से 'विज्ञानमात्र तथा शून्यमात्र तत्त्व है' ऐसा कहने वाले नय दुर्नय कहे जाते हैं।।१२।।

भावार्थ—जो नय व्यवहार में विसंवादरहित है वे ही सुनय हैं जैसे—'बाह्य पदार्थ हैं' प्रत्युत् अनुसरण करते हैं और इनसे विपरीत जो नय 'विज्ञान मात्र तत्व है' इत्यादि एकांत को कहने वाले हैं वे व्यवहार की प्रतीति का अपलाप करने वाले होने से दुर्नय हैं।

तात्पर्यवृत्ति—'बाह्य अर्थ है' इस प्रकार ग्रहण करने वाले होने से संग्रह आदि नय साध्य-साधन भावस्वरूप प्रमाणीक हैं क्योंकि ये व्यवहार में अविसंवादी हैं। कारण-कार्यभाव आदि व्यवस्था को व्यवहार कहते हैं, इस व्यवहार में ये विसंवादरहित, अव्यभिचारी हैं। व्यवहार के सुनयरूप होने पर उस व्यवहार के आधीन कारण-कार्यभाव आदि की सिद्धि होती है, अन्यथा—व्यवहार में विसंवादी होने से वे दुर्नय हो जाते हैं।

प्रश्न—कैसे दुर्नय होते हैं ?

उत्तर—विज्ञानमात्र ही तत्त्व है, अन्य कुछ नहीं है। सब कुछ शून्य ही है—समस्त ज्ञान और ज्ञेय का अभाव ही शून्य तत्त्व है। इस प्रकार कहने वाले नय दुर्नय हैं। यहाँ कारिका में 'इति' शब्द प्रकारवाची है, 'सन्मात्र—परमब्रह्म ही तत्त्व है'। 'विभ्रम ही तत्त्व है' इत्यादि प्रकारों को सूचित करता है।

इत्यादिप्रकारान् सूचयति। संग्रहेण हि सर्वं सत्तदभेदादिति सर्वैक्यमभिप्रैति। व्यवहारस्तु तदेव विधिपूर्वकमवहरति भिनत्ति। यथा यत्सत्तद्द्रव्यं पर्यायो वेति। पुनरपरसंग्रहो जीवादीन् द्रव्यमिति संगृह्णाति। ज्ञानं रागादीश्च पर्याय इति संगृह्णाति। अपरव्यवहारः पुनर्द्रव्यं तज्जीवोऽजीवो वेति। यश्च पर्यायोऽसौ सहभावी क्रमभावी भवति। एवं परापरसंग्रहव्यवहारपरंपरा वर्तते यावदृजुसूत्रविषय इति।।

इदानीं ऋजुसूत्रनयं निरूपयति—

ऋजुसूत्रस्य पर्यायः प्रधानं चित्रसंविदः।।
चेतनाणुसमूहत्वात्स्याद्भेदानुपलक्षणं।।१३।।

प्रश्न—सुनय कैसे है ?

उत्तर—संग्रहनय संग्रह रूप से 'सब कुछ सत्‌रूप है क्योंकि सभी वस्तु में सत् से अभेद है' इस प्रकार सभी में एकत्व स्वीकार करता है किन्तु व्यवहारनय उन्हीं में विधिपूर्वक भेद करता है, जैसे जो सत् है वह द्रव्य है अथवा पर्याय है। पुनः अपरसंग्रह 'जीवादि द्रव्य हैं' इस प्रकार संग्रह करता है तथा 'ज्ञान और रागादिभाव पर्याये हैं' इस प्रकार संग्रह करता है। पुनः अपर व्यवहारनय जो द्रव्य है वह जीव अथवा अजीव है और जो पर्याय हैं वे सहभावी तथा क्रमभावी होती हैं। इस प्रकार परसंग्रह-अपर संग्रह, पर व्यवहार-अपर व्यवहार की परम्परा चलती रहती है, जब तक कि ऋजुसूत्र का विषय नहीं आ जाता है।

विशेषार्थ—संग्रहनय वस्तु को संग्रहरूप से विषय करता है और व्यवहारनय उसमें भेद करता है। संग्रहनय के दो भेद हैं—परसंग्रह और अपरसंग्रह। इन्हीं को सामान्य संग्रह और विशेष संग्रह भी कहते हैं। सामान्य संग्रह सामान्य से चेतन-अचेतन सभी वस्तु को सत् रूप से एकरूप ग्रहण करता है और विशेष संग्रह जीव को द्रव्यरूप से कहता है अथवा अजीव को द्रव्यरूप से कहता है। व्यवहार नय के भी मुख्य दो भेद हैं—पर व्यवहार, अपर व्यवहार। पर संग्रह से ग्रहण किये गये में भेद करने वाला पर व्यवहार है और अपर संग्रह से ग्रहण किये गये में भेद करने वाला अपर व्यवहार है। इन दोनों नयों की परम्परा तब तक चलती रहती है कि जब तक वर्तमान एक समय मात्र की एक पर्याय को विषय करने वाला ऋजुसूत्र नहीं आ जाता है।

इस प्रकार से एक ब्रह्ममात्र अथवा ज्ञानमात्र तत्त्व आदि को ग्रहण करने वाले दुर्नय कहलाते हैं और वस्तु के एक अंश—धर्म को ग्रहण कर अन्य धर्म का विरोध नहीं करने वाले सुनय कहे जाते हैं।

यहाँ पर वृत्तिकार ने द्रव्य और पर्यायों को ही ग्रहण करके पर्यायों में सहभावी-क्रमभावी ऐसे दो भेद दिखलाये हैं। उनमें सहभावी पर्यायें ही गुण कहलाती हैं और क्रमभावी पर्यायें पर्याय शब्द से जानी जाती हैं।

उत्थानिका—अब ऋजुसूत्र नय का निरूपण करते हैं—

अन्वयार्थ—(ऋजुसूत्रस्य प्रधानं पर्यायः) ऋजुसूत्र का विषय पर्याय है और (चित्रसंविदः) चित्रज्ञान में (चेतनाणुसमूहत्वात्) ज्ञान के अंशों का समूह होने से उसमें (भेदानुपलक्षणं स्यात्) भेद उपलक्षित नहीं होता है।।१३।।

अर्थ—ऋजुसूत्रनय का प्रधान—विषय पर्याय है और चित्रज्ञान में ज्ञान के अंशों का समूह है किन्तु उसमें भेद उपलक्षित नहीं होता है अर्थात् ऋजुसूत्र एकसमयवर्ती वर्तमान पर्याय को विषय करता है किन्तु चित्रज्ञान को विषय नहीं करता है क्योंकि चित्रज्ञान में अनेकों ज्ञान के अंश विद्यमान हैं भले ही वे जाने नहीं जाते हैं।।१३।।

ऋजु प्रगुणं वर्तमानपर्यायलक्षणं सूत्रयति निरूपयतीति ऋजुसूत्रस्य प्रधानं विषयः स्याद्भवेत्। कः पर्यायः वर्तमानविवर्तः। अतीतस्य विनष्टत्वेन भविष्यतश्चासिद्धत्वेन व्यवहारानुपयोगात्। व्यवहाराविसंवादी नय इति वचनात्। ननु चित्रज्ञानमेकमनेकाकारं व्यवहारोपयोगि स्यादिति चेदत्राह—चित्रेत्यादि। चित्रा नीलपीतादिनानारूपा संवित् ज्ञानं तस्याः। चेतनाणुसमूहत्वात् चेतना ज्ञानं तस्याणवः अंशाः अविभाग-प्रतिच्छेदास्तेषां समूहः समुदायाः तत्त्वान्न चित्रसंविदृजुसूत्रनयस्य विषयः। न खलु समुदायः प्रतिनियतव्य-वहारोपयोगीति। नन्वेवं तत्र भेदः किमिति नोपलक्ष्यते इति चेदाह—भेदानुपलक्षणमिति। सदृशौ परौपरोत्पत्तिविप्रलंभादित्यध्याहारः। ततो भेदस्य नानात्वस्यानुपलक्षणमदर्शनं सदृशापरापरोत्पत्त्या विप्रलब्धबुद्धिः स्यादिति व्याख्यायते। अयमर्थः यथा अयोगोलकादौ पर्यायभेदो विद्यमानोऽपि विप्रलब्धबुद्धिना न निश्चीयते तथा चित्रसंविद्यपि तदंशभेदो वसन्नपि नोपलक्ष्यत इति। अथवा स्यात्कथंचिद्द्रव्याविनाभाविपर्याय ऋजुसूत्रस्य प्रधानं। सर्वथा द्रव्यनिरपेक्षस्य पर्यायस्यावस्तुत्वात्। निरन्वयस्य क्षणिकैकांत ऋजुसूत्राभास इति व्याख्येयं।।

तात्पर्यवृत्ति—ऋजु अर्थात् प्रगुण—सरल वर्तमान पर्याय के लक्षण को जो सूचित करता है—निरूपित करता है वह ऋजुसूत्रनय है अर्थात् ऋजुसूत्रनय का प्रधान—विषय वर्तमान पर्याय मात्र है क्योंकि अतीत पर्यायें विनष्ट हो चुकी हैं और भविष्यत् पर्यायें अभी-अभी उत्पन्न नहीं होने से असिद्ध हैं अतः ये अतीतानागत पर्यायें व्यवहार में उपयोगी नहीं हैं। 'नय व्यवहार में अविसंवादी होते हैं' ऐसा वचन है।

प्रश्न—एक चित्रज्ञान अनेकाकार है फिर भी व्यवहार में उपयोगी है।

उत्तर—नील, पीतादि नानारूप चित्र वाला संवेदन—ज्ञान चित्रज्ञान है, वह चेतना के अणुओं का समूह है अर्थात् चेतना—ज्ञान, उसके जो अणु-अंश-अविभागी प्रतिच्छेद हैं, उन ज्ञान के अविभागी प्रतिच्छेदों का समुदाय है इसलिए यह चित्रज्ञान वास्तव में ऋजुसूत्र नय का विषय नहीं है क्योंकि समुदाय प्रतिनियत व्यवहार में उपयोगी नहीं होता है।

प्रश्न—यदि ऐसी बात है तो उस चित्रज्ञान में भेद उपलक्षित क्यों नहीं होता है ?

उत्तर—उस चित्रज्ञान का भेद उपलक्षित नहीं होता है क्योंकि सदृश पर-अपर की उत्पत्ति होने से भ्रम हो जाता है अर्थात् भेदों में अनेक प्रकार उपलक्षित नहीं हैं—दिखते नहीं हैं, उसमें कारण यही है कि सदृश अपर-अपर की उत्पत्ति होने से उन भेदों को ग्रहण करने में बुद्धि वंचित हो जाती है, ऐसा अर्थ है। जिस प्रकार लोहे के गोले आदि में पर्याय का भेद विद्यमान होते हुए भी भ्रमबुद्धि से निश्चित नहीं होता है उसी प्रकार से चित्रज्ञान में भी उसके अंश भेद रहते हुए भी दिखते नहीं हैं।

अथवा कथंचित् द्रव्य के साथ अविनाभावी पर्याय ही ऋजुसूत्र नय का विषय है क्योंकि द्रव्य से निरपेक्ष पर्याय अवस्तुरूप है। निरन्वय वस्तु को मानने वाले क्षणिकैकांत मत में यह नय ऋजुसूत्राभास है अर्थात् द्रव्यनिरपेक्ष पर्याय को विषय करने वाला नय ऋजुसूत्राभास कहलाता है, ऐसा व्याख्यान करना चाहिए।

विशेषार्थ—बौद्धों ने निरन्वय एक क्षणवर्ती पर्याय को स्वलक्षण कहा है और परमार्थसत् कहते हैं तथा उसे निर्विकल्प प्रत्यक्ष का विषय मानते हैं किन्तु वास्तव में विचार करके देखा जाये तो जैनों द्वारा मान्य ऋजुसूत्रनय एक क्षणवर्ती पर्याय को विषय करता है इसी नय के विषय को एकांत से ग्रहण करने से ये बौद्ध एकांतवादी बन गये हैं इसलिए यह ऋजुसूत्रनय इनके मत से नयाभास हो जाता है।

अधुना शब्दसमभिरूढेत्थंभूताँस्त्रीनपि नयान्निरूपयति—

कालकारकलिंगानां भेदाच्छब्दा[१]र्थभेदकृत्।।
अभिरूढस्तु पर्यायैरित्थंभूतः क्रियाश्रयः।।१४।।

शब्दो नाम नयः स्यात्। किंविशिष्टः अर्थभेदकृत् अर्थस्य प्रमेयस्य भेदं नानात्वं करोत्यभिप्रैतीत्यर्थभेदकृत्। कस्माद्भेदाद्विशेषात्। केषां कालकारकलिंगानां कालश्च कारकं च लिंगं च कालकारकलिंगानि तेषामुपलक्षण-मेतत् तेन संख्यासाधनोपग्रहादपीत्यर्थः। तत्र कालभेदात्तावदभूद्भवति भविष्यति जीवः। न खलु सत्ताभेदं बिनाऽभूदादिप्रयोगो युक्तोऽअप्रसंगात्[२]। कारकभेदात्पश्यति देवदत्तः, दृश्यते देवदत्तेन देवदत्तं गोपयति, देवदत्तेन दीयते देवदत्ताय, देवदत्ताल्लभते, देवदत्ते पौरुषमिति। न हि स्वातंत्र्यादिधर्मभेदाभेदे कर्त्रादिकारक-प्रयोगो युक्तः अतिप्रसंगात्। एवं लिंगभेदात् दाराः कलत्रं भार्येति पुंस्त्वादिधर्मभेदेऽपि तत्प्रयोगे सर्वत्र तन्नियमाभावप्रसंगात्। संख्याभेदात् जलमापः आम्रवनं चैत्रमैत्रौ कुलमिति। एकत्वादिधर्मभेदादेव तद्वचनं भेदोपपत्तेरन्यथाऽतिप्रसंगादेव। साधनभेदात् देवदत्तः पचति, त्वं पचसि, अहं पचामीति। न खलु अन्यार्थत्वाद्यभावे प्रथमपुरुषादिप्रयोगो दृष्टोऽतिप्रसंगादेव। उपग्रहभेदादप्यर्थभेदो यथा तिष्ठति वितिष्ठते

उत्थानिका—अब शब्द, समभिरूढ़ और इत्थंभूत इन तीनों नयों का भी निरूपण करते हैं—

अन्वयार्थ—(कालकारकलिंगानां) काल, कारक और लिंगों के (भेदात्) भेद से (शब्दार्थ भेद कृत्) अर्थ में भेद को करने वाला शब्दनय है (पर्यायैः तु अभिरूढ़ः) और पर्यायवाची शब्दों से भेद करने वाला समभिरूढ़नय है तथा (क्रियाश्रयः इत्थंभूतः) क्रिया के आश्रय से भेद करने वाला एवंभूतनय है।।१४।।

अर्थ—काल, कारक और लिंगों के भेद से अर्थ में भेद करने वाला शब्द नय है, पर्यायवाची शब्दों से अर्थभेद करने वाला समभिरूढ़ नय है और क्रिया के आश्रय से भेद करने वाला इत्थंभूतनय है।।१४।।

तात्पर्यवृत्ति—जो अर्थ—प्रमेय में भेद—नानात्व को करने वाला है वह शब्द नय है। कैसे भेद करता है ? काल, कारक और लिंगों के भेद से भेद करता है। यह कथन उपलक्षणमात्र है अतः संख्या, साधन और उपग्रह से भी यह नय अर्थ में भेद करता है, ऐसा समझना। उसमें काल भेद को दिखाते हैं—

जीव था, है और होगा यह काल भेद है क्योंकि सत्ता भेद के बिना अभूत—था आदि प्रयोग युक्त नहीं है अन्यथा अतिप्रसंग हो जावेगा। कारक भेद से—देवदत्त देखता है, देवदत्त के द्वारा देखा जाता है, देवदत्त रक्षा करता है, देवदत्त के द्वारा दिया जाता है, देवदत्त से प्राप्त होता है, देवदत्त में पुरुषार्थ है। स्वातन्त्र आदि धर्म के भेद से अभेद में कर्ता आदि कारकों का प्रयोग युक्त नहीं है अन्यथा अतिप्रसंग हो जावेगा।

लिंग भेद से—दारा पुल्लिंग है, कलत्र नपुंसकलिंग है और भार्या स्त्रीलिंग है, इनमें पुल्लिंग आदि धर्म से भेद होने पर भी इनका प्रयोग करने पर सर्वत्र उसके नियम के अभाव का प्रसंग हो जावेगा।

संख्या के भेद से—जलं एक वचन है, आपः बहुवचन है, आम्रवनं एकवचन है, चैत्रमैत्रौ द्विवचन है, कुलं एक वचन है। यहाँ एकत्व आदि धर्म के भेद से ही उन वचनों में भेद पाया जाता है अन्यथा अतिप्रसंग ही होगा।

साधन के भेद से—देवदत्त पकाता है, तुम पकाते हो, मैं पकाता हूँ। इस प्रकार निश्चित ही अन्य अर्थ आदि के अभाव में प्रथम पुरुषादि का प्रयोग नहीं देखा जाता है अन्यथा अतिप्रसंग ही है।

उपग्रह के भेद से भी अर्थ में भेद देखा जाता है। जैसे तिष्ठति—ठहरता है, वितिष्ठते—जाता है,

---

१. शब्दोऽर्थ-न्यायकुमुद। २. अतिप्रसंगात् इत्यपि संभवति।

अवतिष्ठते इति व्यवाद्युपसर्गाणामितरेतरभेदादर्थभेदकत्वादन्यथा प्रतिष्ठते इत्यादावपि तदर्थप्रसंगात्। अतः कारिकोत्तरार्धं व्याख्यायते। तु पुनरभिरूढो नाम नयः। पर्यायैः पर्यायशब्दैः। अर्थभेदकृत् यथा इंदनादिंद्रः शकनात् शक्रः पूर्दारणात्पुरंदरः इति। न हींदनादिधर्मभेदाभावे इंद्रादिशब्दः प्रयोक्तुं शक्यः। अन्यथाऽभिरूढः इति निरुक्तेः। पुनरित्थंभूतो नाम नयः। क्रियाश्रयो विवक्षितक्रियाप्रधानः सन्नर्थभेदकृत्। यथा यदैवेंदति तदैवेंद्रः नाभिषेचको न पूजक इति। अन्यथाऽपि तद्भावे क्रियाशब्दप्रयोगनियमो न स्यात्। ततोऽर्थभेदाभावेऽपि कालादिभेदोऽविरुद्ध इति वैयाकरणैकांतः शब्दनयाद्याभासः स्यात् नन्वेवं लोकसमय[१]विरोध इति चेद्विरुध्यतां तत्त्वमीमांसायास्तदिच्छानुवृत्त्यभावात्। न हि भेषजमातुरेच्छानुवर्ति। कथं तर्हि तद्विरोधध्वंस इति चेत्स्यात्कारबलादिति ब्रूमः। सर्वत्र प्रतिपक्षाकांक्षालक्षणस्य तदर्थस्य संभवात्। नैगमादयो हि नयास्त्रयो द्रव्यार्थकाः। ऋजुसूत्रादयश्चत्वारः पर्यायार्थकाः। ते च परस्परापेक्षा एव व्यवहाराय चेष्टंते न तन्निरपेक्षः। अतो व्यवहारोपलब्धौ च कुतस्त्यो विरोध इति। नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्राश्चत्वारोऽर्थनयाः। शब्दसमभिरूढेत्थं-

---

अवतिष्ठते — बैठता है। इस प्रकार से 'वि अव' आदि उपसर्गों का परस्पर में भेद होने से अर्थ में भेद हो जाता है अन्यथा प्रतिष्ठते — प्रस्थान करता है, इत्यादि में भी वही ठहरता है, ऐसे अर्थ का प्रसंग आ जावेगा।

अब कारिका के उत्तरार्ध का व्याख्यान करते हैं —

पर्यायवाची शब्दों से अर्थ में भेद को करने वाला समभिरूढ़ नाम का नय है। जैसे — चमकने से इंद्र, समर्थ होने से शक्र, पुरों में विभाग करने से पुरंदर इस प्रकार अर्थ होते हैं। यहाँ इंद्रन आदि धर्म में भेद का अभाव होने पर इंद्र आदि का प्रयोग करना शक्य नहीं है अन्यथा अतिप्रसंग हो जाता है। अभि — अपने अर्थ की तरफ अभिमुख होकर जो रूढ़ है — प्रसिद्ध है वह अभिरूढ़ नय है ऐसा निरुक्ति अर्थ है।

पुनः इत्थंभूत नय को कहते हैं — यह नय क्रिया के आश्रित है, विवक्षित क्रिया को प्रधान करता हुआ अर्थ में भेद को करने वाला है। जैसे — जिस समय ही इंद्रन क्रिया से युक्त है उसी काल में इंद्र है। वह न अभिषेक करने वाला है, न पुजारी है। यदि अन्य प्रकार से भी उसका सद्भाव मानेंगे तो क्रिया के शब्द के प्रयोग का नियम नहीं रह सकेगा इसलिए अर्थ में भेद का अभाव होने पर भी कालादि का भेद अविरुद्ध है, इस प्रकार का वैयाकरण का जो एकांत है। वह शब्दनयाभास आदि रूप है।

प्रश्न — इस प्रकार से तो लोक समय — व्याकरणशास्त्र में विरोध आ जाता है ?

उत्तर — लोक समय में विरोध होता है तो होवे, यहाँ तो तत्त्व के विचार में लोक समय की इच्छा के अनुसरण का अभाव है। औषधि रोगी की इच्छा के अनुरूप नहीं होती है।

प्रश्न — पुनः उस विरोध का अभाव कैसे होगा ?

उत्तर — स्यात्कार के बल से उस विरोध की समाप्ति हो जाती है ऐसा हम कहते हैं क्योंकि सर्वत्र प्रतिपक्ष की आकांक्षारूप उस स्यात्कार का अर्थ संभव है।

नैगम, संग्रह और व्यवहार ये तीन नय द्रव्य को विषय करने वाले होने से द्रव्यार्थिक हैं और ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ तथा एवंभूत ये चार नय पर्याय को विषय करने वाले होने से पर्यायार्थिक हैं। ये सभी नय परस्पर में एक-दूसरे की अपेक्षा रखते हुए ही व्यवहार के लिए प्रवृत्त होते हैं परस्पर में निरपेक्ष होकर नहीं, इसलिए व्यवहार की उपलब्धि में किस प्रकार से विरोध हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता है।

नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र ये चार अर्थ नय कहलाते हैं तथा शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत

---

१. व्याकरण।

भूतास्त्रयः शब्दनयाः शब्दाश्रयेण प्रवृत्तेः।।

ननु शब्दार्थयोः संकेतग्रहणाभावात्कथं शब्दभेदादर्थभेदः स्यात्। प्रत्यक्षेण तद्ग्रहणेऽपि व्यवहारानुपयोगात्। गृहीतसंकेतयोस्तदैव नष्टत्वात्। स्मृतेश्च तदविषयत्वात्तयोरतीतत्वादिति सौगतविप्रतिपत्तिं निराकुर्वन्नाह—

अक्षबुद्धिरतीतार्थं वेत्ति चेन्न कुतः स्मृतिः।।
प्रतिभासभिदैकार्थे दूरासन्नाक्षबुद्धिवत्।।१५।।

अक्षैर्जनिता बुद्धिर्ज्ञानं अतीतार्थं स्वकारणभूतं शब्दं वाच्यं च। चेद्यदि। वेत्ति जानाति सौगतमते हि विषयस्य ज्ञानकारणत्वात्। कारणं च कार्यक्षणात्पूर्वक्षणवर्ति इत्युच्यते। तदा कुतः कारणात्स्मृतिरप्यतीतार्थं न वेत्ति, अपि तु वेत्त्येवेत्यर्थः। नन्वेवं स्मृतेः कथं प्रामाण्यं गृहीतग्राहित्वादित्याशंक्याह—प्रतीत्यादि।

ये तीन नय शब्द नय कहलाते हैं क्योंकि इनकी प्रवृत्ति शब्द के आश्रय से होती है।

विशेषार्थ—इस कारिका में शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत इन तीन नयों का स्वरूप बताया है। यहाँ तक नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत इन सात नयों का स्वरूप हो चुका है। पूर्व के तीन नय द्रव्य को जानने वाले हैं इसीलिए वे द्रव्यार्थिक कहलाते हैं तथा शेष ऋजुसूत्र आदि चार नय पर्याय को जानने वाले हैं इसलिए पर्यायार्थिक कहलाते हैं।

उसी प्रकार नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र ये चारों पदार्थों को विषय करने से अर्थ नय हैं और शब्द, समभिरूढ़ तथा एवंभूत ये नय शब्द के निमित्त से पदार्थ को विषय करते हैं अतः ये शब्दनय कहे जाते हैं।

उत्थानिका—शब्द और अर्थ में संकेत ग्रहण का अभाव होने से शब्द के भेद से अर्थ में भेद कैसे हो सकता है ? प्रत्यक्ष से संकेत का ग्रहण होने पर भी वह व्यवहार में उपयोगी नहीं है क्योंकि गृहीत और संकेत उसी समय नष्ट हो जाते हैं। स्मृति भी संकेत को विषय नहीं करती है क्योंकि वे दोनों अतीत हो चुके हैं। इस प्रकार सौगत की आशंका का निराकरण करते हुए आचार्य कहते हैं—

अन्वयार्थ—(चेत् अक्षधीः) यदि इंद्रियज्ञान (अतीतार्थं) अतीत अर्थ को (वेत्ति) जानता है तब तो (दूरासन्नार्थबुद्धिवत्) दूर और निकटवर्ती पदार्थ के ज्ञान के समान (एकार्थे) एक विषय में (प्रतिभासमिदा) प्रतिभास के भेद से (स्मृतिः कुतः न) स्मृति ज्ञान प्रमाण कैसे नहीं होगा ?।।१५।।

अर्थ—यदि इंद्रियज्ञान अतीत अर्थ को जानता है तब तो दूर और निकटवर्ती पदार्थ के ज्ञान के समान एक विषय में प्रतिभास के भेद से स्मृतिज्ञान प्रमाण क्यों नहीं है ? अर्थात् प्रमाण है ही है।।१५।।

भावार्थ—बौद्धों की आशंका का उत्तर देते हुए आचार्य ने कहा है कि जब आपके यहाँ इंद्रियज्ञान अपने कारणभूत अतीत अर्थ को जानता है तो स्मृति भी अतीत विषय को क्यों नहीं जान सकती है ? इंद्रियज्ञान और स्मृति दोनों का विषय एक है, अंतर केवल इतना है कि इंद्रियज्ञान उसे स्पष्ट जानता है और स्मृति ज्ञान अस्पष्ट जानता है।

तात्पर्यवृत्ति—सौगत के मत में विषय को ज्ञान का कारण माना है और कार्य के क्षण से पूर्व क्षणवर्ती को कारण कहते हैं। इस प्रकार से यदि ज्ञान अतीत अर्थ अर्थात् स्वकारणभूत शब्द और वाच्य को जानता है तब किस कारण से स्मृति भी अतीत अर्थ को नहीं जानती है ? अपितु जानती ही है।

शंका—इस प्रकार से तो स्मृति को प्रमाणता कैसे है क्योंकि वह तो गृहीत को ग्रहण करने वाली है ?

समाधान—एक—अभिन्न अतीतपने रूप विशेषता से रहित होने से साधारण जो शब्दार्थ लक्षण

एकोऽभिन्नो-ऽतीतत्वाविशेषात्साधारणोऽर्थो विषयः शब्दार्थलक्षणस्तस्मिन्नपि स्मृतिः प्रमाणमिति शेषः। कुतः प्रतिभासभिदा प्रतिभासस्यातीताकारपरामर्शस्य भिद्भेदस्तया। प्रत्यक्षेण हीदमिति यदनुभूयते तदेव कालांतरे पुनस्तदित्यतीताकारतया स्मृत्या विषयीक्रियते इति। अस्मिन्नर्थे दृष्टांतमाह—दूरेत्यादि। दूरश्चासावासन्नश्च दूरासन्नस्तस्मिन्नर्थे पादपादौ। अक्षबुद्धिवत् यथा प्रत्यक्षज्ञानानां स्पष्टास्पष्टप्रतिभासभेदात् प्रामाण्यं तथा स्मृतेरपीत्यर्थः।।

ननु शब्दार्थयोः संबंधाभावात्कथं शब्दस्य प्रामाण्यं यतस्तद्विषये शब्दादयो नयाः सम्यञ्च इति तद्विप्रतिपत्तिनिराकरणार्थमाह—

अक्षशब्दार्थविज्ञानमविसंवादतः समं।
अस्पष्टं शब्दविज्ञानं प्रमाणमनुमानवत्।।१६।।

समं समानं प्रमाणं भवति। किं अक्षशब्दार्थविज्ञानं। अक्षमिंद्रियं। शब्दो वर्णपदवाक्यात्मको ध्वनिः। ताभ्यां जनितमर्थस्य सामान्यविशेषात्मकवस्तुनो विशिष्टं संशयादिविकलं ज्ञानमवबोधनं। कुतः अविसंवादतः अर्थक्रियायामव्यभिचारात्। यथाऽक्षजनितमर्थज्ञानमविसंवादात्प्रमाणं तथा शब्दजनितमपीत्यर्थः। न

वाला विषय है वह अर्थ कहलाता है उस एक अर्थ में भी अतीताकार को परामर्श करने वाले प्रतिभास के भेद से वह स्मृति प्रमाण है।

प्रत्यक्ष से ही जो 'यह' इस प्रकार से अनुभव में आता है वही कालांतर में पुनः 'तत्—वह' इस आकार से स्मृतिज्ञान के द्वारा विषय किया जाता है। जैसे—दूर और निकटवर्ती पदार्थ का ज्ञान अर्थात् जिस प्रकार से दूरवर्ती वृक्ष में प्रत्यक्ष ज्ञान अस्पष्ट होता है और निकटवर्ती वृक्ष में स्पष्ट होता है। जैसे—दूर और निकटवर्ती वृक्षादि में प्रत्यक्ष ज्ञान अस्पष्ट और स्पष्ट प्रतिभास के भेद से प्रमाण है उसी प्रकार से स्मृति भी प्रमाण है यह अर्थ हुआ है।

उत्थानिका—शब्द और अर्थ में संबंध का अभाव होने से शब्द की प्रमाणता कैसे होगी ? कि जिससे उसके विषय में शब्दादिक नय समीचीन होवें ? ऐसी आशंका का निराकरण करते हुए आचार्य कहते हैं—

अन्वयार्थ—(अक्षशब्दार्थविज्ञानं) इंद्रिय से होने वाला अर्थ का ज्ञान और शब्द से होने वाला अर्थ का ज्ञान (अविसंवादतः) ये दोनों अविसंवाद की अपेक्षा से (समं) समान हैं, (शब्दज्ञानं) शब्दज्ञान (अनुमानवत्) अनुमान के समान (अस्पष्टं) अस्पष्ट (प्रमाणं) प्रमाण है।।१६।।

अर्थ—अक्ष—इंद्रिय से होने वाला पदार्थ का विज्ञान और शब्द से होने वाला पदार्थ का विज्ञान ये दोनों अविसंवादी होने से समान हैं। यह शब्दज्ञान अस्पष्ट होते हुए भी अनुमान के समान प्रमाण है अर्थात् जैसे अनुमान अस्पष्ट है फिर भी आप उसे प्रमाण मानते हैं। उसी तरह यह शब्द ज्ञान भी भले ही अस्पष्ट हो फिर भी यह प्रमाण है।।१६।।

तात्पर्यवृत्ति—अक्षार्थ विज्ञान और शब्दार्थ विज्ञान समान प्रमाण है। अक्ष अर्थात् इंद्रिय, शब्द अर्थात् वर्ण पदवाक्यात्मक ध्वनि। अर्थ अर्थात् सामान्य विशेषात्मक वस्तु अर्थात् इंद्रिय से होने वाला वस्तु का ज्ञान और शब्द से होने वाला वस्तु का ज्ञान दोनों ही समान प्रमाण हैं। ये दोनों ही वि—विशिष्ट हैं अर्थात् संशयादि से रहित हैं और ये अविसंवादी हैं अर्थात् अर्थक्रिया में व्यभिचरित नहीं होते हैं। जैसे—इंद्रिय से उत्पन्न हुआ अर्थज्ञान अविसंवादी होने से प्रमाण है वैसे ही शब्द से उत्पन्न होने वाला अर्थज्ञान भी अविसंवादी होने से

ह्यनाप्तवचनजनितज्ञानस्यार्थक्रियाविसंवादादेवं। आप्तवचनजनितज्ञानस्याप्रामाण्यं शक्यमक्षज्ञाने अपि क्वचिद्विसंवादात्। सर्वत्राप्रामाण्यशंकाप्रसंगात्। नन्वक्षज्ञानं प्रमाणं स्पष्टत्वात् न शाब्दमस्पष्टत्वादित्याशंक्याह— अस्पष्टमिति। अस्पष्टमविशदमपि शब्दजनितं ज्ञानं प्रमाणमभ्युपगंतव्यमविसंवादादेव। न हि स्पाष्ट्यमस्पाष्ट्यं वा प्रामाण्येतरनिबंधनं तयोः संवादेतरनिबंधनत्वात्। किंव अनुमानवत् यथाऽनुमानस्पष्टमपि विसंवादाभावात्प्रमाणमनुमन्यते तथा शब्दमपि प्रमाणमनुमंतव्यमविसंवादाविशेषादिति।।

ननु कालकारकलिंगभेदाच्छब्दोऽर्थभेदकृदित्ययुक्तं तद्ग्राहकप्रमाणाभावादित्याशंकां निरासयन्नाह—

कालादिलक्षणं न्यक्षेणान्यत्रेक्ष्यं परीक्षितं।
द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषात्मार्थनिष्ठितम्।।१७।।

प्रमाण है, ऐसा अर्थ हुआ।

अनाप्त के वचन से उत्पन्न हुआ ज्ञान अर्थक्रिया में विसंवादी होने से अप्रमाण है, इसी प्रकार आप्त के वचन से उत्पन्न हुए ज्ञान को अप्रमाण कहना शक्य नहीं है क्योंकि इन्द्रियज्ञान में भी कहीं पर विसंवाद देखा जाता है और एक जगह विसंवाद देखकर सभी जगह अप्रमाणीक कहने पर तो सर्वत्र ही अप्रमाणता की आशंका बनी रहेगी।

शंका—इंद्रियज्ञान प्रमाण है क्योंकि वह स्पष्ट है, शब्द ज्ञान—आगमज्ञान प्रमाण नहीं है क्योंकि वह अस्पष्ट है ?

समाधान—अस्पष्ट—अविशद भी शब्दज्ञान को प्रमाण मानना चाहिए क्योंकि वह अविसंवादी है। कारण कि अविसंवाद हेतु ही प्रमाणता को घोषित करता है। स्पष्टता अथवा अस्पष्टता प्रमाणता और अप्रमाणता में निमित्त नहीं है क्योंकि इन प्रमाणता और अप्रमाणता में अविसंवाद और विसंवाद ही निमित्त है। जैसे—अनुमानज्ञान अस्पष्ट होते हुए भी विसंवाद का अभाव होने से प्रमाण माना जाता है। उसी प्रकार शब्द से होने वाला आगम ज्ञान भी भले ही अस्पष्ट हो किन्तु उसे प्रमाण मानना चाहिए क्योंकि वह भी अविसंवादी है। यह अविसंवादी हेतु दोनों जगह समान ही है।

उत्थानिका—काल, कारक और लिंग के भेद से शब्द अर्थ में भेद करने वाला है यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि उसको ग्रहण करने वाले प्रमाण का अभाव है। ऐसी आशंका का निरसन करते हुए आचार्य कहते हैं—

अन्वयार्थ—(कालादिलक्षणं) काल आदि के लक्षण को (न्यक्षेण) विस्तार से (अन्यत्र परीक्षितं) अन्य ग्रंथों में परीक्षित को (ईक्ष्यं) देख लेना चाहिए (द्रव्यपर्याय सामान्य विशेषात्मार्थ निष्ठितं) जो कि द्रव्य-पर्याय और सामान्य विशेषरूप पदार्थ में विद्यमान है।।१७।।

अर्थ—काल आदि के लक्षण को विस्तार से अन्यत्र—अन्य ग्रंथों में देखना चाहिए, जो कि स्वामी समंतभद्रादि आचार्यों द्वारा परीक्षित है और द्रव्य पर्याय और सामान्य विशेषात्मक पदार्थ में निष्ठित—विद्यमान है अर्थात् द्रव्यपर्यायरूप और सामान्य विशेषरूप जो पदार्थ है उनमें रहने वाला ऐसा जो कालादि का असाधारण लक्षण है उसे अन्य [१]तत्त्वार्थमहाभाष्य आदि ग्रंथों में विस्तार से देखना चाहिए।।१७।।

---

१. यह ग्रंथराज श्रीमदुमास्वामि विरचित तत्त्वार्थसूत्र पर श्री स्वामी समन्तभद्राचार्यवर्य के द्वारा रचा गया तत्त्वार्थ महाभाष्य है इसे गंधहस्ति महाभाष्य भी कहते हैं। यह ग्रंथ आज उपलब्ध नहीं है।

ईक्ष्यमालोकनीयं। किं कालादिलक्षणं काल आदिर्येषां कारकलिंगसंख्यासाधनोपग्रहादीनां ते कालादयः तेषां लक्षणमसाधारणं स्वरूपं। किंविशिष्टं परीक्षितं विचारितं स्वामिसमंतभद्राद्यैः सूरिभिः। कथं न्यक्षेण विस्तरेण। क्व अन्यत्र तत्त्वार्थमहाभाष्यादौ। किंविशिष्टं द्रव्येत्यादि। द्रव्यं पूर्वापरपरिणामव्यापकमूर्ध्वतासामान्यं पर्यायाः एकस्मिन् द्रव्ये क्रमभाविनः परिणामाः। सामान्यं सदृशपरिणामलक्षणं तिर्यक्सामान्यं। विशेषोऽर्थांतरगतो व्यतिरेकः। द्रव्यं च पर्यायाश्च सामान्यं च विशेषश्च द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषाः। ते आत्मा स्वभावो यस्यासौ तथोक्तः। स चासावर्थश्च तस्मिन्निष्ठितं नियतं तदात्मकमिति यावत्। एवंविधस्यैव अर्थक्रियासंभवान्निरपेक्षैकांते तद्विरोधात्। न हि केवलं द्रव्यं पर्यायरहितं, पर्यायो वा द्रव्यव्यतिरिक्तः, सामान्यं विशेषशून्यं, विशेषो वा सामान्यशून्यः प्रमाणपदवीमधिरोहति तथाऽप्रतीतेः। यतः कालादिकमेकांतरूपं स्यात्। तत्र कालस्त्रिधा अतीतानागतवर्तमानभेदात्। क्रियानिर्वर्तकं कारकं। तच्च षोढा। कर्तृकर्मकरणसंप्रदानापादानाधिकरणभेदात्। शब्दप्रवृत्तिनिमित्तमर्थधर्मो लिंगं तच्च त्रिधा स्त्रीपुंन्नपुंसकभेदात्। त्रिधा संख्या एकत्वद्वित्वबहुत्वभेदात्। साधनं क्रियाश्रयः तदपि त्रिधा अन्ययुष्मदस्मदर्थभेदात्। उपग्रहः प्रादिरुपसर्गः अनेकधेति।।

तात्पर्यवृत्ति — काल, कारक, लिंग, संख्या, साधन और उपग्रह आदि का असाधारण स्वरूप जो कि स्वामी समंतभद्र आदि आचार्यों के द्वारा परीक्षित है उसे न्यक्ष अर्थात् विस्तार से देखना चाहिए। कहाँ देखना चाहिए ? अन्य तत्त्वार्थमहाभाष्य आदि ग्रंथों में देखना चाहिए। वह कैसा है ?

पूर्वापर परिणाम में व्यापक ऊर्ध्वतासामान्य को द्रव्य कहते हैं और एक द्रव्य में क्रम से होने वाले जो परिणाम हैं वे पर्यायें कहलाती हैं। वे द्रव्य और पर्यायें तथा सामान्य और विशेष ये हैं स्वरूप जिसके उसे द्रव्यपर्याय सामान्य विशेषात्मक कहते हैं और वही अर्थ — पदार्थ है उसमें जो लक्षण निष्ठित अर्थात् स्थित है वह द्रव्य पर्याय सामान्य विशेषात्मक पदार्थ में रहने वाला असाधारण लक्षण है उसे जानना चाहिए।

इस प्रकार के पदार्थ में ही अर्थक्रिया संभव हैं क्योंकि निरपेक्ष एकांत में उस अर्थक्रिया का विरोध है। पर्यायरहित केवल द्रव्य नहीं है अथवा द्रव्य से व्यतिरिक्त पर्याय भी नहीं है। विशेष से शून्य सामान्य नहीं है अथवा सामान्य से शून्य विशेष नहीं है अर्थात् ये एक-दूसरे से रहित होते हुए प्रमाण की पदवी पर आरोहण नहीं कर सकते हैं क्योंकि वैसी प्रतीति नहीं होती है जिससे कि वे काल, कारक आदि एकांतरूप से हो सकें अर्थात् नहीं हो सकते हैं।

उनमें भूत, भविष्यत् और वर्तमान के भेद से काल के तीन भेद हैं जो क्रिया का निर्वर्तक — करने वाला है वह कारक है उसके कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान और अधिकरण के भेद से छह भेद हैं। शब्द की प्रवृत्ति में निमित्तभूत जो अर्थ का धर्म है वह लिंग कहलाता है, उसके भी स्त्री, पुरुष और नपुंसक के भेद से तीन भेद हैं। संख्या के भी एकत्व, द्वित्व और बहुत्व के भेद से तीन भेद हैं। साधन क्रिया के आश्रित है उसके भी अन्य पुरुष, मध्यम पुरुष और उत्तम पुरुष के अर्थ के भेद से तीन भेद हैं। प्र, पर आदि उपसर्ग को उपग्रह कहते हैं वह अनेक प्रकार का है।

विशेषार्थ — यहाँ पर आचार्यश्री भट्टाकलंक देव का यह कहना है कि जो काल, कारक आदि का लक्षण है, जो कि द्रव्य पर्यायरूप सामान्य विशेषात्मक पदार्थ में रहता है उसको विस्तार से यदि आप जानना चाहते हैं तो श्री स्वामी समंतभद्राचार्य के द्वारा प्रणीत तत्त्वार्थ महाभाष्य नामक ग्रंथ में देखना चाहिए। यहाँ पर इनका लक्षण संक्षिप्त में कहा गया है।

नन्वेकांतेऽपि कथमेकस्य षट्कारक्याद्येनकत्वं घटत इत्याशंक्याह—

एकस्यानेकसामग्रीसन्निपातात्प्रतिक्षणं।।
षट्कारकी प्रकल्प्येत तथा कालादिभेदतः।।१८।।

प्रकल्पेत घटेत। का षट्कारकी षण्णां कारकाणां समाहारः षट्कारकी। कस्य एकस्यापि जीवादिवस्तुनः। अपिशब्दस्याध्याहारात्। कथं प्रतिक्षणं क्षणः समयः क्षणं क्षणं प्रति प्रतिक्षणं। कस्मात् अनेकसामग्रीसन्निपातात् अनेका बहिरंगांतरंगा सामग्री कारणकलापः तस्याः सन्निपातः सन्निधिस्तस्मात्। तथाहि यदैव चक्रादिसन्निधानाद्धटस्य कर्ता देवदत्तस्तदैव स्वप्रेक्षकजनसन्निधानात् स एव दृश्यते इति कर्म। प्रयोजनापेक्षया देवदत्तेन कारयतीति करणं। दीयमानद्रव्यापेक्षया देवदत्ताय ददातीति संप्रदानं। अपायापेक्षया देवदत्तादपैतीति अपादानं। तत्रस्थद्रव्यापेक्षया देवदत्ते कुंडलमित्यधिकरणमिति अविरोधात् तथा प्रतीतेः। न हि प्रतीयमाने विरोधो नाम। तथा युगपदिव कालादिभेदतः कालदेशाकाराणां भेदः क्रमस्तेनापि षट्कारकी प्रकल्पेत। तथाहि अकरोद्देवदत्तः करोतिकरिष्यतीति प्रतीतिबलायातत्वात्। अथवा तथा एकस्य षट्कारकीप्रकल्पनवत्कालद्यपि प्रकल्प्येत। कुतः भेदतः कथंचिदर्थस्य भेदात्। सर्वथाऽभिन्ने सकलकालकारकादिभेदानुपपत्तेः। ततः स्याद्वाद

उत्थानिका—एकांत में भी एक में षट्कारक की व्यवस्था का होना कैसे घट सकता है ? ऐसी आशंका के होने पर आचार्य कहते हैं—

अन्वयार्थ—(एकस्य) एक में (अनेक सामग्री सन्निपातात्) अनेक सामग्री के सन्निधान से (प्रतिक्षणं) प्रतिक्षण (षट्कारकी) षट् कारकों की (प्रकल्प्येत) कल्पना होती है, (तथा कालादिभेदतः) वैसे ही काल आदि के भेद से भी षट्कारक की व्यवस्था होती है।।१८।।

अर्थ—एक में अनेक सामग्री के सन्निधान से प्रतिक्षण षट्कारक की कल्पना होती है। उसी प्रकार काल आदि के भेद से भी षट्कारकों की कल्पना होती है अर्थात् अनेक कारण सामग्रियों की सहायता से एक बहुत भी प्रतिसमय षट्कारकरूप हो सकती है।।१८।।

तात्पर्यवृत्ति—एक जीवादि वस्तु में भी छहों कारकों के समुदायरूप षट्कारक व्यवस्था प्रत्येक समय में घटित हो जाती है। कैसे ? अनेक सामग्री के सन्निपात होने से अर्थात् अनेक अंतरंग और बहिरंग, सामग्री कारण कलापों की सन्निधि होने से षट्कारकी घटित होती है। उसी को कहते हैं—जिस काल में चाक, चीवर आदि की सन्निधि होने से देवदत्त घट को करता है उसी काल में अपने प्रेक्षकजन के सन्निधान से वही देखा जाता है इसलिए वह कर्म है। प्रयोजन की अपेक्षा से देवदत्त के द्वारा कराता है इसलिए करण है। देने योग्य द्रव्य की अपेक्षा से देवदत्त को देता है इसलिए संप्रदान है। अपाय की अपेक्षा से देवदत्त से दूर होता है यह अपादान है। वहाँ पर स्थित द्रव्य की अपेक्षा से देवदत्त में कुण्डल है इस प्रकार अधिकरण है, इस प्रकार अविरोध से वैसी प्रतीति हो रही है क्योंकि प्रतीति में आते हुए विषय में विरोध नाम की कोई चीज नहीं है।

उसी प्रकार से युगपत् के समान ही काल, देश और आकार के भेद से, क्रम से भी षट्कारक रूप व्यवस्था होती है। उसी को स्पष्ट करते हैं—देवदत्त ने किया, करता है अथवा करेगा, इस प्रकार से प्रतीति के बल से सिद्ध है अथवा उस प्रकार एक में षट्कारक को घटित करने के समान काल आदि को भी घटित करना चाहिए।

कैसे ? कथंचित् अर्थ के भेद से कालादि की कल्पना करना चाहिए क्योंकि सर्वथा अभिन्न में संपूर्ण

एव श्रुतज्ञानविकल्पात्। सर्वेऽपि नैगमादयः सुनया दृष्टेष्टाविरोधात्। अन्यत्र दुर्नयास्तद्विरोधादिति सूक्तं भट्टाकलंकदेवैर्भेदाभेदेत्यादि। ननु नैगमादयः सिद्धांते नयाः प्रतिपादिताः। अत्र पुनः संग्रहादय इति कथमपसिद्धांतो न स्यादिति चेन्न अभिप्रायभेदात्। सर्वतस्तोकविषयो हीत्थंभूतस्तस्य क्रियाभेदादेवार्थभेद-कत्वात्। ततो बहुविषयः समभिरूढस्य पर्यायशब्दभेदात् भेदकत्वात्। ततो बहुतरविषयः शब्दः तस्य कालादिभेदाद्भेदकत्वात्। ततः पुनः ऋजुसूत्रो बहुतमविषयः शब्दगोचरेतरविवक्षितपर्यायविषयत्वात्। ततोऽप्यधिकविषयो व्यवहारः पर्यायाविशिष्टद्रव्यग्रहणात्। ततश्च प्रचुरविषयः संग्रहः सकलद्रव्यपर्यायव्यापी सर्वग्रहणात्। ततः पुनरभ्यधिकविषयो नैगमः सत्त्वासत्वयोर्गुणमुख्यभावेन ग्रहणात्। ततो विषयापेक्षया नैगमादीनां पूर्वनिपातः सिद्धांते युक्तः। अत्र पुनर्न्यायशास्त्रे समस्तनास्तिकविप्रतिपत्तिनिराकरणार्थं सकलपदार्थास्तित्वसूचनस्य संग्रहनयस्य पूर्वनिपाते विरोधाभावात्।

काल, कारक आदि भेद नहीं हो सकते हैं इसलिए स्याद्वाद में ही श्रुतज्ञान के विकल्प से वे सब घटित होते हैं। सभी नैगमादि सुनय हैं क्योंकि वे प्रत्यक्ष और अनुमान से अविरोधी हैं, अन्यत्र वे दुर्नय हैं क्योंकि प्रत्यक्षादि से विरोधी हैं। इस प्रकार भी भट्टाकलंक देव ने "भेदाभेदात्मके ज्ञेये[1]......" आदि रूप बहुत ही ठीक कहा है।

प्रश्न — नैगमादि सिद्धांत में नय कहे गये हैं यहाँ तो संग्रह आदि कहे गये हैं पुनः आपका कथन सिद्धांत से विरुद्ध क्यों नहीं होगा ?

उत्तर — ऐसी बात नहीं है, अभिप्राय का भेद है। सबसे कम विषय वाला इत्थंभूतनय है वह क्रिया के भेद से ही अर्थ में भेद करता है। उससे अधिक विषय वाला समभिरूढ़नय है क्योंकि वह पर्यायवाची शब्दों के भेद से अर्थ में भेद करता है। उससे अधिकतर विषय वाला शब्दनय है क्योंकि वह काल आदि के भेद से भेद करता है। उससे पुनः ऋजुसूत्रनय अधिकतम विषय वाला है क्योंकि वह शब्द के गोचर-अगोचर विवक्षित पर्याय को विषय करता है। उससे भी अधिक विषय वाला व्यवहारनय है क्योंकि वह पर्याय से विशिष्ट द्रव्य को ग्रहण करता है। उससे प्रचुर विषय वाला संग्रहनय है क्योंकि वह सकलद्रव्य और पर्याय में व्यापी है, सभी को ग्रहण करता है। पुनः उससे भी अधिक विषय वाला नैगमनय है क्योंकि वह सत्त्व और असत्त्व को गौण तथा मुख्यरूप से ग्रहण करता है इसलिए विषय की अपेक्षा से नैगम आदि नयों का पूर्व निपात सिद्धांत ग्रंथों में युक्त है किन्तु यहाँ पुनः न्यायशास्त्र में समस्त नास्तिकजनों के विसंवाद को दूर करने के लिए सकल पदार्थों के अस्तित्व को सूचित करने वाले संग्रहनय को पूर्व में रखने में विरोध का अभाव है।

विशेषार्थ — यहाँ पर आचार्य ने कारण सामग्री के मिलने से एक में ही षट्कारक व्यवस्था घटाई है। जैसे 'वीर भगवान[2]' सभी सुर-असुरों से पूजित हैं, वीर का बुद्धिमान लोग आश्रय लेते हैं, वीर ने अपने कर्मों के समूह को नष्ट कर दिया है,वीर के लिए भक्ति से मेरा नमस्कार होवे, वीर से यह धर्मतीर्थ प्रवृत्त हुआ है, वीर का तपश्चरण घोर — कठोर है, वीर में श्री, द्युति, कीर्ति, कांति और धृति रहती हैं, हे वीर! आपमें भद्र — कल्याण है। यहाँ पर संबोधन समेत आठ कारक हो गये हैं। षट्कारक में संबंध कारक और संशोधन कारक अपेक्षित नहीं रहते हैं।

---

१. चतुर्थ परि. की का. १, पृ. ५०।

२. वीरः सर्वसुरासुरेन्द्र महितो वीरं बुधाः संश्रिताः। वीरेणाभिहतः स्वकर्मनिचयो वीराय भक्त्या नमः।।
वीरात्तीर्थमिदं प्रवृत्तमतुलं वीरस्य घोरं तपो। वीरे श्री द्युति कीर्तिकांतिधृतयो हे वीर! भद्रं त्वयि।। (वीरभक्ति)

ननु नयस्य विकल्पात्मकत्वान्न तत्त्वाधिगमसाधनत्वं स्मृत्यादिवदिति सौगतादिप्रत्यवस्थां प्रत्याचक्षाणः प्रकरणोपसंहारमाह—

व्याप्तिं साध्येन हेतोः स्फुटयति न विना चिंतयैकत्रदृष्टिः।
साकल्येनैष तर्कोऽनधिगतविषयस्तत्कृतार्थैकदेशे।।
प्रामाण्ये चानुमायाः स्मरणमधिगतार्थादि[१]संवादि सर्वं।
संज्ञानं च प्रमाणं समधिगतिरतः सप्तधाख्यैर्नयौघैः।।१९।।

यह षट्कारक व्यवस्था एक वस्तु में युगपत् भी घट जाती है और काल, देश, आकार आदि के क्रम से भी घटित होती है।

पुनः आचार्य ने कहा है कि नैगम आदि नय स्याद्वाद में, सुनय में और एकांत पक्ष में दुर्नय हैं। आगे प्रश्न यह हुआ है कि सिद्धांत ग्रंथों में इन नयों में नैगमनय सबसे प्रथम है। यहाँ आपने संग्रह को सबसे प्रथम लिया है इसलिए आपका कथन सिद्धांत से विरोधी है, इस पर आचार्यश्री ने उत्तर देते हुए कहा है कि नैगमनय का विषय सबसे अधिक है, उससे कुछ कम विषय संग्रहनय का है। आगे-आगे ये नय अल्प-अल्प विषय वाले होते हैं, इस अपेक्षा से सिद्धांत ग्रंथ में इनका क्रम नैगम से है किन्तु यहाँ न्यायशास्त्र में अन्य एकांतवादी जनों को समझाने की प्रधानता से कथन होता है। यहाँ पर नास्तिकवादी जनों की मान्यता का खंडन करने के लिए संपूर्ण अस्तित्व का ग्राहक संग्रहनय पहले कहा गया है इसलिए कोई दोष नहीं आता है। ऐसे ही अनेकों उदाहरण हैं—सिद्धांत ग्रंथ में मति, श्रुत दोनों ज्ञानों को परोक्ष कहा है और न्याय में मतिज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा है। सिद्धांत में दर्शन[२] को स्वरूप को ग्रहण करने वाला माना है और न्याय में उसे सत्तामात्र को अवलोकन करने वाला माना है। सिद्धांत में इंद्रियों का क्रम स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र रूप से कहा है और मूलाचार में चक्षु, श्रोत, घ्राण आदि के अक्रम से कहा है। सिद्धांत में जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये तत्त्वों का क्रम है किन्तु समयसार में जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ऐसा क्रम कर दिया है।

कहने का मतलब यह है कि सिद्धांत ग्रंथों का कथन हीरे के कांटे के समान है और अन्य ग्रंथों का कथन अपेक्षाकृत अक्रम से भी हो जाता है किन्तु इस बात से पूर्वापर विरोध दोष नहीं समझना चाहिए।

उत्थानिका— नय विकल्पात्मक है इसलिए वे तत्त्वों के ज्ञान की सिद्धि नहीं करा सकते हैं। जैसे—स्मृति आदि तत्त्वों के ज्ञान को कराने में असमर्थ हैं, इस प्रकार की सौगत की आशंका का निरसन करते हुए प्रकरण के उपसंहार को कहते हैं—

अन्वयार्थ— (दृष्टिः) प्रत्यक्षज्ञान (एकत्र) एक जगह (चिंतया बिना) तर्क के बिना (साध्येन हेतोः व्याप्तिं) साध्य के साथ हेतु की व्याप्ति को (न स्फुटयति) स्फुट नहीं कर सकता है, (एषः तर्को) यह तर्क (साकल्येन) सकलरूप से (अनधिगत विषयः) नहीं जाने हुए को विषय करने वाला है। (तत्कृतार्थैकदेशे) उसके द्वारा निश्चित विषय के एकदेश में (अनुमायाः च प्रामाण्येन) अनुमान की प्रमाणता होने पर (स्मरण-मधिगतार्थादिसंवादि) स्मृति भी अधिगत अर्थादि के विषय में संवादी हैं (सर्वं संज्ञानं च प्रमाणं) और सभी प्रत्यभिज्ञान प्रमाण हैं (अतः सप्तधाख्यै तथौघैः) इसलिए सात प्रकार के नय समूहों से (समाधिगतिः)

---

१. संस्कृत में-र्थाविसं-न्यायकुमुदचन्द्र, पृ. ५२। २. तत्त्वार्थसूत्र आदि में । २. लघीयस्त्रय का. ५ ता. पृ. १४।

न स्फुटयति न प्रकाशयति। का एकत्रदृष्टि: एकस्मिन्महानसादौ साध्यसाधनयोर्दृष्टिर्दर्शनं प्रत्यक्षमित्यर्थः। कां व्याप्तिं अविनाभावं। कस्य हेतोः साधनस्य धूमादेः। केन सह साध्येनाग्न्यादिना सह। केन साकल्येन सकलानां देशकालांतरितसाध्यसाधनव्यक्तीनां भाव: साकल्यं तेन। कथं चिंतया विना ऊहप्रमाणाभावे इत्यर्थः। न हि दृष्टांतधर्मिणि साध्यसाधनसंबंधदर्शनं साकल्येन व्याप्तिप्रतिपत्तौ समर्थमनुमानानर्थक्यप्रसंगात्। तद् द्रष्टुरभिज्ञत्वापत्तेश्च। तर्हि किं प्रमाणं तां स्फुटयतीति चेदुच्यते। एष तर्कः यः साकल्येन साध्यसाधनयोर्व्याप्तिं स्फुटयति ज्ञानं, स एव च सकलानुमानिकप्रसिद्धस्तर्क इत्युच्यते। ननु गृहीतग्राहित्वावस्याप्रामाण्यमित्याशंक्याह— अनधिगतविषयः। अनधिगतः प्रमाणांतरेणानिश्चितः विषयोऽविनाभावो यस्यासौ तथोक्तः। किंविशिष्टः संज्ञानं सम्यक्ज्ञानं अर्थप्रमाणं भवतीति। तथा स्मरणं स्मृतिश्च प्रमाणं। किंविशिष्टं अधिगतार्थाविसंवादि

सम्यक् प्रकार से ज्ञान होता है।।१९।।

अर्थ—दृष्टि—प्रत्यक्ष एकत्र—महानस आदि में तर्क के बिना साध्य के साथ हेतु की व्याप्ति को स्फुट नहीं कर सकता है। यह तर्क सकल रूप से नहीं जाने हुए को विषय करने वाला है, उसके द्वारा निश्चित विषय के एकदेश में (साध्य में) अनुमान की प्रमाणता होने पर स्मृति भी अधिगत अर्थादि के विषय में संवादी है अत: प्रमाण है और सभी सम्यग्ज्ञान—प्रत्यभिज्ञान भी प्रमाण हैं क्योंकि वह भी अविसंवादी हैं, इसलिए सात प्रकार के नयों के समूह से जीवादि पदार्थों का सम्यक् प्रकार से ज्ञान होता है अर्थात् अनुमान को चार्वाक के सिवाय सभी ने प्रमाण माना है किन्तु स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क को जैनों के सिवाय कोई भी प्रमाण नहीं मानते हैं कि तर्क के बिना अनुमान ज्ञान उदित ही नहीं हो सकता है तथा प्रमाण के द्वारा जाने हुए विषय के एकदेश को जानने वाले नय हैं उन नयों से भी जीवादि पदार्थों का सम्यग्ज्ञान होता है।।१९।।

तात्पर्यवृत्ति—एकत्र—एक महानस—रसोई आदि स्थान में दृष्टि—साध्य और साधन का जो दर्शन—प्रत्यक्ष है, वह साध्य—अग्नि आदि के साथ साधन—धूमादि हेतु की व्याप्ति को प्रकाशित नहीं करता है। किस रूप से प्रकाशित नहीं करता है ? साकल्य से अर्थात् सकल—देश, काल से अंतरित साध्य और साधन के विशेषों का भाव साकल्य कहलाता है। चिंता—तर्क प्रमाण के बिना वह प्रत्यक्ष संपूर्ण रूप से साध्य-साधन के अविनाभाव को नहीं बता सकता है।

साध्य और साधन के संबंध का दर्शन—प्रत्यक्ष दृष्टांत धर्मी में सकलरूप से व्याप्ति को जानने में समर्थ नहीं है अन्यथा अनुमान व्यर्थ हो जावेगा और उस देखने वाले अभिज्ञत्व की आपत्ति आ जावेगी।

प्रश्न—तब कौन सा प्रमाण उस व्याप्ति को स्पष्ट करता है ?

उत्तर—यह तर्क प्रमाण है जो कि ज्ञान सकलरूप से साध्य-साधन की व्याप्ति को स्फुट करता है और वही ज्ञान सकल अनुमानिक जनों में प्रसिद्ध 'तर्क' इस नाम से कहा जाता है।

प्रश्न—यह तर्क तो गृहीत को ग्रहण करने वाला होने से अप्रमाण है ?

उत्तर—नहीं, यह नहीं जानते हुए को विषय करने वाला है। अनधिगत अर्थात् प्रमाणांतर से अनिश्चित जो अविनाभाव है वह इसका विषय है।

प्रश्न—कैसा संज्ञान—सम्यग्ज्ञान अर्थ के विषय प्रमाण होता है ?

उत्तर—स्मृति ज्ञान प्रमाण होता है क्योंकि वह अधिगत अर्थ के विषय में अविसंवादी है अर्थात् अधिगत—प्रत्यक्ष से अनुभूत जो अर्थ—विषय है उसमें यह विसंवादरहित है और यह अनुमान की प्रमाणता होने पर सम्यग्ज्ञान है। कहाँ पर है ? तत्कृत अर्थ के एकदेश में है अर्थात् तत्—उस तर्क से

अधिगतः प्रत्यक्षेणानुभूतोऽर्थो विषयस्तत्राविसंवादि विसंवादरहितमिति। एतच्च संज्ञानमिति। कस्मिन् सति प्रामाण्ये प्रमाणत्वे सति। कस्या अनुमायाः अनुमानस्य। क्व तत्कृतार्थैकदेशे तेन तर्केण कृतो निश्चितः अर्थोऽविनाभावस्तस्यैकदेशः साध्यं तत्रानुमानप्रामाण्यस्य स्मृतितर्कप्रामाण्याविनाभावित्वादित्यर्थः। अथवा संज्ञानं च प्रत्यभिज्ञानं च प्रमाणमविसंवादाविशेषात्। न केवलमेतत्परोक्षमेव विकल्पात्मकं प्रमाणमपि तु सर्वं प्रत्यक्षमपि विकल्पात्मकं प्रमाणं तस्यैव व्यवहारोपयोगित्वात्। निर्विकल्पकस्य क्वचिदप्यनुपयोगात्। अतः कारणात्तर्कादिवत् विकल्पात्मकैरेव नयौघैः समधिगतिः सम्यगधिगमो जीवादितत्त्वनिर्णयो भवति। किंभूतैः सप्तधाख्यैः सप्तधा नैगमादिसप्तप्रकारा आख्या नाम येषां तैरिति। प्रमाणनयैरधिगम इति वचनात्। प्रमाणपरिगृहीतार्थविषयत्वान्नयानां निर्विषयत्वमिति चेन्न, द्रव्यपर्यायात्मनो वस्तुनः प्रमाणेन परिगृहीतत्वात्। नयानां च तदेकदेशे द्रव्ये पर्याये वा प्रतिपक्षाविनाभाविनि प्रवृत्तेः। सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीन इति प्रवचनात्।

ननु सौगतादिमतेऽपि तत्त्वस्य समधिगतिरस्तीत्याशंकायामाह—

सर्वज्ञाय निरस्तबाधकधिये स्याद्वादिने ते नम-।
स्तात्प्रत्यक्षमलक्षयन् स्वमतमभ्यस्याप्यनेकांतभाक्।।
तत्त्वं शक्यपरीक्षणं सकलविन्नैकांतवादी ततः।
प्रेक्षावानकलंक याति शरणं त्वामेव वीरं जिनम्।।२०।।

कृत—निश्चित जो अर्थ—अविनाभाव है उसका एकदेश—जो साध्य है उसमें वह अनुमान प्रमाण है क्योंकि वह स्मृति और तर्क प्रमाण के साथ अविनाभावी है, यह अर्थ हुआ।

अथवा संज्ञान—प्रत्यभिज्ञान भी प्रमाण है क्योंकि वह भी अविसंवादी है। केवल ये परोक्ष ही विकल्पात्मक हैं ऐसी बात नहीं है किन्तु सभी प्रत्यक्ष भी विकल्पात्मक प्रमाण हैं क्योंकि वे ही व्यवहार में उपयोगी होते हैं। निर्विकल्पक दर्शन तो किसी विषय में भी उपयोगी नहीं है। इस कारण से तर्क आदि के समान विकल्पात्मक ही नय समुदायों से जीवादि तत्त्वों का सम्यक् प्रकार से निर्णय होता है। वे नय कितने हैं ? नैगम आदि से सात प्रकार के हैं क्योंकि 'प्रमाणनयैरधिगमः[१]' ऐसा सूत्रकार का वचन है अर्थात् प्रमाण और नयों से तत्त्वों का ज्ञान होता है ऐसा कहा है।

प्रश्न—प्रमाण के द्वारा परिगृहीत अर्थ को विषय करने वाले होने से ये भी नय निर्विषय वाले हैं ?

उत्तर—ऐसा नहीं कहना, क्योंकि द्रव्य पर्यात्मक वस्तु प्रमाण के द्वारा परिगृहीत है—जानी जाती है और नय उसके एक देशरूप द्रव्य अथवा प्रतिपक्ष की अविनाभावी पर्याय में प्रवृत्त होते हैं। 'सकलादेश प्रमाणाधीन है और विकलादेश नयाधीन है' ऐसा प्रवचन—आगम में कहा हुआ है।

उत्थानिका—सौगत आदि के मत में भी तत्त्वों का ज्ञान होता है, इस प्रकार की आशंका के होने पर कहते हैं—

अन्वयार्थ—(स्याद्वादिने) स्याद्वादी (निरस्तबाधक धिये) ज्ञानावरणादि बाधक कारणों से रहित ऐसे ज्ञान वाले (ते सर्वज्ञाय नमस्तात्) आप सर्वज्ञ को नमस्कार होवे। (एकांतवादी) एकांतवादी बुद्ध आदि (स्वमतं अभ्यस्त अपि) अपने मत का अभ्यास करके भी (शक्य परीक्षणं) जिसका परीक्षण करना शक्य है ऐसे (अनेकांतभाव) अनेकांतात्मक (प्रत्यक्षं) प्रत्यक्षरूप (तत्त्वं) तत्त्व को (अलक्षयन्) नहीं जानते हुए

---

१. तत्त्वार्थसूत्र १/६।

न स्यात् सकलवित् त्रिकालगोचराशेषद्रव्यपर्यायवेदी न भवेत्। कः एकांतवादी एकांतं केवलं द्रव्यमेव पर्याय एव वा तत्त्वं वदति प्रतिपादयतीत्येवंशील एकांतवादी सुगतादिः। किं कुर्वन् अलक्षयन् अजानन्। किं तत्त्वं जीवादिवस्तु स्वरूपं। किंविशिष्टं अनेकांतभाक् अनेकांतं द्रव्यपर्यायात्मतां भजत्यात्मसात्करोतीत्यनेकांतभाक्। पुनः कथंभूतं शक्यपरीक्षणमपि शक्यं परीक्षणं संशयादिव्यवच्छेदेन विवेचनं यस्य तथोक्तं लौकिकगोचरमपीत्यर्थः। कथं प्रत्यक्षं स्पष्टं तथा भवति तथा। किं कृत्वाऽभ्यस्य भावयित्वा। किं स्वमतं सर्वथैकांतदर्शनं निरन्वयविनाशादिभावनावहितचेतसोऽनेकांततत्त्वमधिगंतुमनलमिति कथं सर्ववेदित्वं तेषामित्यर्थः। ततः कारणात् भो अकलंक ज्ञानावरणादिकलंकरहित नमस्करवाणि। कस्मै ते तुभ्यं। कथंभूताय सर्वज्ञाय सर्वं लोकालोकवस्तुजातं जानातीति सर्वज्ञस्तस्मै। पुनः किंविशिष्टाय निरस्तबाधकधिये निरस्तमनेकांततत्त्वभावनाबलाद्विश्लेषितं बाधकं दोषावरणद्वयं यस्याः सा निरस्तकाबाधका तादृशी धीर्यस्य तथोक्तस्तस्मै। भूयः किंभूताय स्याद्वादिने स्यात्कथंचित्सदाद्यनेकांतात्मकं तत्त्वं वदतीत्येवंशीलस्तस्मै। न

(सकलवित् न) सर्वज्ञ नहीं हैं। (ततः) इसलिए (अकलंक) हे कर्मकलंकरहित अकलंक देव! (प्रेक्षावान्) बुद्धिमानजन (त्वां जिनं वीरं एवं) आप जिनेन्द्र भगवान वीरप्रभु की ही (शरणं याति) शरण में आते हैं।।२०।।

अर्थ—स्याद्वादी, ज्ञानावरण आदि बाधक कारणों से रहित ज्ञानधारी आप सर्वज्ञ भगवान कोमेरा नमस्कार होवे। एकांतवादी बुद्ध, कपिल आदि अपने मत का अभ्यास करके भी जिसका विवेचन करना शक्य है ऐसे अनेकांतात्मक तत्त्व को जो कि प्रत्यक्ष—स्पष्ट है उसको नहीं जानते हुए सकलवित्—सर्वज्ञ नहीं हैं। इसलिए हे कर्मकलंक रहित अकलंक देव! प्रेक्षावान्—बुद्धिमान लोग आप जिनेन्द्र भगवान वीर प्रभु की ही शरण में आते हैं॥२०।।

भावार्थ—एकांतवादी बुद्ध, कपिल, महेश्वर, ब्रह्मा आदि अपने एकांतपक्ष के दुराग्रही हैं। यही कारण है कि जिसकी परीक्षा करना शक्य है ऐसे प्रत्यक्षगोचर अनेकांतस्वरूप तत्त्व को तो नहीं मानते हैं और यद्वा-तद्वा कल्पना करते बैठते हैं इसलिए ही बुद्धिमान लोग सत्य वक्ता सर्वज्ञ वीरप्रभु की शरण में ही आते हैं।

तात्पर्यवृत्ति—एकांतवादी अर्थात् एकांतरूप केवल द्रव्य ही तत्त्व है अथवा पर्याय ही तत्व है, ऐसा कहने का जिन का स्वभाव है वे एकांतवादी बुद्ध, कपिल आदि जन त्रिकालगोचर अशेष द्रव्य पर्यायों को जानने वाले सर्वज्ञ नहीं हो सकते हैं क्योंकि वे अनेकांत स्वरूप को आत्मसात् करने वाले ऐसे जीवादि पदार्थों के स्वरूप को नहीं जानते हैं। उन जीवादि पदार्थों के स्वरूप का परीक्षण करना संशय आदि का व्यवच्छेद करके उनका विवेचन करना यद्यपि शक्य है, लौकिकजनों के गोचर है, प्रत्यक्ष—स्पष्ट है फिर भी वे लोग नहीं जानते हैं। निरन्वय विनाश आदि भावना से सहित चित्र वाले वे लोग सर्वथैकांतरूप अपने मत का अभ्यास करके अनेकांत तत्त्व को जानने में समर्थ नहीं होते हैं पुनः उनको सर्वज्ञता कैसे हो सकती है?

इस कारण से ज्ञानावरण आदि कलंक से रहित भो अकलंकदेव! आपको मैं नमस्कार करता हूँ। कैसे हैं वे अकलंक भगवान्? सर्वज्ञ हैं—लोग-अलोक के सभी वस्तु समुदाय को जानने वाले हैं 'सर्वं जानातीति सर्वज्ञः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार सब कुछ जानने वाले हैं। पुनः वे कैसे हैं?

बाधकरूप जो दोष और आवरण हैं, उनको अनेकांत तत्त्व की भावना के बल से नष्ट कर देने से बाधा रहित ज्ञान को जो धारण करने वाले हैं। पुनः कैसे हैं? स्यात्—कथंचित् सत्-असत् आदि अनेकांतात्मक तत्त्व को कहने वाले स्याद्वादी हैं। ऐसे आपको मेरा नमस्कार होवे।

केवल मैं ही आपको नमस्कार नहीं करता हूँ किन्तु सभी प्रेक्षावान्—परीक्षकजन आपकी शरण में आते हैं। नित्य प्रवृत्त होने वाले वर्तमान की अपेक्षा से इस प्रकार का वचन है।

केवलमहमेव ते नमस्करोमि किंतु प्रेक्षावान् परीक्षकः सर्वोऽपि त्वामेव शरणं याति प्रतिपद्यते। नित्यप्रवृत्तवर्तमानविवक्षया एवं वचनात्। किंनामानं वीरं पश्चिमतीर्थकरं वर्धमानं। पुनरपि कथम्भूतं जिनं बहुविधविषयभवगहनभ्रमणकारणं दुष्कृतं जयतीति जिनः तं। तत्तीर्थकृतोपकारत्वात् शास्त्रकाराणामिति।।

भट्टाकलंकशिशिरांशुगवीभिरेत। त्पुष्टं नयेतरनिरूपणसस्यजातं।।
तत्रार्थपाकपटुतां नयनिष्ठुरेयं। सौरी भजत्यखिललोकहिताय वृत्तिः।।१।।

इत्यभयचंद्रसूरिकृतौ लघीयस्त्रयतात्पर्यवृत्तौ स्याद्वादभूषणसंज्ञायां पंचमः परिच्छेदः।।

समाप्तश्च नयप्रवेशो द्वितीयः।

क्या नाम वाले भगवान् की शरण में परीक्षक लोग आते हैं ? जिनका 'वीर' नाम है ऐसे जो अंतिम तीर्थंकर वर्धमान भगवान हैं पुनः वे कैसे हैं ? जिन हैं—नानाविध विषम भव वन में भ्रमण के कारणभूत दुष्कृत को जो जीतते हैं, वे जिन कहलाते हैं। सभी लोग उनकी शरण को प्राप्त करते हैं क्योंकि वे तीर्थंकर शास्त्रकारों का उपकार करने वाले हैं।

विशेषार्थ—यहाँ पर श्री भट्टाकलंक देव ने तीन विशेषणों से विशिष्ट देव को नमस्कार किया है। सर्वज्ञ, निरस्तबाधक धी और स्याद्वादी। ये तीनों विशेषण भगवान उमास्वामी के द्वारा तत्त्वार्थसूत्र महाशास्त्र की आदि में किये गये मंगलाचरण के समान ही हैं। स्याद्वादी विशेषण मोक्षमार्ग के नेतृत्व को सूचित करता है, निरस्तबाधक धी विशेषण कर्म पर्वत के नेतृत्व को स्पष्ट कर रहा है और सर्वज्ञ विशेषण तत्त्वों के ज्ञातृत्व को बतला रहा है। ऐसे ही श्री समंतभद्रस्वामी ने आप्त के सर्वज्ञ, वीतराग और हितोपदेशी ये तीन विशेष गुण बतलाये हैं सो यहाँ भी सर्वज्ञ से सर्वज्ञ, निरस्त बाधक बुद्धि से वीतरागता और स्याद्वादी से हितोपदेशिता सिद्ध हो जाता है। ऐसे तीन विशेषणों से विशिष्ट को नमस्कार करके श्री अकलंक देव ने अपने नाम को धारण करने वाले ऐसे कर्म कलंक रहित अकलंक भगवान को संबोधन करके कहा है कि हे अकलंक भगवन्! आप जिन वीर की शरण में सभी परीक्षक लोग आ जाते हैं।

(अब वृत्तिकार श्री अभयचंद्रसूरि श्री भट्टाकलंक देव और प्रभाचंद्राचार्य का स्मरण करते हुए इस परिच्छेद को पूर्ण करते हुए श्लोक कहते हैं)—

श्लोकार्थ—श्रीमान् भट्टाकलंकरूप चंद्रमा की प्रभा—किरणों से यह नय और दुर्नय के निरूपण रूप धान्य समूह पुष्टि को प्राप्त हुआ है। उसमें नय से निष्ठुर—कुशल यह श्री अभयचंद्रसूरि के द्वारा रचित तात्पर्यवृत्ति अखिल जनों के हित के लिए अर्थ के पाक की पटुता को प्राप्त होती है।।१।।

भावार्थ—धान्य आदि के खेत चंद्रमा की किरणों से पुष्टि को प्राप्त होते हैं, बढ़ते हैं, पुनः पक जाते हैं तब लोगों को फल देने लगते हैं। ऐसे ही यहाँ पर वृत्तिकार ने कहा है कि सुनय और दुर्नय का निरूपण करने वाला जो यह प्रकरण है वह धान्य का खेत है उसे श्री अकलंकदेव रूपी चंद्रमा के द्वारा प्रगट हुई किरणों ने अथवा प्रभाचंद्र सूरि की वाणी ने पुष्ट किया है, बढ़ाया है, पुनः मैंने जो तात्पर्यवृत्ति टीका की है उसने इस धान्य को पकाकर फल देने वाली कर दिया है अर्थात् सभी भव्य जीव इस टीका के आधार से सुनय-दुर्नय के मर्म को समझकर उसके फलस्वरूप सम्यग्ज्ञान को प्राप्त कर लेंगे।

इस प्रकार श्री अभयचंद्रसूरि कृत लघीयस्त्रय की स्याद्वादभूषण संज्ञक तात्पर्यवृत्ति टीका में पाँचवां परिच्छेद पूर्ण हुआ।

नय प्रवेश नाम से द्वितीय प्रकरण वाला द्वितीय महाधिकार समाप्त हुआ।

छठा परिच्छेद
(श्रुतोपयोग — प्रवचनप्रवेश)

अथेदानीमागमस्वरूपं निरूपयन् प्रवेशस्यादौ मध्ये मंगलभूतमिष्टदेवतागुणस्तोत्रमाधते —

प्रणिपत्य महावीरं स्याद्वादेक्षणसप्तकं।
प्रमाणनयनिक्षेपानभिधास्ये यथागमं।।१।।

अभिधास्ये प्रतिपादयिष्यामि। कान् प्रमाणनयनिक्षेपान् प्रमाणे च नयाश्च निक्षेपाश्च प्रमाणनयनिक्षेपास्तान्। कथं यथागमं आगमः प्रवचनं तमनतिक्रम्य अनादिपरंपराप्रसिद्धे आर्षे यथा ते प्रतिपादितास्तथा तदनुसारेणाहमपि तान् वक्ष्ये न स्वरुचिरचितानित्यर्थः। किं कृत्वा प्रणिपत्य प्रणम्यं। कं महावीरं पश्चिमतीर्थकरं। कथंभूतं स्याद्वादेक्षणसप्तकं स्यादस्तीत्यादिसप्तभंगमयो वादः स्याद्वादः ईक्षणानां सप्तकं ईक्षणसप्तकं स्याद्वाद एवेक्षणसप्तकं यस्माद्विनेयानां भवत्यसौ तथोक्तस्तं न खलु निरुपकारः प्रेक्षावतां प्रमाणार्होऽतिप्रसंगात्।

अथोद्दिष्टानां प्रमाणादीनां लक्षणमाह —

छठा परिच्छेद
(श्रुतोपयोग — प्रवचन प्रवेश)

उत्थानिका — अब इस समय आगम के स्वरूप का निरूपण करते हुए प्रवचन प्रवेश की आदि में और ग्रंथ के मध्य में मंगलभूत इष्ट देवता के गुणों की स्तुति करते हैं —

अन्वयार्थ — (स्याद्वादेक्षणसप्तकं) स्यात् अस्ति आदि सप्तभंग रूप स्याद्वाद के अवलोकन करने वाले (महावीरं) अंतिम तीर्थंकर महावीर भगवान को (प्रणिपत्य) नमस्कार करके (प्रमाण नयनिक्षेपात्) मैं प्रमाण नय और निक्षेपों को (यथागमं) आगम के अनुसार (अभिधास्ये) कहूँगा।।१।।

अर्थ — स्याद्वादरूप सप्तभंग के प्रतिपादक भगवान महावीर स्वामी को नमस्कार करके मैं प्रमाणनय और निक्षेपों को आगम के अनुरूप कहूँगा।।१।।

तात्पर्यवृत्ति — आगम में अर्थात् प्रवचन का उल्लंघन न करके अनादि परम्परा से प्रसिद्ध आर्ष — ऋषि प्रणीत ग्रंथों में जिस प्रकार से उन प्रमाण आदि का प्रतिपादन किया गया है, उसी प्रकार से उस आगम के अनुसार ही मैं प्रमाण, नय और निक्षेपों को प्रतिपादन करूँगा किन्तु स्वरुचि से रचित को नहीं कहूँगा, यह अर्थ हुआ। क्या करके कहूँगा ? अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर को प्रणाम करके कहूँगा। कैसे हैं वे भगवान्? स्याद्वाद — 'स्यात् अस्ति' इत्यादि सप्तभंगमय वाद — कथन स्याद्वाद कहलाता है, ईक्षण के — अवलोकन के सात प्रकार 'ईक्षण सप्तक' कहलाते हैं, इन स्याद्वादरूपी सप्त भंगों का ईक्षण — अवलोकन जिनसे शिष्यों को इन स्याद्वादरूप सप्त भंगों का अवलोकन होता है वे महावीर भगवान ऐसे हैं अर्थात् शिष्यों को स्याद्वादरूप सप्तभंग का ज्ञान कराने वाले हैं क्योंकि निश्चितरूप से जो निरुपकार — उपकाररहित हैं वे प्रेक्षावान् — बुद्धिमानों को प्रमाण के योग्य नहीं हैं, अन्यथा अतिप्रसंग हो जावेगा।

भावार्थ — यहाँ पर स्याद्वाद के नायक श्री भगवान महावीर स्वामी को नमस्कार करके आचार्यश्री ने आगम के अनुसार प्रमाण, नय और निक्षेपों को कहने की प्रतिज्ञा की है क्योंकि इन प्रमाणादि के बिना वस्तु तत्त्व का यथार्थ निर्णय नहीं होता है।

उत्थानिका — अब कहे गये प्रमाण आदि का लक्षण कहते हैं —

ज्ञानं प्रमाणमात्मादेरुपायो न्यास इष्यते।।
नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तितोऽर्थपरिग्रहः।।२।।

इष्यतेऽभ्युपगम्यते सकलविप्रतिपत्तीनां प्रागेव निरस्तत्वात्। किं प्रमाणं। किंविशिष्टं ज्ञानं जानाति ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञप्तिमात्रं वा ज्ञानमित्युच्यते। द्रव्यपर्याययोर्भेदाभेदविवक्षायां कर्त्रादिसाधनोपपत्तेः। कस्य आत्मादेः आत्मा स्वरूपमादिर्यस्य बाह्यार्थस्य स आत्मादिस्तस्य स्वार्थस्य ग्राहकमित्त्यर्थः। अथवाऽऽत्मा चिद्द्रव्यमादिशब्देनावरणानां क्षयोपशमः क्षयश्चांतरंगं। बहिरंगं पुररिंद्रियाऽनिंद्रियं गृह्यते। तस्मादुपजाय-मानमित्यध्याहारः। तथ इष्यते। कः नयः। किंरूपः अभिप्रायः विवक्षा। कस्य ज्ञातुः श्रुतज्ञानिनः। तथा इष्यते। कः न्यासो निक्षेपः। किंविशिष्टः उपायः अधिगमहेतुः नामादिरूपः। अर्थस्य स्वतः सिद्धत्वात् किमेतैः प्रमाणादिभिः इत्याशंक्याह—युक्तीत्यादि। युक्तितः प्रमाणनयनिक्षेपैरेवार्थस्य जीवादेः परिग्रहः प्रमितिर्न स्वत इति।

अन्वयार्थ—(आत्मादेः ज्ञानं प्रमाणं) आत्मा आदि का ज्ञान प्रमाण है (उपायः न्यासः इष्यते) उनके जानने का उपाय न्यास—निक्षेप माना जाता है और (ज्ञातुः अभिप्रायः नयः) ज्ञाता का अभिप्राय नय है (युक्तितः अर्थपरिग्रहः) इस प्रकार युक्ति से अर्थ का ज्ञान होता है।।२।।

अर्थ—आत्मा आदि का ज्ञान प्रमाण है, उनके जानने का उपाय न्यास—निक्षेप माना गया है और ज्ञाता का अभिप्राय नय कहलाता है इस प्रकार युक्ति से अर्थ का परिग्रह ज्ञान होता है।।२।।

तात्पर्यवृत्ति—'जानाति ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञप्तिमात्रं वा ज्ञानं' जो जानता है या जिसके द्वारा जाना जाता है अथवा जानना मात्र ही 'ज्ञान' कहलाता है। यहाँ द्रव्य और पर्याय में भेद-अभेद की विवक्षा के होने पर कर्ता आदि होते हैं अर्थात् द्रव्य और पर्याय में अभेद विवक्षा होने से 'जो जानता है, वह ज्ञान है' यह कर्तृत्व साधन होता है। द्रव्य पर्याय में भेद विवक्षा होने पर 'जिसके द्वारा जाना जाय वह ज्ञान है' ऐसा करण साधन होता है तथा भाव साधन में जानना मात्र ही ज्ञान है ऐसा कहा जाता है।

आत्मादि अर्थात् आत्मा—स्वरूप है आदि में जिसके ऐसे बाह्य पदार्थ आत्मादि हैं इस कथन से स्व और अर्थ को ग्रहण किया है अर्थात् उपर्युक्त निरुक्ति से सिद्ध स्व और पर को ग्रहण करने वाला जो ज्ञान है। अथवा आत्मा—चैतन्य द्रव्य है, आदि शब्द से आवरणों का क्षयोपशम या क्षय अंतरंग है पुनः इंद्रियां और मन बहिरंग कहलाते हैं इन अंतरंग और बहिरंग हेतुओं से उत्पन्न होने वाला जो ज्ञान है वह ज्ञान प्रमाण माना गया है क्योंकि सकल विसंवादों का पहले ही निराकरण कर दिया है।

उसी प्रकार से ज्ञाता—श्रुतज्ञानी के अभिप्राय को—विवक्षा को नय कहते हैं और उपाय—अधिगम—ज्ञान के हेतुभूत, नाम आदि रूप न्यास—निक्षेप कहलाता है।

शंका—अर्थ स्वतः सिद्ध है पुनः इन प्रमाण आदिकों से क्या प्रयोजन है ?

समाधान—नहीं! युक्ति से—प्रमाण, नय और निक्षेपों से ही जीवादि पदार्थों का परिग्रह—जानना होता है, स्वतः नहीं होता है।

विशेषार्थ—यहाँ आचार्य ने यह स्पष्ट किया है कि प्रमाण, नय और निक्षेप के बिना जीवादि पदार्थों का समीचीन ज्ञान नहीं हो सकता है अतः पहले इन प्रमाण, नय, निक्षेपों के लक्षण को समझ लेना चाहिए, अनंतर इनके द्वारा जीवादि पदार्थों का निर्णय करना चाहिए।

अथ नाकारणं विषय इति परमतं निराकर्तुमर्थस्य कारणत्वं प्रतिक्षिपति—

अयमर्थ इति ज्ञानं विद्यान्नोत्पत्तिमर्थतः।
अन्यथा न विवादः स्यात्कुलालादिघटादिवत्।।३।।

विद्याज्जानीयात्। किं ज्ञानं। कथं अयमर्थ इति। पुनर्न विद्यात्। कां उत्पत्तिं अहमस्मादुत्पन्नमिति स्वजन्म। कस्मात् अर्थतो घटादेः सकाशात्। इदं च प्रमेयं प्रतीतिसिद्धमेव। अन्यथा यद्यर्थात्स्वोत्पत्तिं ज्ञानं विद्यात् तदा वादिप्रतिवादिनोर्विवादो ज्ञानमर्थादुत्पन्नं नेति विप्रतिपत्तिः। किंवत् कुलालादिघटादिवत् यथा कुलालादेः सकाशाद्घटादेर्जन्मनि प्रतीतिसिद्धे कस्यापि न विवादोऽस्ति, तथाऽर्थात् ज्ञानजन्मन्यपि विवादो मा भूत्। अस्ति चायं विवादः। स्याद्वादिनां ज्ञानजन्मनीति।।३।।

अथानुमानात्तदुत्पत्तिसिद्धिः स्यादित्याशंक्याह—

अन्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थश्चेत्कारणं विदः।
संशयादिविदुत्पादः कौतस्कुत इतीक्ष्यतां।।४।।

उत्थानिका—'विषय अकारण नहीं होता है' इस बौद्धमत का निराकरण करने के लिए अर्थ को कारण मानने का खंडन करते हैं—

अन्वयार्थ—(अयं अर्थः इति ज्ञानं) यह अर्थ है इस प्रकार का ज्ञान (अर्थतः उत्पत्तिं) अर्थ से अपनी उत्पत्ति को (न विद्यात्) नहीं जानता है (अन्यथा) अन्यथा (कुलालादिघटादिवत्) कुंभकार आदि से घटादि उत्पत्ति के ज्ञान के समान (विवादः न स्यात्) विवाद नहीं होना चाहिए।।३।।

अर्थ—यह अर्थ है इस प्रकार से ज्ञान अर्थ से अपनी उत्पत्ति को नहीं जानता है अन्यथा कुंभकार आदि से घटादि के समान विवाद नहीं होना चाहिए।।३।।

तात्पर्यवृत्ति—'यह अर्थ है' इस प्रकार ज्ञान नहीं जानता है अर्थात् मैं इस घटादि अर्थ से उत्पन्न हुआ हूँ इस प्रकार ज्ञान अपने जन्म को नहीं जानता है। ये घटादि पदार्थ प्रमेय हैं यह बात प्रतीति सिद्ध ही है अन्यथा यदि ज्ञान अर्थ से अपनी उत्पत्ति को जानता है तब वादी और प्रतिवादी को विवाद नहीं होना चाहिए अर्थात् ज्ञान अर्थ से उत्पन्न नहीं हुआ है ऐसा विसंवाद नहीं होना चाहिए। जैसे—कुंभकार आदि से घट आदि की उत्पत्ति होना प्रतीति से सिद्ध है तो उसमें किसी को विवाद नहीं है, उसी प्रकार से अर्थ से ज्ञान के उत्पन्न होने में विवाद नहीं होना चाहिए किन्तु विवाद देखा जाता है। स्याद्वादी लोग अर्थ से ज्ञान की उत्पत्ति नहीं मानते हैं।

विशेषार्थ—अर्थ[१] और आलोक ज्ञान की उत्पत्ति में कारण नहीं हैं वे तो ज्ञान के विषय हैं अंधकार के समान। ज्ञान की उत्पत्ति तो आत्मा के ज्ञानावरण आदि के क्षयोपशम या क्षय से ही होती है, ऐसा समझना।

उत्थानिका—अनुमान से ज्ञान की उत्पत्ति की सिद्धि हो जावेगी, ऐसी आशंका होने पर आचर्य कहते हैं—

अन्वयार्थ—(चेत्) यदि (अन्वयव्यतिरेकाभ्यां) अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा (अर्थः विदः कारणं) अर्थ ज्ञान का कारण है, तब तो (संशयादिवित् उत्पादः) संशय आदि ज्ञान का उत्पाद (कौतुस्कुतः) किससे होगा ? (इति ईश्यतां) इस पर विचार कीजिए।।४।।

अर्थ—यदि अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा अर्थ ज्ञान कारण है, तो संशय आदि ज्ञान का उत्पाद

---

१. ''नार्थालोकौ कारणं परिछेद्यत्वात् तमोवत्''-परीक्षामुख।

चेद्यदि कारणं कथ्यते। कः अर्थो विषयः। कस्याः विदो ज्ञानस्य। काभ्यां अन्वयव्यतिरेकाभ्यां। सति भवनमन्वयः। असत्यभवनं हि व्यतिरेकः ताभ्यां। तथाहि ज्ञानमर्थकारणकं तदन्वयव्यतिरेकानुविधानादिति। तदा कौतस्कुतः स्यात् कुतस्कुत आगतः कौतस्कुतः। कः संशयादिविदुत्पादः संशयविपर्यासज्ञानोत्पत्तिरित्ये-वमीक्ष्यतां तद्वादिभिः स्वमनसि पर्यालोच्यतां अर्थाभावेऽपि संशयाद्युत्पत्तेः। न हि स्थाणुपुरुषात्मकः केशोंडुकस्वभावो वाऽर्थस्तज्ज्ञानोत्पत्तौ व्याप्रियते। ततो भागासिद्धमर्थान्वयव्यतिरेकानुविधानं ज्ञानस्येति।।

अथाज्ञानमपि सन्निकर्षः प्रमाणमित्याशंकां निराकुर्वन्नाह—

सन्निधेरिंद्रियार्थानामन्वयव्यतिरेकयोः।।
कार्यकारणयोश्चापि बुद्धिरध्यवसायिनी।।५।।

अध्यवसायिनी निश्चायिका। का बुद्धिर्ज्ञानमेव। कस्य सन्निधेरपि सन्निकर्षस्यापि न केवलमर्थस्येत्यपि-

---

किससे होता है ? इस पर आप विचार कीजिए।।४।।

तात्पर्यवृत्ति— यदि अन्वय और व्यतिरेक से अर्थ—विषयभूत पदार्थ ज्ञान के कारण हैं। कारण के होने पर कार्य का होना अन्वय है और नहीं होने पर नहीं होना व्यतिरेक है। उसी को स्पष्ट करते हैं—ज्ञान अर्थनिमित्तक है क्योंकि अर्थ का ज्ञान के साथ अन्वय व्यतिरेक पाया जाता है। यदि ऐसी बात है तो संशय और विपर्यय ज्ञानों की उत्पत्ति कहाँ से हो गई है। इस पर आपको अपने मन में विचार करना चाहिए क्योंकि अर्थ के अभाव में भी संशय आदि ज्ञान उत्पन्न होते हैं। स्थाणु पुरुष रूप अथवा केश मच्छर स्वभाव वाले कोई भी पदार्थ नहीं हैं, जो कि उस संशय आदि के ज्ञान में व्यापार करते हों इसलिए यह ज्ञान का अन्वय व्यतिरेक के अनुसरण रूप हेतु भागासिद्ध है, ऐसा समझना।

विशेषार्थ— जहाँ-जहाँ पदार्थ हों, वहीं-वहीं ज्ञान उत्पन्न होवे और जहाँ-जहाँ पदार्थ न हों वहाँ-वहाँ ज्ञान उत्पन्न न होवे। यह हुआ अर्थ के साथ ज्ञान का अन्वय-व्यतिरेक और यदि ऐसा अन्वय व्यतिरेक है तब स्थाणु में दूर से देखने पर यह पुरुष है या स्थाणु ? ऐसा संशय ज्ञान कैसे होगा ? क्योंकि वहाँ स्थाणु में स्थाणु और पुरुषरूप उभयात्मक वस्तु तो हैं नहीं। ऐसे ही केशों में अकस्मात् दूर से मच्छर का ज्ञान हो गया, यह विपरीत ज्ञान भी यदि केश मच्छर रूप नहीं है तो कैसे हुआ ?

जो आप बौद्धों ने कहा था कि ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न होता है इस बात को अनुमान प्रमाण बताता है। उस अनुमान में आपका हेतु एकदेश असिद्ध होने से असिद्ध हेत्वाभास हो गया है इसलिए ज्ञान को पदार्थ से उत्पन्न होना मानना नितांत गलत है, बिना पदार्थ के भी ज्ञान स्वयं उत्पन्न होता रहता है चूँकि वह आत्मा का स्वभाव है।

उत्थानिका— अज्ञानरूप भी सन्निकर्ष प्रमाण है इस आशंका का निराकरण करते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ— (इंद्रियार्थानां) इंद्रिय और पदार्थों के (सन्निधेः) सन्निकर्ष का (अन्वय व्यतिरेकयोः) अन्वय-व्यतिरेक का (च) और (कार्यकारणयोः अपि) कार्य कारण का भी (अध्यवसायिनी) निश्चय कराने वाला (बुद्धिः) ज्ञान है।।५।।

अर्थ— इंद्रियों और पदार्थों की सन्निधि—सन्निकर्ष का, अन्वय व्यतिरेक का तथा कार्य-कारण का भी निश्चय कराने वाला ज्ञान ही है।।५।।

तात्पर्यवृत्ति— ज्ञान ही केवल अर्थ का ही नहीं, सन्निकर्ष का भी निश्चय कराने वाला है। चक्षु आदि

शब्दार्थः। केषां इंद्रियार्थानां इंद्रियाणि चक्षुरादीनि अर्थाश्च रूपादयस्तेषां न केवलं संनिधेरपि तु अन्वयव्यतिरेकयोश्च सन्निकर्षस्य भावाभावयोश्च। तथा कार्यकारणयोश्च। कार्यं सन्निकर्षः कारणमिंद्रियादिः तयोश्च बुद्धिरेवाध्यवसायिनी। ततः सैव प्रमाणं न सन्निकर्षादि तस्य प्रमेयत्वात्।

अथालोकस्य ज्ञानकारणत्वं निराकुर्वन्नित्याह—

तमो निरोधि वीक्षंते तमसा नावृतं परं।।
कुड्यादिकं न कुड्यादितिरोहितमिवेक्षकाः।।६।।

वीक्षंते विशेषेण नीलादिरूपतया पश्यंति। के ईक्षकाः चक्षुष्मंतो जनाः। किं तमोंऽधकारं पुद्गलपर्यायं। किंविशिष्टं निरोधि प्रमेयांतरतिरोधायकं। पुनर्न वीक्षंते। किं परं घटादिकं। कथंभूतं वृतमाच्छादितं। केन तमसा। ततः कथमालोको ज्ञानकारणं तदभावेऽपि तदुत्पत्तेरिति। अस्मिन्नर्थे दृष्टांतमाह—इव यथा कुड्यादिकमीक्षंते ईक्षकाः। कुड्यादितिरोहितं पुनर्घटादिकं नेक्षंते। तथा तमो वीक्षंते तदावृतं तु परं नेक्षंते

इंद्रियाँ हैं और रूपादि अर्थ हैं इनका सन्निधि—सन्निकर्ष और अन्वय-व्यतिरेक अर्थात् भाव और अभाव का सन्निकर्ष तथा कारण कार्य का भी सन्निकर्ष होता है। कार्य—सन्निकर्ष, कारण—इन्द्रिय आदि हैं। इनका भी ज्ञान ही निश्चय कराने वाला है इसलिए वह ज्ञान ही प्रमाण है सन्निकर्षादि प्रमाण नहीं हैं क्योंकि वे प्रमेयरूप हैं।

उत्थानिका—अब आलोक को ज्ञान के कारणपने का निराकरण करते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(ईक्षकाः) देखने वाले (निरोधि तमः) घटादि के निरोधक ऐसे अंधकार को (वीक्षंते) देखते हैं किन्तु (तमसा आवृतं परं न) अंधकार से आच्छादित पर घटादि को नहीं (इव) जैसे (कुड्यादिकं) दीवाल आदि को देखते हैं, वैसे (कुड्यादितिरोहितं न) दीवाल आदि से तिरोहित को नहीं देखते हैं।।६।।

अर्थ—देखने वाले घटादि के निरोधक ऐसे अंधकार को देखते हैं किन्तु उससे आवृत—ढके हुए पर वस्तुओं को नहीं देखते हैं। जैसे—देखने वाले दीवाल आदि को देखते हैं किन्तु दीवाल आदि से तिरोहित को नहीं देखते हैं।।६।।

तात्पर्यवृत्ति—ईक्षक—चक्षुष्मानजन, निरोधि—प्रमेयांतर को ढकने वाले तम—अंधकाररूप पुद्गलपर्याय को विशेष—नीलादिरूप से देखते हैं किन्तु वृत्त—आच्छादित हुए पर घटादिक तमसा—अंधकार से नहीं देखते हैं। तब आलोक ज्ञान का कारण कैसे हो सकता है क्योंकि प्रकाश के अभाव में भी ज्ञान की उत्पत्ति हो रही है। इसी अर्थ को सिद्ध करने के लिए दृष्टांत देते हैं—जैसे दर्शक लोग दीवाल आदि को देखते हैं किन्तु दीवाल आदि से तिरोहित घटादिकों को नहीं देख सकते हैं, उसी प्रकार से अंधकार को तो देख लेते हैं किन्तु उनसे ढके हुए घटादि वस्तुओं को नहीं देख पाते हैं।

शंका—अंधकार के समान प्रकाश से ढके हुए भी घटादि को नहीं देख सकते हैं ?

समाधान—यदि ऐसी बात है तो होवे, यदि प्रकाश को अविशदपना है। जिस द्रव्य में विशदता है अर्थात् जो द्रव्य स्पष्ट है वह ढका हुआ भी नहीं ढके हुए के समान ही है, स्फटिक और अभ्रक आदि से ढके हुए के समान इसलिए आलोक के समान उससे ढके हुए को भी देख लेते हैं क्योंकि वह वैशद्य है—स्पष्ट है। पुनः अंधकार को तो देख लेते हैं किन्तु उससे ढके हुए को नहीं देख पाते हैं क्योंकि वह अस्पष्ट रूप है। इसलिए आलोक ज्ञान का कारण नहीं है क्योंकि वह प्रमेयरूप है, पदार्थों के समान।

इस प्रकार से ज्ञान का अंतरंग कारण ज्ञानावरण और वीर्यांतराय कर्मों का क्षयोपशम है पुनः बहिरंग

इति। ननु तमोवदालोकावृतमपि घटादिकं मैक्षिषतेति चेत्स्यादेवं यदि प्रकाशस्यावैशद्यं। यस्य हि द्रव्यस्य वैशद्यमस्ति तेनावृतमप्यनावृतप्रख्यमेव स्फटिकाभ्रकाद्यावृतवत्। अत आलोकवत्तदावृतमपि पश्यंति तस्य वैशद्यात्। तमः पुनः पश्यंति तदावृतं न पश्यंति तस्यावैशद्यमिति। तन्न ज्ञानकरणमालोकः प्रमेयत्वात् अर्थवदिति सिद्धमंतरंगकारणं ज्ञानावरणवीर्यांतरायक्षयोपशमः। बहिरंगं पुनरिंद्रियानिंद्रियरूपमिति।।

नन्वर्थादनुत्पन्नत्वे ज्ञानस्य सर्वार्थप्रकाशप्रसंगः स्यादविशेषादित्याशंक्याह—

मलविद्धमणिव्यक्तिर्यथाऽनेकप्रकारतः।।
कर्मविद्धात्मविज्ञप्तिस्तथानेकप्रकारतः।।७।।

यथा स्यात्। का मलविद्धमणिव्यक्तिः मलैः कालिमरेखादिभिः विद्धः स चासौ मणिश्च पद्मरागादिः तस्य व्यक्तिस्तेजः प्रादुर्भावः। कथं अनेकप्रकारतः अनेके बहवः प्रकारा विशदाविशददूरादूर-प्रकाश्यप्रकाशनविशेषास्तानाश्रित्य। तथा स्यात्। का कर्मविद्धात्मविज्ञप्तिः कर्माणि ज्ञानावरणादीनि तैराविद्धः संबद्धः स चासावात्मा च तस्य विज्ञप्तिरर्थोपलब्धिः। कथं अनेकप्रकारतः अनेके नानारूपाः प्रत्यक्षेतरदूरा-सन्नार्थप्रतिभासनविशेषा इंद्रियानिंद्रियातींद्रियशक्तिविशेषाः क्षयोपशमविशेषाश्च तानाश्रित्येत्यर्थः। तदावरणनिरवशेषनिरासे तु सकलार्थविज्ञप्तिरात्मन उपपद्यत एव ज्ञानस्वभावत्वात् तस्येति।

कारण इंद्रियां और मनरूप हैं यह बात सिद्ध हो गई है।

विशेषार्थ—बौद्ध अर्थ के समान प्रकाश को भी ज्ञान का कारण मानते हैं किन्तु जैनाचार्य कहते हैं कि प्रकाश भी ज्ञान का कारण नहीं है वह भी ज्ञान का विषय है। जैसे कि अंधकार ज्ञान का कारण नहीं है बल्कि ज्ञान का विषय अवश्य है, प्रत्येक प्राणी अंधकार को काले-काले रूप में देख रहा है किन्तु उससे ढके हुए पदार्थों को तो नहीं देख पाता है उसी प्रकार प्रकाश भी ज्ञान का विषय ही है। ज्ञान का कारण नहीं हो सकता है। ज्ञान तो आत्मा का गुण है जो कि संसार अवस्था में कर्मों से ढका हुआ है इसलिए ज्ञानावरण और वीर्यांतराय के क्षयोपशमरूप अंतरंग कारण से तथा इंद्रिय और मन के निमित्तरूप बहिरंग कारण से उत्पन्न होता है।

उत्थानिका—अर्थ से ज्ञान की उत्पत्ति न मानने पर संपूर्ण अर्थ को प्रकाशित करने का प्रसंग हो जावेगा क्योंकि इनमें कोई अंतर नहीं है, ऐसी आशंका होने पर आचार्य कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यथा) जैसे (मलविद्धमणिव्यक्तिः) मल से आच्छादित मणि की व्यक्ति (अनेकप्रकारतः) अनेक प्रकार से होती है (तथा) वैसे ही (कर्मविद्धात्मविज्ञप्तिः) कर्म से आच्छादित आत्मा का ज्ञान भी (अनेकप्रकारतः) अनेक प्रकार से होता है।।७।।

अर्थ—जिस प्रकार मल से विद्ध मणि की व्यक्ति अनेक प्रकार से होती है वैसे ही कर्म से विद्ध—संयुक्त आत्मा का ज्ञान अनेक प्रकार से होता है।।७।।

तात्पर्यवृत्ति—जिस प्रकार से कालिमा रेखा आदि से विद्ध हुए ऐसे जो पद्मराग आदि मणि विशेष हैं उनके तेज का प्रादुर्भाव अनेक प्रकार से होता है अर्थात् विशद्-अविशद्, दूर-निकट, प्रकाश्य-प्रकाशन आदि विशेष भेदों के आश्रित होता है उसी प्रकार से ज्ञानावरण आदि कर्मों से विद्ध—संबद्ध—संयुक्त जो आत्मा है उसकी विज्ञप्ति—आत्म पदार्थ की उपलब्धि अनेक प्रकार से होती है अर्थात् जो नाना रूप प्रत्यक्ष-परोक्ष, दूर-आसन्न पदार्थों के प्रतिभासन विशेष हैं, इंद्रिय, अनिंद्रिय और अतीन्द्रिय शक्ति विशेष रूप क्षयोपशम विशेष हैं उनके आश्रय से जीवों का अनेक प्रकार से अनुभव आ रहा है और ज्ञानावरण कर्म के संपूर्ण तथा निरस्त हो जाने पर तो संपूर्ण पदार्थों का ज्ञान आत्मा में उत्पन्न होता ही है क्योंकि वह आत्मा ज्ञान स्वभाव वाला है।

ननु यस्मादर्थाज्जायते यदाकारमनुकरोति यत्र व्यवसायं जनयति ज्ञानं तत्रैव तस्य प्रामाण्यं न सर्वत्रेति सौगताशंकां प्रतिक्षिपति—

न तज्जन्म न ताद्रूप्यं न तद्व्यवसितिः सह।।
प्रत्येकं वा भजंतीह प्रामाण्यं प्रति हेतुतां।।८।।

इह ज्ञाने। प्रामाण्यं प्रति प्रमाणत्वमुद्दिश्य। हेतुतां निमित्तभावं न भजंति। किं न इत्याह—तज्जन्म तस्मादर्थाज्जन्म उत्पत्तिः तस्य करणग्रामेण व्यभिचारात्। न च ताद्रूप्यं तस्यार्थस्य रूपमिव रूपमाकारो यस्य तत्तद्रूपं तस्य भावस्ताद्रूप्यं तस्य समानार्थसमनंतरज्ञानेन व्यभिचारात्। नापि तद्व्यवसितिः तत्रार्थे व्यवसितिर्व्यवसायो निश्चयः तस्य द्विचंद्रादिव्यवसायेन व्यभिचारात्।

कथं प्रत्येकं एकमेकं प्रति नियतमेकैकमित्यर्थः। सह मिलित्वा वा तानि प्रामाण्यहेतुतां न भजंति तत्रितयस्यापि शुक्ले शंखे पीताकारज्ञानजनकेन समनंतरप्रत्ययेन व्यभिचारात्।।

ततः स्वकारणकलापादुपजायमानं प्रकाशरूपं ज्ञानं स्वत एवार्थग्राहकमित्याह—

भावार्थ—जैसे मल से आच्छादित मणि की अभिव्यक्ति अनेक प्रकार से देखी जाती है उसी प्रकार से कर्मों से आच्छादित आत्मा के ज्ञान का विकास भी हीनाधिकरूप से अनेक प्रकार का देखा जाता है।

उत्थानिका—ज्ञान जिस अर्थ से उत्पन्न होता है, जिस आकार का अनुकरण करता है और जिसके विषय में निश्चय को उत्पन्न करता है, उसी विषय में उस ज्ञान की प्रमाणता है किन्तु सर्वत्र नहीं है, ऐसी सौगत की आशंका का आचार्य खंडन करते हैं—

अन्वयार्थ—(इह) ज्ञान में (प्रामाण्यं प्रति) प्रमाणता के प्रति (तज्जन्म) तदुत्पत्ति (हेतुतां न) हेतु नहीं है, (न ताद्रूप्यं) न तदाकारता है और (न तद् व्यवसितिः) न तद्ध्यवसाय ही है (सह प्रत्येकं वा भजंति) ये तीनों न मिलकर ही हेतु हैं न एक-एक ही हेतु होते हैं।।८।।

अर्थ—ज्ञान की प्रमाणता के प्रति न तज्जन्म कारण है न ताद्रूप्य है और न तदध्यवसाय ही कारण है, ये तीनों मिलकर भी अथवा प्रत्येक भी ज्ञान की प्रमाणता में हेतु नहीं हो सकते हैं।।८।।

तात्पर्यवृत्ति—इस ज्ञान में प्रमाणता के प्रति निमित्त भाव को नहीं प्राप्त होते हैं। क्यों नहीं होते हैं ? तज्जन्म—ज्ञान की उस अर्थ से उत्पत्ति होती है, इस मान्यता में उस ज्ञान में इंद्रियों से व्यभिचार आता है इसलिए पदार्थ ज्ञान की उत्पत्ति में निमित्त नहीं है, यह अर्थ हुआ है। ज्ञान में तद्रूपता भी नहीं है, उस अर्थ के समान रूप को—आकार को धारण करने वाला तद्रूप कहलाता है उसके भाव को ताद्रूप्य कहते हैं। उस तद्रूप का समानार्थ समनंतर ज्ञान के साथ व्यभिचार होता है और उसका व्यवसाय भी कारण नहीं है—उस अर्थ का निश्चय होना भी ज्ञान में कारण नहीं है क्योंकि द्विचंद्रादि के निश्चय के साथ व्यभिचार आता है। ये एक-एक या साथ में मिलकर प्रमाणता में हेतु नहीं होते हैं क्योंकि ये तीनों भी शुक्ल शंख में पीताकार ज्ञान के अनेक होने से समनंतर ज्ञान से व्यभिचारी होते हैं।

भावार्थ—बौद्धों ने तदुत्पत्ति, तद्रूपता और तदध्यवसाय को ज्ञान की प्रमाणता में कारण माना है किन्तु आचार्यदेव का कहना है कि न तो ये पृथक्-पृथक् ही ज्ञान की प्रमाणता में कारण हो सकते हैं और न तीनों मिलकर ही हो सकते हैं क्योंकि ये तीनों ही व्यभिचरित हैं।

उत्थानिका—इसलिए अपने कारण समूहों से उत्पन्न होता हुआ प्रकाशरूप ज्ञान स्वतः ही अर्थ को ग्रहण करने वाला है, अब आचार्य इस बात को कहते है—

स्वहेतुजनितोऽप्यर्थः परिच्छेद्यः स्वतो यथा।।
तथा ज्ञानं स्वहेतूत्थं परिच्छेदात्मकं स्वतः।।९।।

यथा स्यात्। कः अर्थः घटादिः। किंविशिष्टः स्यात् परिच्छेद्यो ज्ञेयः। कथं स्वतः स्वभावादेव न ज्ञानादुत्पत्यादेः। किंभूतोऽपि स्वहेतुजनितोऽपि स्वस्य हेतुर्मृदादिसामग्री तेन जनितो निष्पादितोऽपि। तथा ज्ञानं परिच्छेदात्मकमर्थग्रहणात्मकं स्यात्। कुतः स्वभावादेव नार्थादुत्पत्यादेः। किंविशिष्टमपि स्वहेतूत्थमपि। स्वस्य हेतुरंतरंगः आवरणक्षयोपशमलक्षणः। बहिरंगः पुनरिंद्रियानिंद्रियरूपस्तस्मादुत्था उत्पत्तिर्यस्य तत्तथोक्तं तादृशमपीत्यर्थः। अर्थग्रहणस्वभावं हि ज्ञानं केनचित्प्रतिबद्धशक्तिकं किंचिदेव जानाति। प्रतिबंधविगमविशेषे तु तदेव स्वविषयविशेषं जानातीति।।

अथ ज्ञानं प्रमाणमात्मादेरित्यमुमेवार्थं विशदयति—

व्यवसायात्मकं ज्ञानमात्मार्थग्राहकं मतं।।
ग्रहणं निर्णयस्तेन मुख्यं प्रामाण्यमुश्नुते।।१०।।

अन्वयार्थ—(स्वहेतुजनितः अपि अर्थः) अपने हेतु से उत्पन्न हुआ भी अर्थ (यथा स्वतः) जैसे स्वतः (परिछेद्यः) जानने योग्य है (तथा स्वहेतूत्थं ज्ञानं) वैसे ही अपने हेतु से उत्पन्न हुआ ज्ञान (स्वतः) स्वभाव से ही (परिच्छेदात्मकं) जानने रूप स्वभाव वाला है।।९।।

अर्थ—अपने हेतु से उत्पन्न हुआ भी अर्थ जैसे स्वतः ही जानने योग्य—विषय है, वैसे ही ज्ञान अपने हेतु से उत्पन्न होकर स्वभाव से ही जानने रूप स्वभाव वाला है।।९।।

तात्पर्यवृत्ति—जैसे घटादि पदार्थ स्वभाव से ही ज्ञेय हैं न कि ज्ञान से उत्पन्न होने आदि की अपेक्षा से और वे अपने हेतु से मिट्टी आदि सामग्री से उत्पन्न होते हैं—बनते हैं, ऐसे अपने कारणों से उत्पन्न होते हुए भी वे घटादि ज्ञान के विषय हैं, वैसे ही ज्ञान भी स्वभाव से ही पदार्थ को ग्रहण करने के स्वभाव वाला है न कि अर्थ से उत्पन्न होने आदि की अपेक्षा से। वह ज्ञान कैसा है ? अपने हेतु से उत्पन्न होने वाला है, ज्ञान का अंतरंग हेतु आवरण के क्षयोपशमरूप है और बहिरंग हेतु इंद्रिय तथा मनरूप है, इन अंतरंग-बहिरंग हेतुओं से उत्पन्न होते हुए भी ज्ञान स्वभाव से ही वस्तु को जानने का कार्य करता है। अर्थ को ग्रहण करने रूप स्वभाव वाला ज्ञान किसी के द्वारा शक्ति के आवृत्त होने पर कुछ-कुछ पदार्थों को ही जानता है और प्रतिबंधक आवरण कर्म क्षयोपशम या क्षय विशेष होने पर तो वही ज्ञान अपने विषय विशेष को जान लेता है।

'ज्ञानं प्रमाणं आत्मादेः'—

उत्थानिका—अब ज्ञान प्रमाण है वह आत्मा आदि को विषय करता है, इसी ही अर्थ को और स्पष्ट करते हैं—

अन्वयार्थ—(व्यवसायात्मकं ज्ञानं) निश्चयात्मक ज्ञान (आत्मार्थग्राहकं मतं) अपने को और अर्थ को ग्रहण करने वाला माना गया है (ग्रहणं) वह ज्ञान (निर्णयः) निर्णयरूप है (तेन) इसलिए वह (मुख्यं प्रामाण्यं) मुख्य प्रमाणता को (अश्नुते) प्राप्त होता है।।१०।।

अर्थ—व्यवसायात्मक ज्ञान अपने को और अर्थ को ग्रहण करने वाला माना गया है, वह ग्रहण ज्ञान निर्णयरूप है इसलिए यह ज्ञान मुख्य प्रमाण कहलाता है।।१०।।

मतभिष्टं ज्ञातं च। किं ज्ञानं। किंस्वरूपं व्यवसायात्मकं विशेषस्य जात्याद्याकारस्यावसायो निश्चयः स एव वाऽऽत्मा स्वरूपं यस्य तत्तथोक्तं। अनेन प्रत्यक्षं कल्पनापोढमित्येतन्निरस्तं। पुनः किंविशिष्टं आत्मार्थग्राहकं आत्मा स्वरूपमर्थो बाह्यो घटादिस्तौ गृह्णाति निर्णयतीत्यात्मार्थग्राहकं। अनेन ज्ञानमर्थग्राहकमेव न स्वरूपग्राहकं, स्वग्राहकमेव नार्थग्राहकमित्येकांतद्वयं निराकृतं। तेन कारणेनाश्नुते भजति। किं ग्रहणं ज्ञानं कर्तृ। किंरूपं निर्णयः स्वार्थव्यवसायस्तद्रूपमित्यर्थः। किं कर्मतापन्नं प्रामाण्यं प्रमाणभावं। किंविशिष्टं मुख्यमनुपचरितं ज्ञानकरणत्वादुपचारेणैवेंद्रियलिंगादेः प्रमाणत्वात्। ततः सूक्तं ज्ञानं प्रमाणमात्मादेरिति।।

इदानीं तत्संख्यामाह—

तत्प्रत्यक्षं परोक्षं च द्विधैवात्रान्यसंविदां।
अंतर्भावान्न युज्यंते नियमाः परकल्पिताः।।११।।

यत्सम्यग्ज्ञानात्मकं प्रमाणं तत् द्विधैव द्विप्रकारमेव। तावेव प्रकारावाह—प्रत्यक्षं परोक्षं चेति। नन्वनुमानादि-प्रमाणभेदसंख्याऽपि संभाव्यत इत्याह—अत्रेत्यादि। न युज्यंते न संभवंति। के नियमाः द्वित्र्यादिसंख्याप्रतिज्ञाः। किंविशिष्टाः परपरिकल्पिताः परैः सौगतादिभिः कल्पिता रचिताः। कुतो न युज्यंते अंतर्भावात् संग्रहात्। कासां अन्यसंविदां अनुमानादिज्ञानानां। क्व अत्रैव प्रत्यक्षपरोक्षसंग्रह एव। तत्र

तात्पर्यवृत्ति—विशेष—जाति आदि आकार का अवसाय—निश्चय व्यवसाय कहलाता है वह निश्चय ही आत्मा—स्वरूप जिसका है वह ज्ञान व्यवसायात्मक माना गया है। इस कथन से 'प्रत्यक्ष ज्ञान कल्पना से रहित है' ऐसी बौद्ध की मान्यता का खंडन हो जाता है पुनः वह ज्ञान आत्मा और अर्थ का ग्राहक है, आत्मा—स्वरूप और अर्थ—घटादि बाह्य पदार्थ इनको ग्रहण करने वाला है अर्थात् अपने स्वरूप और बाह्य पदार्थों का निर्णय कराने वाला है।

इस कथन से ज्ञान अर्थ का ही ग्राहक है स्वरूप का ग्राहक नहीं है अथवा ज्ञान अपने स्वरूप का ही ग्राहक है अर्थ का ग्राहक नहीं है, इन दोनों ही एकांत मान्यताओं का निराकरण कर दिया गया है इसलिए यह ग्रहण—ज्ञान निर्णयरूप है अर्थात् स्वार्थ व्यवसायरूप है यह अर्थ हुआ, उसी हेतु से यह प्रमाणता को प्राप्त होता है और यह ज्ञान कैसा है ? मुख्य—अनुपचरित है क्योंकि ज्ञानरूप क्रिया के प्रति कारण है किन्तु इंद्रिय, लिंग आदि तो उपचार से ही प्रमाण होते हैं इसलिए यह बात ठीक ही कही है कि आत्मादि का ज्ञान प्रमाण है, ऐसा समझना।

उत्थानिका—इस समय उस प्रमाण की संख्या को कहते हैं—

अन्वयार्थ—(तत् द्विधा) वह प्रमाण दो प्रकार का है (प्रत्यक्षं परोक्ष च) प्रत्यक्ष और परोक्ष। (अन्य संविद्यं) अन्य ज्ञानों का (अत्र) इसमें (एव) ही (अंतर्भावात्) अंतर्भाव हो जाने से (परिकल्पिताः) पर से परिकल्पित प्रमाणों का (नियमाः) नियम (न युज्यंते) युक्त नहीं है।।११।।

अर्थ—वह प्रमाण ज्ञान प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार का ही है क्योंकि इन्हीं में ही अन्य ज्ञानों का अंतर्भाव हो जाने से अन्य जनों से कल्पित प्रमाण का नियम मानना युक्त नहीं है।।११।।

तात्पर्यवृत्ति—जो सम्यग्ज्ञान स्वरूप प्रमाण है वह दो प्रकार का ही है—प्रत्यक्ष और परोक्ष।

प्रश्न—अनुमान आदि प्रमाण के भेदों की संख्या भी संभव है।

उत्तर—नहीं, जो आप बौद्धादि लोगों के द्वारा कल्पित दो, तीन, चार आदि संख्या का नियम है वह संभव नहीं है क्योंकि उन सभी अनुमान आदि ज्ञानों का इन्हीं प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप दो प्रमाणों में ही अंतर्भाव

प्रत्यक्षमिंद्रियानींद्रियातींद्रियभेदात्। त्रिधा। स्पर्शनादींद्रियव्यापारप्रभवमिन्द्रियप्रत्यक्षं। केवलमनोव्यापार-प्रभवमनिन्द्रियप्रत्यक्षं। तदेतद्द्वयमपि सांव्यवहारिकं देशतो वैशद्यात्। अतीन्द्रियं पुनः मुख्यप्रत्यक्षं अवधिमनःपर्ययकेवलज्ञानभेदात् त्रिधा। तत्र मूर्तद्रव्यालंबनमवधिज्ञानं देशावधिपरमावधिसर्वावधिभेदात् त्रिविधं। तत्र देवनारकाणां देशावधिर्भवप्रत्यय एव। तिर्यङ्मनुष्याणां गुणप्रत्ययः। ऋजुमतिविपुलमति-भेदान्मनःपर्ययो द्विधा। प्रगुणनिर्वर्तितमनोवाक्कायगत-सूक्ष्मद्रव्यालंबन ऋजुमतिमनःपर्ययः। प्रगुणाप्रगुण-निर्वर्तित-मनोवाक्कायगतसूक्ष्मेतरार्थावलंबनो विपुलमतिमनः पर्ययः। त्रिकालगतानंतपर्यायपरिणत-जीवाजीवद्रव्याणां युगपत्साक्षात्करणं केवलज्ञानं अखिलावरण-वीर्यांतरायनिरवशेषविश्लेषविजृंभितं। तद्वानस्ति कश्चित्पुरुषविशेषः सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वात् सुखादिवत्। न खलु तस्य प्रत्यक्षं बाधकमप्रवृत्तेः। ततो निवर्तमानं तद्बाधकमिति चेदयुक्तमेतत्। कुड्यादिपरभागादेरप्यसत्त्वापत्तेः। नाप्यनुमानमनुत्पत्तेः। साध्यसाधनसंबंधग्रहणपूर्वकमेव ह्यनुमानमुत्पद्यते। न च वक्तृत्वादेरसर्वज्ञत्वेन संबंधः साकल्येन केनचित्प्रतिपत्तुं

हो जाता है। उसमें से प्रत्यक्ष ज्ञान इंद्रिय प्रत्यक्ष, अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष और अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के भेद से तीन प्रकार का है।

स्पर्शन आदि इंद्रियों के व्यापार से उत्पन्न होने वाला ज्ञान इंद्रिय प्रत्यक्ष है। केवल मनोव्यापार से उत्पन्न होने वाला ज्ञान अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष है। ये दोनों ही सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहलाते हैं क्योंकि ये एकदेश विशदता को लिए हुए हैं।

अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष मुख्य प्रत्यक्ष कहलाता है। उसके अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान के भेद से तीन भेद हैं। उनमें से मूर्तिक द्रव्यों का अवलंबन लेने वाला अवधिज्ञान है, उसके भी देशावधि, परमावधि और सर्वावधि के भेद से तीन भेद हैं। उन तीनों में से देव और नारकियों के देशावधि होती है और वह भवप्रत्यय ही होती है तथा तिर्यंच और मनुष्यों की अवधि गुणप्रत्यय कहलाती है। परमावधि–सर्वावधि ये दोनों अवधिज्ञान चरमशरीरी — उसी भव से मोक्ष जाने पर संयमी — मनुष्य के ही होते हैं और ये गुणप्रत्यय कहलाते हैं। ऋजुमति और विपुलमति के भेद से मनःपर्ययज्ञान के दो भेद हैं। प्रगुण — सरणता से निर्वर्तित मन, वचन, कायगत सूक्ष्म द्रव्य का अवलंबन लेने वाला — जानने वाला ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान है। सरल और कुटिलता से निर्वर्तित मन, वचन, कायगत सूक्ष्म से सूक्ष्म अर्थ का अवलंबन लेने वाला विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान है। त्रिकालगत अनंत पर्याय से परिणत जीव, अजीव द्रव्यों को युगपत् साक्षात् जानने वाला केवलज्ञान है, वह संपूर्ण आवरण कर्म और वीर्यांतराय कर्म के निरवशेष नष्ट हो जाने से होता है।

'इस केवलज्ञान को प्राप्त करने वाला कोई पुरुष विशेष है क्योंकि सुनिश्चितरूप से बाधक प्रमाण असंभव है, सुखादि के समान' वास्तव में उस सर्वज्ञ को बाधित करने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान तो है नहीं, क्योंकि वह इंद्रिय प्रत्यक्ष उसमें प्रवृत्त ही नहीं हो सकता है।

प्रश्न — उससे निवर्तमान ही उसका बाधक है अर्थात् सर्वज्ञ प्रत्यक्ष का विषय नहीं है इसलिए तो वह नहीं है ?

उत्तर — यह कथन अयुक्त है, क्योंकि ऐसे तो दीवाल आदि के परभाग आदि का भी अभाव हो जावेगा। अनुमान भी सर्वज्ञ का बाधक नहीं है क्योंकि वह उत्पन्न ही नहीं हो सकता है। साध्य–साधन के संबंध को ग्रहण करने पूर्वक ही अनुमान ज्ञान उत्पन्न होता है। वक्तृत्व आदि हेतु का सर्वज्ञत्व साध्य के साथ संबंध है इस बात को संपूर्ण रूप से जानना किसी को भी शक्य नहीं है, क्योंकि सभी लोग अल्पज्ञ हैं। आप कहें कि भिन्न अनुमान से उस

शक्यः। सर्वेषां किंचिज्ज्ञत्वात्। अनुमानांतरात्तत्संबंधप्रतिपत्तौ चानवस्थापत्तेः। ततः संदिग्धानैकांतिकाद्वक्तृत्वादेर्न सर्वज्ञत्वनिषेधः साधनीयः। नागमादप्यसौ बाध्यते तस्यापौरुषेयासिद्धेः पौरुषेयस्य तत्साधकत्वात्। दृष्टेष्टाविरुद्धं हि वचनमागमो न सर्वज्ञं। तच्च सर्वज्ञप्रणीतमेव न रागद्वेषमोहाक्रांतपुरुषप्रयुक्तं, तस्य तथाविधवचनप्रयोगायोगात्। रथ्यापुरुषवत्। नन्वेवं श्रुतस्य सुगतादीनामपि संभवात् अर्हन्नेव तत्प्रणेता न संभवतीति चेन्न। तेषामपि दृष्टेष्टविरुद्धवक्तृत्वात्। अनेकांतात्मकवस्तुप्रतिपादकं हि प्रवचनं दृष्टेष्टाविरोधि प्रत्यक्षादिप्रमाणाविसंवादादिति।।

साध्य-साधन के संबंध का ज्ञान हो जायेगा, सो भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसे तो अनवस्था आ जाती है इसलिए संदिग्धरूप से अनैकांतिक ऐसे वक्तृत्व आदि हेतु से सर्वज्ञ का निषेध सिद्ध नहीं हो सकता है।

आगम से भी ये सर्वज्ञ बाधित नहीं होते हैं, क्योंकि आपके द्वारा मान्य इस आगम को अपौरुषेयपना सिद्ध नहीं है किन्तु उसको पौरुषेय ही सिद्ध किया है। इष्ट—प्रत्यक्ष और अदृष्ट—अनुमानादि से अविरुद्ध वचन ही आगम है, न कि सर्वज्ञ। और वह आगम सर्वज्ञदेव से प्रणीत ही हो सकता है न कि राग, द्वेष और मोह से व्याप्त पुरुषों से कथित वचनरूप, क्योंकि उनमें वैसे प्रत्यक्षादि से अविरुद्ध वचनों के प्रयोग का अभाव है, रथ्यापुरुष के समान—पागल पुरुष के समान।

प्रश्न—इस प्रकार का आगम तो सौगत आदि के यहाँ भी संभव है अतः अर्हंत ही उस आगम के प्रणेता संभव नहीं हैं ?

उत्तर—ऐसा नहीं कहना, क्योंकि वे सौगत आदि भी प्रत्यक्ष और अनुमान से विरुद्ध वचन के बोलने वाले हैं। 'अनेकांतस्वरूप वस्तु का प्रतिपादक प्रवचन प्रत्यक्ष और अनुमान से अविरोधी है क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उसमें विसंवाद नहीं आता है।' ऐसा समझना।

विशेषार्थ—यहाँ पर आचार्य ने प्रमाण के दो भेद बताये हैं प्रत्यक्ष और परोक्ष। उनमें से प्रत्यक्ष के भी सांव्यवहारिक और मुख्य ऐसे दो भेद किये हैं। सांव्यवहारिक में इंद्रिय प्रत्यक्ष और अनिंद्रिय प्रत्यक्ष ऐसे दो भेद होते हैं। अवधि में भी देशावधि, परमावधि और सर्वावधि से तीन भेद हो गये हैं। देशावधि के दो भेद हैं— भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय। देव, नारकियों के भवप्रत्यय देशावधि ही होती है तथा मनुष्य और तिर्यंचों के क्षयोपशम की मुख्यता से गुणप्रत्यय देशावधि ही होती है। परमावधि, सर्वावधि तद्भव मोक्षगामी परमसंयमी मुनियों के होती हैं। मनःपर्यय ज्ञान के भी ऋजुमती और विपुलमती दोनों भेद संयमी के ही होते हैं। ये दोनों ज्ञान देशप्रत्यक्ष कहलाते हैं। केवलज्ञान अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष है। यह जिनके होता है वे सर्वज्ञ कहलाते हैं।

कुछ लोग—मीमांसक आदि सर्वज्ञ का अस्तित्व नहीं मानते हैं। इस पर आचार्य ने कहा है कि 'सर्वज्ञ नहीं है' इस बात को जानने वाला इंद्रिय प्रत्यक्ष तो हो नहीं सकता है क्योंकि उसका विषय सीमित है और वर्तमान का ही है, हाँ, यदि कोई अपने प्रत्यक्ष से तीनों लोकों और तीनों कालों को देखकर निर्णय दे दे कि कोई भी सर्वदर्शी नहीं है तो भाई! वह तो स्वयं ही सर्वदर्शी सर्वज्ञ बन गया है। वैसे ही अनुमान से भी 'सर्वज्ञ नहीं है' इस बात को सिद्ध करना कठिन है तथा आगम से निषेध करना चाहो सो भी ठीक नहीं है क्योंकि पहले आगम को प्रमाणीक सिद्ध करना चाहिए। आगम अपौरुषेय है अतः प्रमाणीक है इतना मात्र कहने से भी कुछ नही होगा क्योंकि अपौरुषेय आगम की सिद्धि नहीं है प्रत्युत् पुरुषकृत ही आगम सिद्ध हो रहे हैं। उनमें भी सर्वज्ञ प्रणीत आगम ही निर्दोष है, अल्पज्ञों के द्वारा प्रणीत नहीं है।

इदानीं श्रुतस्य व्यापारभेदं दर्शयति—

उपयोगौ श्रुतस्य द्वौ स्याद्वादनयसंज्ञितौ।।
स्याद्वादः सकलादेशो नयो विकलसंकथा।।१२।।

भवतः। कौ उपयोगौ व्यापारौ। कस्य श्रुतस्य श्रूयते इति श्रुतमाप्तवचनं। वर्णपदवाक्यात्मकं द्रव्यरूपं तस्य भावश्रुतस्य वा श्रवणं श्रुतमिति निरुक्तेः। कति द्वौ। किंनामानौ स्याद्वादनयसंज्ञितौ स्यात्कथंचित् प्रतिपक्षापेक्षया वचनं स्याद्वादः। नयनं वस्तुनो विवक्षितधर्मप्रापणं नयः। स्याद्वादश्च नयश्च स्याद्वादनयौ। इत्थं संज्ञे व्यपदेशौ संजाते ययोस्तौ तथोक्तौ। तौ लक्षणतो निर्दिशति—स्याद्वाद उच्यते। कः सकलादेशः सकलस्यानेकधर्मणो वस्तुन आदेशः कथनं। यथा जीवपुद्गलधर्माकाशकालाः षडर्थाः। तत्र ज्ञानदर्शनसुखवीर्यैर-साधारणैर्धर्मैः सर्वत्र प्रमेयत्वागुरुलघुत्वधर्मित्वगुणित्वादिभिः साधारणैर्[१]मूर्तत्वसूक्ष्मत्वासंख्यातप्रदेशत्वादिभिश्च साधारणासाधारणैरनेकांतात्मको जीवः, पुद्गलः पुनः स्पर्शरसगंधवर्णैरसाधारणैः सत्त्वादिभिः साधारणैर-चेतनत्व-मूर्तत्वादिभिः साधारणासाधारणैश्चानेकांतात्मकः। धर्मश्च गतिहेतुत्वेनासाधारणेन सत्त्वादिभिः साधारणैर-चेतनत्वादिभिरुभयैरप्यनेकांतात्मकः। स्थितिहेतुत्वेनासाधारणेन सत्त्वादिभिः साधारणैर-

---

उत्थानिका—अब श्रुत के व्यापार भेद को दिखाते हैं—

अन्वयार्थ—(श्रुतस्य) श्रुतज्ञान के (स्याद्वादनयसंज्ञितौ) स्याद्वाद और नय इन नाम वाले (द्वौ उपयोगौ) दो व्यापार हैं। (सकलादेशः) संपूर्ण को कहने वाला (स्याद्वादः) स्याद्वाद है और (विकलसंकथा) एक-एक अंश को सम्यक् प्रकार से कहने वाला (नयः) नय है।।१२।।

अर्थ—श्रुत के स्याद्वाद और नय इन नाम वाले दो उपयोग होते हैं। उसमें से सकलादेश—संपूर्ण को कहने वाला स्याद्वाद है और विकल—एकदेश को कहने वाला नय है।।१२।।

तात्पर्यवृत्ति—श्रुत—आप्तवचनरूप आगम के दो उपयोग व्यापार हैं। वर्णपदवाक्यात्मक द्रव्यरूप का श्रवण करना श्रुत है अथवा भावश्रुत का श्रवण श्रुत है ऐसा श्रुत शब्द का निरुक्ति अर्थ है। श्रुत के दो व्यापार कौन से हैं ? स्याद्वाद और नय हैं।

(स्याद्वाद का व्यापार)

स्यात्—कथंचित् प्रतिपक्ष की अपेक्षा से जो कथन होता है वह [२]स्याद्वाद कहलाता है। नयनं—वस्तु के विवक्षित धर्म को प्राप्त कराने वाला नय[३] है। अब इन दोनों के लक्षण को कहते हुए पहले स्याद्वाद को कहते हैं—

वह स्याद्वाद सकलादेशी है—सकल—अनेक धर्मात्मक वस्तु को आदेश कहना सकलादेश है। जैसे—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह अर्थ हैं। उनमें से ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य इन असाधारण धर्मों से, सर्वत्र प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, धर्मित्व, गुणित्व आदि साधारण धर्मों से तथा अमूर्तत्व, सूक्ष्मत्व, असंख्यात प्रदेशत्व आदि साधारणासाधारण धर्मों से अनेकांतात्मक—अनेकों धर्म वाला जीव है। पुनः पुद्गल, स्पर्श, रस, गंध और वर्ण इन असाधारण धर्मों से, सत्त्व आदि साधारण धर्मों से तथा अचेतनत्त्व, मूर्तत्त्व आदि साधारणासाधारण धर्मों से अनेकांतात्मक है। धर्मद्रव्य गतिहेतुरूप असाधारण धर्म से, सत्त्व आदि साधारण धर्मों से और अचेतनत्व आदि उभयरूप धर्मों से अनेकांतात्मक है। अधर्मद्रव्य

---

१. अमूर्त। २. 'स्यात्कथंचित् प्रतिपक्षापेक्षया वचनं स्याद्वादः'। ३. नयनं वस्तुनो विवक्षित धर्मप्रापणं नयः।

मूर्तत्वादिभिश्च साधारणासाधारणैरधर्मोऽनेकांतात्मकः। अवगाहनेनासाधारणेन सत्त्वादिभिः साधारणैर-मूर्तत्वादि-भिर्द्वयैरप्याकाशमनेकांतात्मकं। वर्तनयाऽसाधारण्या सत्त्वादिभिः साधारणैरमूर्तत्वादिभिः साधारणासाधारणैश्च कालोऽनेकांतात्मकः। उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदिति वा प्रतिपादनं। पुनर्नयो भवति। का विकलसंकथा। विकलस्य विवक्षितैकधर्मस्य सम्यक्प्रतिपक्षापेक्षया कथा प्रतिपादनं, यथा जीवो ज्ञातैव द्रष्टव्य इत्यादि। ननु ज्ञातुरभिप्रायो नय इत्युक्तं प्राक् इदानीं पुनर्वचनात्मको नयः किमित्युच्यते इति चेत् उपचारान्नय-हेतोर्वचनस्यापि नयत्वाविरोधात्। श्रुतज्ञानस्य हेतोर्वचनस्य श्रुतव्यपदेशवचनवत्। तथाहि स्याज्जीव एव ज्ञानाद्यनेकांत इति प्रमाणवाक्यं। स्यादस्त्येव जीव इति नयवाक्यं च सप्तभंग्या प्रतिष्ठितं। स्यादस्त्येव जीवः स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावविवक्षया। स्यान्नास्त्येव जीवः परद्रव्यक्षेत्रकालभावविवक्षया। स्यादस्तिनास्त्येव जीवः स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावक्रमविवक्षया। स्यादवक्तव्य एव जीवः युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्र-कालभावविवक्षया। स्यादस्त्यवक्तव्य एव जीवः स्वद्रव्यादिविवक्षया सह युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकाल-भावविवक्षया। स्यान्नास्त्यवक्तव्य एव जीवः परद्रव्यादिविवक्षया सह युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावविवक्षया।

स्थिति हेतुरूप असाधारण धर्म से, अस्तित्व आदि साधारण धर्मों से और अमूर्तत्व आदि साधारणासाधारण धर्मों से अनेकांतात्मक है। अवगाहनरूप असाधारण धर्म से, अस्तित्व आदि साधारण धर्मों से और अमूर्तत्वादि उभयरूप धर्मों से भी आकाश द्रव्य अनेकांतात्मक है। वर्तनालक्षण असाधारण धर्म से, अस्तित्व आदि साधारण धर्मों से और अमूर्तत्वादि साधारणासाधारण धर्मों से कालद्रव्य अनेकांतात्मक है अथवा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों से युक्त सत् होता है, स्याद्वाद ऐसा प्रतिपादन करता है।

(नय का व्यापार)

एक धर्म का सम्यक् कथन करना नय है। विकल—विवक्षित एक धर्म का सं—सम्यक् प्रकार से—प्रतिपक्ष की अपेक्षा से कथा—प्रतिपादन करना नय है, जैसे जीव ज्ञाता ही है, ऐसा देखना चाहिए इत्यादि।

प्रश्न—पहले आपने कहा है कि ज्ञाता का अभिप्राय नय है, पुनः इस समय 'वचनात्मक नय हैं' ऐसा आप कह रहे हैं, सो क्या बात है ?

उत्तर—उपचार से नय के हेतुभूत वचन को भी नयपना विरुद्ध नहीं है, जैसे कि श्रुतज्ञान के हेतुभूत वचन को श्रुत, ऐसा नाम कह देते हैं।

उसी का स्पष्टीकरण करते हैं—

कथंचित् जीव ही ज्ञानादि अनेक धर्मात्मक है, यह प्रमाणवाक्य है। कथंचित् अस्ति ही जीव है वह नय वाक्य है और यह सप्तभंगी से प्रतिष्ठित है।

स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की विवक्षा से जीव कथंचित् अस्ति रूप ही है। परद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की विवक्षा से जीव कथंचित् अस्ति रूप ही है। स्वपर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की क्रम से विवक्षा होने से कथंचित् जीव अस्तिनास्तिरूप ही है। युगपत् स्व और पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की विवक्षा से जीव कथंचित् अवक्तव्य ही है। स्वद्रव्यादि चतुष्टय की विवक्षा के साथ युगपत् स्वपर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की विवक्षा से जीव कथंचित् अस्तिअवक्तव्य ही है। परद्रव्यादि विवक्षा के साथ युगपत् स्वपर द्रव्य, क्षेत्र, काल,भाव की विवक्षा से जीव कथंचित् नास्ति अवक्तव्य है। क्रम से स्वपर द्रव्यादि की विवक्षा के साथ

स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्य एव जीवः क्रमेण स्वपरद्रव्यादिविवक्षया सह युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावविवक्षयेति दृष्टेष्टाविरोधेन विधिप्रतिषेधद्वारेण सप्तभंगीकल्पनायाः सर्वत्र संभवात्। एवमेकानेकनित्यानित्यभेदाभेदादावपि योज्यं।।

ननु सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग इत्यादिवाक्येषु शास्त्रे लोके वा स्यात्कारः किमिति न प्रयुज्यते यतोऽनेकांतः सर्वत्र वाक्यार्थः स्यादित्याक्षेपे इदमाह—

[1]अप्रयुक्तेऽपि सर्वत्र स्यात्कारोऽर्थात्प्रतीयते।।
विधौ निषेधेऽप्यन्यत्र कुशलश्चेत्प्रयोजकः।।१३।।

प्रतीयतेऽधिगम्यते। कः स्यात्कारः स्यादिति पदमव्ययं। क्व सर्वत्र शास्त्रे लोके वा। कस्मिन्विषये विधौ सत्त्वादौ साध्ये। न केवलं विधौ किंतु निषेधेऽपि असत्त्वादावपि साध्ये। अन्यत्रापि अन्यस्मिन्ननुवादातिदेशादावपि। किंविशिष्टोऽपि अप्रयुक्तोऽपि स्यादस्ति जीव इत्यनुक्तोऽपि। तर्हि कुतः प्रतीयते इति चेदाह—अर्थात् सामर्थ्यात्।

युगपत् स्वपर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की विवक्षा से जीव कथंचित् अस्ति-नास्ति अवक्तव्य ही है।

इस प्रकार से प्रत्यक्ष और अनुमान के अविरोध रूप से विधि-प्रतिषेध के द्वारा सर्वत्र सप्तभंगी कल्पना संभव है। इसी प्रकार से एक-अनेक, नित्य-अनित्य और भेद-अभेद आदि में भी सप्तभंगी को लगा लेना चाहिए।

विशेषार्थ— यहाँ पर आगम के दो व्यापार बताये हैं—एक तो स्याद्वाद—प्रमाण, दूसरा नय। प्रत्येक वस्तु को अनेक धर्मात्मक ग्रहण करने वाला स्याद्वाद नाम वाला प्रमाण वाक्य है और प्रत्येक वस्तु के विवक्षित किसी एक धर्म को उसके विरोधी धर्म की अपेक्षा के साथ ग्रहण करने वाला नय वाक्य है। जैसे जीव को अस्तित्व आदि साधारण धर्मों से, चेतनत्व आदि असाधारण धर्मों से और उभयात्मक धर्मों से सहित अनेक धर्म वाला कहना। यह प्रमाण वचन है। उसके अस्ति धर्म को स्वद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से कहते हुए भी उसके प्रतिपक्षी नास्ति धर्म का निषेध नहीं करना किन्तु गौण करना यह सुनय का काम है। यदि नास्ति धर्म का निषेध करके यह दुराग्रह रूप एकांत से जीव को अस्तिरूप ही कहे तब यह दुर्नय हो जाता है। यह नयवाक्य सप्तभंगी से युक्त होता है। (ऐसा समझना)।

उत्थानिका— 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इत्यादि वाक्यों में, शास्त्र में अथवा लोक में स्यात्कार का प्रयोग क्यों नहीं किया गया है कि जिससे सर्वत्र वाक्य का अर्थ अनेकांत होवे ? इस प्रकार का आक्षेप होने पर आचार्य कहते हैं—

अन्वयार्थ— (चेत् प्रयोजकः कुशलः) यदि प्रयोगकर्ता कुशल है, तो (सर्वत्र) सभी जगह (विधौ निषेधे अपि) विधिवाक्य और निषेधवाक्य में भी (अन्यत्र) अन्य किसी में भी (अर्थात्) सामर्थ्य से (स्यात्कारः) स्यात्कार (अप्रयुक्ते अपि) बिना प्रयोग करने पर भी (प्रतीयते) प्रतीत हो जाता है।।१३।।

अर्थ— यदि प्रयोजक कुशल है तो सर्वत्र विधिवाक्य में या निषेधवाक्य में भी अथवा अन्य प्रयोग नहीं करने पर भी स्यात्कार शब्द अर्थ से प्रतीति में आ जाता है।।१३।।

तात्पर्यवृत्ति— स्यात् यह पद अव्यय रूप है, ऐसा यह स्यात्कारपद सर्वत्र—शास्त्र में अथवा लोक में विधि को—अस्तित्व आदि को साध्य करने में प्रतीति में आता है—जाना जाता है। केवल विधि में ही नहीं किन्तु निषेध में भी—असत्त्व आदि को साध्य करने पर भी यह स्यात्कार प्रतीति में आता है। अन्यत्र भी—अन्य अनुवाद के अतिदेश आदि में भी यह प्रतीत होता है।

---

१. अप्रयुक्तोऽपि, न्यायकुमुद.।

तथाहि सम्यग्दर्शनादित्रयात्मकत्वे मार्गस्य कथमेकत्वमेकत्वे वा कथं त्रित्वमिति विरोधस्य कथंचिदित्येव परिहारो न सर्वथेति। द्रव्यपर्यायापेक्षया मार्गस्यैकानेकत्वाविरोधात्। तत कथंचिदित्यर्थसामर्थ्यात्। तद्वाचकः स्यात्कारोऽप्रयुक्तोऽपि प्रतीयत एव। चेद्यदि। कुशलः स्यात् व्यवहारे प्रबुद्धः स्यात्। कः प्रयोजकः प्रतिपादकः। तथा एवकारोऽपि प्रतीयते। तत एव रत्नत्रयात्मक एव मोक्षमार्ग इत्यवधारणाभावे सम्यग्दर्शनमेव मार्गः प्रसज्येत, अन्यदेव वा द्वयमेव वेत्यतिप्रसंगस्य दुर्निवारत्वात्। न चैवमसाधारणस्वरूपस्यैव लक्षणत्वात्। नन्वेवमप्रयुक्तयोरपि स्यात्कारैवकारयोरर्थतः प्रतीतौ क्वचित्किमिति कैश्चित्प्रयुज्येते इति चेन्न। प्रतिपाद्याशय-वशात्तत्प्रयोगोपपत्तेः।।

ननु वर्णपदवाक्यात्मकस्य शब्दस्य विवक्षाविषयत्वाकथमर्थात्स्यात्कारः प्रतीयत इत्याशंक्याह—

वर्णाः पदानि वाक्यानि प्राहुरर्थानवांछितान्।।
वांछिताँश्च क्वचिन्नेति प्रसिद्धिरियमीदृशी।।१४।।

किस प्रकार का होता हुआ ? अप्रयुक्त भी 'स्यात् अस्ति जीवः' ऐसा कथन नहीं करने पर भी यह स्यात्कार अर्थ—सामर्थ्य से (अर्थापत्ति से) प्रतीत हो जाता है। उसी का स्पष्टीकरण—

मोक्षमार्ग को सम्यग्दर्शन आदि त्रयात्मक कहने पर उसमें एकत्व कैसे है ? अथवा एकत्व मानने पर तीनपना कैसे है ? इस प्रकार के विरोध में कथंचित् इस प्रकार से ही परिहार होता है किन्तु सर्वथा से नहीं। क्योंकि द्रव्य और पर्याय की अपेक्षा से मार्ग में एकत्व और अनेकत्व का विरोध नहीं है इसलिए 'कथंचित्' इस अर्थ की सामर्थ्य से उसका वाचक स्यात्कार प्रयुक्त न होते हुए भी प्रतीति में आता ही है। यदि प्रयोजक—प्रतिपादन करने वाला व्यक्ति कुशल है—व्यवहार में जानकार है, तो ऐसी बात है।

उसी प्रकार से एवकार भी प्रतीति में आता है। उसी हेतु से रत्नत्रय ही मोक्षमार्ग है, इस प्रकार के अवधारण के अभाव में सम्यग्दर्शन ही मार्ग हो जावेगा अथवा अन्य ही कोई अर्थात् ज्ञान ही या चारित्र ही मार्ग हो जावेगा, अथवा कोई भी दो ही मार्ग हो जावेंगे, इस प्रकार से अतिप्रसंग दोष दुर्निवार हो जावेगा अर्थात् एवकार का प्रयोग न होने पर भी सामर्थ्य से एवकार का अर्थ लेना चाहिए अन्यथा कुछ भी अर्थ हो जावेगा किन्तु ऐसी बात तो है नहीं क्योंकि असाधारण स्वरूप को ही लक्षण कहते हैं।

प्रश्न—इस प्रकार बिना प्रयुक्त भी यदि स्यात्कार और एवकार की सामर्थ्य से प्रतीति हो जाती है तब तो कोई भी कहीं पर इनको क्यों प्रयुक्त करते हैं ?

उत्तर—ऐसा नहीं कहना, क्योंकि प्रतिपाद्य—शिष्य के अभिप्राय के निमित्त से उनका प्रयोग होता है।

भावार्थ—आचार्यों का यह स्पष्ट कहना है कि यद्यपि स्थल-स्थल पर वाक्य-वाक्य में स्यात्कार का प्रयोग नहीं होता है फिर अर्थापत्ति से लगा लेना चाहिए। जैसे किसी ने कहा जीव शुद्ध है तो समझ लेना चाहिए कि कथंचित् अशुद्ध भी है। ऐसे ही एवकार के विषय में भी प्रयुक्त न होने पर भी यथोचित् उसका भी अर्थ लेना चाहिए और जहाँ-जहाँ पर इनका स्पष्ट प्रयोग है वहाँ पर शिष्यों के अभिप्राय से आचार्यों ने प्रयोग कर दिया है।

उत्थानिका—वर्ण, पद और वाक्यात्मक शब्द विवक्षा के विषय हैं, पुनः स्यात्कार अर्थापत्ति से कैसे प्रतीति का विषय होगा ? ऐसी आशंका होने पर आचार्य कहते हैं—

अन्वयार्थ—(वर्णाः पदानि वाक्यानि) वर्ण, पद और वाक्य ये (अवांछितां वांछितान् च) अविवक्षित और विवक्षित (अर्थान् प्रादुः) अर्थों को कहते हैं और (क्वचित् ना इति) कहीं पर नहीं भी कहते हैं, (ईदृशी

स्वेच्छया तामतिक्रम्य वदतामेव युज्यते।।
वक्त्रभिप्रेतमात्रस्य सूचकं वचनं न्विति।।१५।।

प्राहुरभिदधति। के वर्णाः अक्षराणि गकारादीनि। तथा पदानि गवादीनि। तथा वाक्यानि च गामानयेत्यादीनि। कान् अर्थान् अभिधेयान्। किंविशिष्टान् अवांछितान् अविवक्षितान् भूम्यादीन्। वांछिताँश्च विवक्षितानपि सास्नादिमदादीन्। क्वचिन्मंदबुद्धिषु प्रतिपाद्येषु। न प्राहुस्तेषां ततोऽर्थाधिगमाभावात्। इत्येवंप्रकारा इयं सर्वजनप्रतीता प्रसिद्धि रूढिः। ईदृशी विचित्रा व्यवहारिभिरभ्युपगंतव्या तथैवार्थक्रियोपपत्तेः। तत्र वर्णाः स्वरव्यंजनरूपाश्चतुःषष्टिः। वर्णानां परस्परापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायः पदं अव्ययानव्ययभेदभिन्नं। तत्रानव्ययं द्विधा सुबंतं तिङंतं चेति। अव्ययमनेकधा तसादिभेदात्। पदानां परस्परापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायो वाक्यं। तत्त्रेधा क्रियाप्रधानं कारकप्रधानमुभयात्मकं चेति। तां प्रसिद्धिमतिक्रम्यैव उल्लंघ्यैव। स्वेच्छया स्वैरभावेन। वदतां कथयतां सौगतानां। युज्यते युक्तं भवतीति अधिक्षेपवचनं। कथं शब्दः सूचकं वाचकं। कस्य [1]वक्त्रभिप्रेतमात्रस्य वक्तुः प्रयोजकस्याभिप्रेतमभिप्रायो विवक्षा तावन्मात्रस्यैव न बहिरर्थस्येति। नु-अहो आश्चर्यमित्याक्षेपो गम्यते। सामान्यविशेषात्मनो बहिरर्थस्य शब्दप्रयोगात्प्रतीतेस्तस्यैव तदर्थत्वात्। अभिप्रायस्य ततः स्वप्नेऽप्यप्रतीतेः। यतो यत्र विषये प्रतीतिप्रवृत्तिप्राप्तयः समनुभूयंते स तस्यार्थ इति न्यायात्।।

इयं प्रसिद्धिः) ऐसी यह प्रसिद्धि है (तो अतिक्रम्य एव) इस प्रसिद्धि को उल्लंघन करके ही (स्वेच्छया वदतां) स्वेच्छा से कहने वालों को (युज्यते) क्या यह युक्त है ? कि (वचनं) वचन (वक्त्रभिप्रेतमात्रस्य) वक्ता के अभिप्रायमात्र के (सूचकं) सूचक हैं (नु इति) अहो ! इस प्रकार तो बड़ा आश्चर्य है।।१४-१५।।

अर्थ — वर्ण, पद और वाक्य ये अवांछित — अविवक्षित और वांछित — विवक्षित भी अर्थों को कहते हैं और कहीं पर नहीं कहते हैं, इस प्रकार की यह प्रसिद्धि है। इस प्रसिद्धि का उल्लंघन करके स्वेच्छावृत्ति से ही कहने वालों को क्या यह कहना युक्त है कि वचन वक्ता के अभिप्रायमात्र को ही कहते हैं ? अहो ! बड़े आश्चर्य की बात है।।१४-१५।।

तात्पर्यवृत्ति — गकार आदि अक्षर वर्ण हैं तथा गौ आदि शब्द पद कहलाते हैं और 'गाय को लावो' इत्यादि वाक्य संज्ञक हैं, ये अवांक्षित — अविवक्षित भूमि आदि को वांछित — विवक्षित सास्नादिमान् आदि अर्थ को — वाच्य को कहते हैं। किन्हीं मंदबुद्धि वाले शिष्यों में नहीं भी कहते हैं क्योंकि उनको इनसे अर्थ का बोध नहीं होता है, इस प्रकार से सर्वजन प्रतीति प्रसिद्ध है, ईदृशी — ऐसी विचित्र रूढ़ि को व्यवहारीजन स्वीकार करते हैं क्योंकि उसी प्रकार से ही अर्थक्रिया हो सकती है।

उनमें वर्ण, स्वर और व्यंजनरूप से चौंसठ हैं। परस्पर में सापेक्ष वर्गों का निरपेक्ष समुदाय पद कहलाता है, उसके अव्यय और अव्ययरहित की अपेक्षा से दो भेद हैं। उनमें भी अव्ययरहित के सुबंत और तिङंत की अपेक्षा से दो भेद हैं और तस्, आदि के भेद से अव्यय अनेक प्रकार का है। परस्पर सापेक्ष पदों का जो निरपेक्ष समुदाय है वह वाक्य है। उसके भी क्रिया प्रधान, कारक प्रधान और उभयात्मक ऐसे तीन भेद हैं।

इस प्रसिद्धि का अतिक्रमण करके ही — उल्लंघन करके ही स्वैर भाव से कहने वाले सौगतों को क्या यह कहना युक्त है कि शब्द वक्ता के अभिप्राय मात्र के सूचक हैं अर्थात् प्रयोजक की विवक्षा मात्र को ही कहने वाले हैं किन्तु बाह्य अर्थ को नहीं। नु — अहो ! यह बड़े आश्चर्य की बात है। इस कथन से यहाँ पर आक्षेप सूचित हो रहा है क्योंकि सामान्य विशेषात्मक बाह्य पदार्थों की शब्द के प्रयोग से प्रतीति होती है, वे

---

१. वक्तृ-अभि.....

अथेदानीं नयभेदानाह—

श्रुतभेदा नयाः सप्त नैगमादिप्रभेदतः।।
द्रव्यपर्यायमूलास्ते द्रव्यमेकान्वयानुगं।।१६।।
निश्चयात्मकमन्योऽपि व्यतिरेकपृथक्त्वगः।।
निश्चयव्यवहारौ तु द्रव्यपर्यायमाश्रितौ।।१७।।

ते प्रागुक्तलक्षणा नया भवंति। के ते श्रुतस्य सकलादेशस्यागमस्य भेदा विकल्पा विकलादेशाः। कति सप्त। कुतः नैगमादिप्रभेदतः। नैगम आदिर्येषां संग्रहादीनां ते नैगमादयस्ते च ते प्रभेदाश्च विशेषास्तानाश्रित्य। किं. विशिष्टाः द्रव्यपर्यायमूलाः द्रव्यं च पर्यायश्च द्रव्यपर्यायौ मूले विषयौ येषां ते तथोक्ताः। तत्र द्रव्यस्य स्वरूपमाह—द्रव्यं सामान्यं भवति। किंविशिष्टं एकान्वयानुगं एकं चान्वयश्च एकान्वयौ तावनुगच्छति व्याप्नोतीत्येकान्वयानुगं तत्रैकानुगमर्थतासामान्यं पूर्वापरपर्यायव्यापकं सदृशपरिणामलक्षणं

शब्द ही उस अर्थ को कहते हैं। उस शब्द से स्वप्न में भी अभिप्राय की प्रतीति नहीं होती है। जिससे जिस विषय में प्रतीति, प्रवृत्ति और प्राप्ति का होना सम्यक् प्रकार से अनुभव में आता है, वह उसका अर्थ है, यह न्याय है।

भावार्थ—बौद्ध का कहना है कि शब्द बोलने वाले के अभिप्राय मात्र को ही कहते हैं न कि पदार्थों को। इस पर आचार्य आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहते हैं कि जैसा कि लोकव्यवहार में अनुभव आ रहा है कि शब्द अपने वाच्य अर्थ को कहते भी हैं, पुनः प्रतीति के विरुद्ध कथन करना कहाँ तक उचित है ?

उत्थानिका—अब नय के भेदों को कहते हैं—

अन्वयार्थ—(श्रुतभेदाः नयाः) श्रुतज्ञान के भेद नय हैं, वे (नैगमादिप्रभेदतः) नैगम आदि के भेद से (सप्त) सात हैं, (ते द्रव्य पर्याय मूलाः) वे द्रव्य और पर्यायमूलक हैं। (एकं अन्वयानुगं द्रव्यं) एक और अन्वय का अनुसरण करने वाला द्रव्य है, (निश्चयात्मकं) वह निश्चय स्वरूप है और (अन्यः अपि) अन्य पर्याय भी (व्यतिरेक पृथक्त्वगः) व्यतिरेक तथा पृथक्त्व का अनुसरण करने वाली है। (निश्चय व्यवहारौ तु) निश्चय और व्यवहार तो (द्रव्यपर्यायमाश्रितौ) द्रव्य और पर्याय का आश्रय लेने वाले हैं।।१६-१७।।

अर्थ—श्रुत के भेद नय हैं और ये नैगम, संग्रह आदि के प्रभेद से सात होते हैं। वे नय द्रव्य और पर्यायमूलक हैं। एक और अन्वय का अनुसरण करने वाला द्रव्य कहलाता है, वह निश्चयात्मक है और पर्याय भी व्यतिरेक तथा पृथक्त्व का अनुसरण करती है। द्रव्य का आश्रय करने वाला निश्चयनय है और पर्याय को आश्रय करने वाला व्यवहारनय है। ऐसे निश्चय और व्यवहार ये दो भी भेद होते हैं।।१६-१७।।

तात्पर्यवृत्ति—वे पूर्वोक्त लक्षण वाले नय होते हैं, वे श्रुत—सकलादेशरूप आगम के भेदरूप हैं इसलिए वे विकलादेश कहलाते हैं। वे नैगम, संग्रह अदि प्रभेदों का आश्रय लेकर सात हो जाते हैं। वे द्रव्य और पर्याय को विषय करने वाले होने से द्रव्य पर्यायमूलक हैं।

(द्रव्य का स्वरूप)

द्रव्य सामान्य होता है, वह एक और अन्वय को अनुसरण करता है अर्थात् व्याप्त करता है। उसमें—अर्थता सामान्य पूर्वापर पर्याय में व्यापक है वह एकनुग—एक का अनुसरण करने वाला है और सदृश

तिर्यक्सामान्यमन्वयानुगं। पुनः किंविशिष्टं निश्चयात्मकं निर्गतश्च यः पर्यायांतरसंकरो यस्मादसौ निश्चयः पर्यायः स आत्मा यस्य तत्तथोक्तं। अपि पुनरन्यः पर्यायो विशेषो भवति। किंविशिष्टः व्यतिरेकपृथक्त्वगः। व्यतिरेकश्च पृथक्त्वं च ते गच्छति तादात्म्येन परिणमतीति स तथोक्तः। तत्र व्यतिरेकः एकस्मिन्द्रव्ये क्रमभाविपर्यायः। पृथक्त्वगः पुनरर्थांतरगतो विसदृशपरिणामः। ननु निश्चयव्यवहारौ नयौ शास्त्रांतरे प्रतिपादितौ तयोः किमालंबनमित्याशंक्याह—तु पुनर्निश्चयव्यवहारौ मूलनयौ आश्रितौ आलंबितवंतौ। किं द्रव्यपर्यायं। द्रव्यं च पर्यायश्च तयोः समाहारद्वंद्वे एकत्वनप्त्वे। द्रव्यं श्रितो निश्चयनयो द्रव्यार्थिक इत्यर्थः। पर्यायाश्रितो व्यवहारनयः पर्यायार्थिक इत्यर्थः।।

अथ नैगमादीन् प्रागुक्तानपि मंदमतिशिष्यानुग्रहार्थं पुनर्वक्तुकामस्तावन्नैगमतदाभासौ निरूपयति—

गुणप्रधानभावेन धर्मयोरेकधर्मिणि ।।
विवक्षा नैगमोऽत्यंतभेदोक्तिः स्यात्तदाकृतिः।।१८।।

स्यात्। कः नैगमो नयः। का विवक्षा अभिप्रायः। कयोः धर्मयोः एकत्वानेकत्वयोः। केन गुणप्रधानभावेन

परिणाम लक्षण जो तिर्यक् सामान्य है वह अन्वयानुंग—अन्वय का अनुसरण करता है पुनः वह द्रव्य निश्चयात्मक है—निकल गया है पर्यायांतर का संकर जिससे, ऐसा जो निश्चय-पर्याय, वह जिसके स्वरूप हैं वैसा है अर्थात् पर्यायांतर के मिश्रण से रहित पर्याय स्वरूप है।

और पुनः अन्य पर्याय को विशेष कहते हैं, वह पर्याय व्यतिरेक और पृथक्त्व का अनुसरण करने वाला है, व्यतिरेक और पृथक्त्व को जो प्राप्त करता है, तादात्म्य रूप से परिणत होता है वह वैसा कहलाता है। उसमें एक द्रव्य में क्रम से होने वाली पर्याय को व्यतिरेक कहते हैं और अर्थांतरगत विसदृश परिणाम पृथक्त्व का अनुसरण करने वाला है।

प्रश्न—अन्य शास्त्रों में निश्चय और व्यवहार नयों को प्रतिपादन किया गया है, उनका क्या आलंबन—विषय है ?

उत्तर—वे निश्चय और व्यवहार मूलनय हैं, वे द्रव्य और पर्याय का आलंबन लेते हैं अर्थात् निश्चयनय द्रव्य को विषय करता है और व्यवहारनय पर्याय को विषय करता है। द्रव्य का आश्रय लेने वाला निश्चयनय द्रव्यार्थिक कहलाता है तथा पर्यायाश्रित व्यवहारनय पर्यायार्थिक कहलाता है ऐसा अर्थ हुआ है। यहाँ कारिका में द्रव्यपर्यायं ऐसा पद है 'उसमें' 'द्रव्यं च पर्यायश्च तयोः समाहारः' ऐसा समाहार द्वंद्व समास करने पर नपुंसकलिंग और एकवचन हो जाता है। ऐसा व्याकरण शास्त्र का नियम है।

उत्थानिका—अब पहले कहे गये भी नैगम आदि नयों को मंदमति वाले शिष्यों के अनुग्रह के लिए पुनः कहने की इच्छा रखते हुए पहले नैगम और नैगमाभास का निरूपण करते हैं—

अन्वयार्थ—(धर्मयोः) एकत्व-अनेकत्वरूप दो धर्मों को (गुण प्रधान भावेन) गौण तथा प्रधानभाव से (एकधर्मिणि) एक धर्मी में (विवक्षा) कहने की इच्छा (नैगमः) नैगमनय है और (अत्यंतभेदोक्तिः) दोनों धर्मों में अत्यंत भेद का कथन करना (तदाकृतिः स्यात्) नैगमाभास होता है।।१८।।

अर्थ—एकत्व अनेकत्व रूप दो धर्मों को गौण, प्रधान भाव से एकधर्मी में कहने की इच्छा नैगमनय है और दोनों धर्मों में अत्यंत भेद का कथन करना तदाभास कहलाता है।।१८।।

तात्पर्यवृत्ति—एकत्व और अनेकत्व ऐसे दो धर्मों को गौण और प्रधान भाव से अर्थात् मुख्य और

गुणश्च प्रधानं च तयोर्भावो मुख्यामुख्यता तेन। क्व एकधर्मिणि एकोऽभिन्नो धर्मी द्रव्यं तस्मिन्। तदाकृतिः तस्य नैगमस्याकृतिराभासः स्यात्। का अत्यंतभेदोक्तिः अत्यंतो निरपेक्षो भेदो नानात्वं तस्योक्तिर्वचनं नैयायिकाद्यभिप्रायो नैगमाभास इत्यर्थः।

अथ संग्रहतदाभासावाह —

सदभेदात्समस्तैक्यसंग्रहात्संग्रहो नयः।
दुर्नयो ब्रह्मवादः स्यात्तत्स्वरूपानवाप्तितः।।१९।

स्यात्कः संग्रहो नयः। कस्मात्समस्तैक्यसंग्रहात् समस्तस्य जीवाजीवविशेषस्यैक्येन एकत्वेन संग्रहात् संक्षिप्य ग्रहणात्। कथमनेकस्य संक्षेपणमित्याशंक्याह — सदभेदात्। सत् सत्वसामान्यं तच्चासावभेदश्च तमाश्रित्य। न हि सत्वात् किंचिद्भिन्नमस्तीति वक्तुं युक्तं विरोधात्। दुर्नय संग्रहाभासः। स्यात्। कः ब्रह्मवादः सत्ताद्वैतं। कुतः तत्स्वरूपानवाप्तितः। तस्य परपरिकल्पितब्रह्मणः स्वरूपं भेद प्रपंचशून्यं सन्मात्रं तस्यानवाप्तिः प्रमाणाद-प्राप्तिस्ततः। न खलु प्रत्यक्षादिप्रमाणात् प्राप्यते तथाऽप्रतीतेः।।

अथ व्यवहारनयं निरूपयति —

अमुख्य भाव से एक–अभिन्न, धर्मी–द्रव्य में। कहने का जो अभिप्राय है वह नैगमनय है और अत्यंत रूप से भेद का कथन करना, अत्यंत — निरपेक्षरूप से नानात्व का जो कथन है, ऐसा जो नैयायिक आदि जनों का अभिप्राय नैगमाभास कहलाता है, यहाँ वह अर्थ हुआ है।

उत्थानिका — अब संग्रहनय और संग्रहाभास को कहते हैं —

अन्वयार्थ — (सद्भेदात्) सत् सामान्य के अभेद से (समस्तैक्यसंग्रहात्) समस्त को एकरूप से संग्रह करने से (संग्रहः नयः) संग्रह नय होता है और (ब्रह्मवादः दुर्नयः) ब्रह्माद्वैतवाद दुर्नय — संग्रहाभास (स्यात्) है (तत्स्वरूपानवाप्तितः) क्योंकि वह ब्रह्म के स्वरूप को प्राप्त करने वाला नहीं है।।१९।।

अर्थ — सत्सामान्य के अभेद से समस्त को ऐक्यरूप से संग्रह करने वाला संग्रहनय है और उसके ब्रह्म के स्वरूप को नहीं प्राप्त करने से जो ब्रह्मवाद है वह दुर्नय कहलाता है।।१९।।

तात्पर्यवृत्ति — समस्त — जीव–अजीव विशेष को एकरूप से संग्रह करने वाला — संक्षिप्तरूप से ग्रहण करने से संग्रहनय होता है।

प्रश्न — अनेक को संक्षेप से कैसे ग्रहण करता है ?

उत्तर — सत् अभेद से अर्थात् सत् सामान्यरूप जो अभेद है उसका आश्रय करके ग्रहण करता है। 'सत्त्व से भिन्न किंचित् भी वस्तु है' ऐसा कहना शक्य नहीं है क्योंकि विरोध आता है अर्थात् जिसका अस्तित्व ही नहीं है उसको 'यह है' ऐसा कैसे कह सकते हैं ?

दुर्नय संग्रहाभास है, वह कौन है ? वह ब्रह्मवाद अर्थात् सत्ताद्वैत है। क्यों ? उसके स्वरूप को नहीं प्राप्त करने से अर्थात् उस पर परिकल्पित ब्रह्म का स्वरूप भेद के प्रपंचों से शून्य है और सत्तामात्र है उसकी अप्राप्ति होने से, प्रमाण से प्राप्ति न होने से वह दुर्नय है। वह वास्तव में प्रत्यक्षादि प्रमाण से प्राप्त नहीं किया जाता है क्योंकि वैसी प्रतीति नहीं होती है।

उत्थानिका — अब व्यवहारनय का निरूपण करते हैं —

व्यवहारानुकूल्यात्तु प्रमाणानां प्रमाणता।।
नान्यथा बाध्यमानानां ज्ञानानां तत्प्रसंगतः।।२०।।

प्रमाणता अविसंवादकत्वं स्यात्। केषां प्रमाणानां प्रमाणत्वेनाभ्युपगतानां। कुतः व्यवहारानुकूल्यात्तु संग्रहभेदको व्यवहारस्तस्यानुकूल्यमविसंवादस्तस्मादेव। अन्यथा तद्विसंवादात्। प्रमाणता न स्यात्। कुतः बाध्यमानानां संशयादीनां विसंवादिनां ज्ञानानां। तत्प्रसंगतः प्रमाणताप्रसंगात्। तत्र प्रमाणेतरव्यवस्था-निबंधनत्वाद्व्यवहारो नयोऽन्यथा तदाभास इत्यर्थः।

अथ ऋजुसूत्रनयं साभासं प्ररूपयति—

भेदं प्राधान्यतोऽन्विच्छन् ऋजुसूत्रनयो मतः।।
सर्वथैकत्वविक्षेपी तदाभासस्त्वलौकिकः।।२१।।

मतः इष्टः। कः ऋजुसूत्रनयः। किं कुर्वन् अन्विच्छन् अभिप्रेयन्। कं भेदं पर्यायं। कुतः प्राधान्यतः मुख्यत्वेन। अनेन गौणत्वेन द्रव्यमप्यपेक्षत इत्यर्थः। तु पुनस्तदाभासो भवति।। किंविशिष्टः एकत्वविक्षेपी एकत्वं द्रव्यं विक्षिपति निराकरोतीत्येवंशील एकत्वविक्षेपी। कथं सर्वथा प्राधान्यतोऽप्रधान्यतश्च। पुनः किंविशिष्टः अलौकिकः लोको व्यवहारस्तत्प्रयोजनो लौकिकस्तद्विपर्ययोऽलौकिकः अलौकिकादित्यर्थः। न

अन्वयार्थ—(व्यवहारानुकूल्यात्तु) व्यवहार की अनुकूलता से ही (प्रमाणानां) ज्ञानों की (प्रमाणता) प्रमाणता है (अन्यथा न) अन्य प्रकार से नहीं है, (बाध्यमानानां) अन्यथा बाधित होने वाले (ज्ञानानां) ज्ञानों में भी (तत्प्रसंगतः) प्रमाणता का प्रसंग हो जावेगा।।२०।।

अर्थ—व्यवहार की अनुकूलता से प्रमाणों की प्रमाणता होती है अन्यथा नहीं, नहीं तो बाधित होने वाले संशय आदि ज्ञानों में भी प्रमाणता का प्रसंग आ जावेगा अर्थात् व्यवहार में विसंवाद न होने से प्रमाणता और व्यवहार में विसंवाद होने से अप्रमाणता होती है।।२०।।

तात्पर्यवृत्ति—प्रमाणपने से स्वीकृत प्रमाणों की प्रमाणता—अविसंवादकता होती है। कैसे ? व्यवहार की अनुकूलता से अर्थात् संग्रह के विषय में भेद करने वाला व्यवहार है, उसकी अनुकूलता—अविसंवाद है उससे ही प्रमाणता है अन्यथा उसमें विसंवाद होने से प्रमाणता नहीं हो सकेगी। नहीं तो बाध्यमान—बाधित होने वाले संशय आदि विसंवादी ज्ञानों में भी प्रमाणता का प्रसंग आ जावेगा अर्थात् प्रमाण और अप्रमाण की व्यवस्था का कारण होने से व्यवहारनय कहलाता है अन्यथा वह तदाभास कहलाता है, ऐसा अर्थ है।

उत्थानिका—अब ऋजुसूत्रनय और तदाभास का प्ररूपण करते हैं—

अन्वयार्थ—(प्राधान्यतः) प्रधानता से (भेदं) भेद को (अन्विच्छन्) स्वीकार करते हुए (ऋजुसूत्रनयः मतः) ऋजुसूत्रनय माना गया है और (सर्वथा) सब प्रकार से (एकत्वविक्षेपी) एकत्व का निषेध करने वाला (तु अलौकिकः तदाभासः) तो लोकव्यवहार से विरुद्ध तदाभास होता है।।२१।।

अर्थ—प्रधानता से भेद को स्वीकार करते हुए ऋजुसूत्र नय माना गया है और सर्वथा एकत्वविक्षेपी—द्रव्य का निषेधक तदाभास है, वह अलौकिक है—लोक व्यवहार से विरुद्ध है।।२१।।

तात्पर्यवृत्ति—प्रधानता से—मुख्यता से भेद को—पर्याय को विषय करते हुए ऋजुसूत्र नय कहलाता है, यह गौणरूप से द्रव्य की भी अपेक्षा रखता है, ऐसा यहाँ अर्थ है। पुनः एकत्व—द्रव्य का निराकरण करने वाला तदाभास है क्योंकि यह सर्वथा प्रधानरूप से और अप्रधानरूप से द्रव्य को ग्रहण करता है और यह अलौकिक है अर्थात् लोकव्यवहार वह प्रयोजन जिसका है वह लौकिक है, उससे विपरीत

हि परस्परं सजातीयविजातीयव्यावृत्ताः प्रतिक्षणविशरारवः परमाणवो व्यवह्रियंते परीक्षकैः यतस्तद्विषयो नयाभासो न स्यात्।

अथोक्तनयानां विशेषणं विशेषनयस्वरूपं च प्रतिपादयति—

चत्त्वारोऽर्थनया ह्येते जीवाद्यर्थव्यपाश्रयात्।।
त्रयः शब्दनयाः सत्यपदविद्यां समाश्रिताः।।२२।।

एते। के नैगमादयः प्रागुक्ताः। चत्वारोऽर्थनयाः अर्थप्रधाना नयाः। कुतः जीवाद्यर्थव्यपाश्रयात् जीवाजीवानामर्थानां व्यपाश्रयादालंबनात्। त्रयः शेषाः शब्दसमभिरूढैवंभूताः। शब्दनयाः शब्दप्रधाना नयाः। किंविशिष्टाः सत्यपदविद्यां समाश्रिताः सत्यानि प्रमाणांतराबाधितानि पदानि कालकारकादिभेदवाचीनि तेषां विद्या व्याकरणशास्त्रं तामाश्रिता आलंभिताः। व्याकरणाश्रितत्वादित्यर्थः। तत्र कालकारक-लिंगादिभेदादर्थभेदकृच्छब्दनयः। पर्यायशब्दभेदादर्थभेद-कृत्समभिरूढनयः। क्रियाशब्दोद्भेदादर्थभेदकृदेवंभूतनयः।।

अकलंकप्रभाभारद्योतितं श्रुतमर्थतः।।
प्रमानयोपयोगात्म सौरी वृत्तिः प्रबोधयेत्।।१।।

अलौकिक कहा जाता है। यह तदाभास व्यवहार का विरोधी है, ऐसा अर्थ है। परस्पर में सजातीय-विजातीय से व्यावृत्त प्रतिक्षण विसरारू—जीर्ण होने वाले परमाणु परीक्षकजनों के द्वारा व्यवहार को नहीं प्राप्त होते हैं कि जिससे उसका विषय नयाभास न हो जावे अर्थात् बौद्धों द्वारा मान्य क्षणिक परमाणु व्यवहार में नहीं दिखते हैं इसीलिए उनका ग्राहक नय ऋजुसूत्र नयाभास है।

उत्थानिका—अब उक्त नयों के विशेषण और विशेष नय स्वरूप को प्रतिपादित करते हैं—

अन्वयार्थ—(ऐते ही चत्वारः अर्थनयाः) निश्चितरूप से ये चार ही अर्थ नय हैं (जीवाद्यर्थव्यपाश्रयात्) क्योंकि जीवादि पदार्थों का आश्रय लेते हैं (त्रयः शब्दनयाः) शेष तीन शब्दनय हैं, (सत्यपदविद्यां समाश्रिताः) क्योंकि ये व्याकरण शास्त्र का आश्रय लेने वाले हैं।।२२।।

अर्थ—ये चार नय अर्थ नय हैं क्योंकि ये जीवादि पदार्थों का आश्रय लेते हैं तथा शेष तीन नय शब्दनय हैं क्योंकि ये सत्यपद विद्या—व्याकरण शास्त्र का आश्रय लेने वाले हैं।।२२।।

तात्पर्यवृत्ति—पहले कहे गये जो नैगम आदि नय हैं, उनमें से चार नय अर्थ प्रधान होने से अर्थनय कहलाते हैं क्योंकि ये जीवादि पदार्थों का आश्रय लेते हैं। शेष शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत ये तीन नय शब्द प्रधान होने से शब्दनय हैं। ये सत्यपद की विद्या के आश्रित हैं अर्थात् प्रमाणांतर से अबाधित, काल, कारक आदि भेद के वाची पद सत्यपद कहलाते हैं, उन सत्यपदों की विद्या—व्याकरण शास्त्र, उसको आश्रित करने वाले हैं वे व्याकरणशास्त्र के आश्रित हैं ऐसा अर्थ है। उनमें काल, कारक, लिंग आदि के भेद से अर्थ में भेद को करने वाला शब्दनय है। पर्यायवाची शब्दों के भेद से अर्थ में भेद को करने वाला समभिरूढ़नय है और क्रियावाची शब्द के भेद से अर्थ में भेद को करने वाला एवंभूत नय हैं।

भावार्थ—यहाँ पर सात नयों में से चार नयों का लक्षण तो कारिकाओं में कह ही दिया है अतः श्री अभयचंद्रसूरि ने शब्दादि तीन नयों का लक्षण संक्षेप से कह दिया है क्योंकि कारिका में भी श्री अकलंकदेव ने इन तीन नयों को सत्यपद की विद्यारूप शब्द शास्त्र के आश्रित कहा है।

श्लोकार्थ—अकलंक—निर्दोष प्रभा के भार से प्रकाशित श्रुत—आगम को जो कि अर्थ से

इत्यभयचंद्रसूरिकृतौ लघीयस्त्रयतात्पर्यवृत्तौ स्याद्वाद-भूषणसंज्ञायां श्रुतोपयोगपरिच्छेदः षष्ठः।।६।।

प्रमाणनय और उपयोगस्वरूप है इसको सौरीवृत्ति — श्रीअभयचंद्रसूरि की वृत्ति प्रबोधित करती है।।१।।

भावार्थ — श्रीमान् भट्टाकलंकदेव ने कारिकाओं के द्वारा जिनके स्वरूप को कहा है और श्री प्रभाचंद्राचार्य ने न्यायकुमुद टीका के द्वारा उनका विशद विवेचन किया है पुनः उन दोनों के अभिप्राय को ज्ञातकर श्री अभयचंद्रसूरि ने संक्षेप से सारभूत इस आगम के परिच्छेद में प्रमाण, नय तथा उपयोग के स्वरूप का स्पष्टीकरण किया है, ऐसा अर्थ है।

इस प्रकार श्री अभयचंद्रसूरि कृत लघीयस्त्रय की स्याद्वादभूषण नामक तात्पर्यवृत्ति में श्रुतोपयोग नाम का छठा परिच्छेद पूर्ण हुआ।

सप्तम परिच्छेद

(निक्षेप का कथन)

अथेदानीं निक्षेपस्वरूपनिरूपणपुरस्सरं शास्त्राध्ययनफलं निर्दिशति—

श्रुतादर्थमनेकांतमधिगम्याभिसंधिभिः।।
परीक्ष्य ताँस्तान् तद्धर्माननेकान् व्यावहारिकान् ।।१।
नयानुगतनिक्षेपैरुपायैर्भेदवेदने ।।
विरचय्यार्थवाक्प्रत्ययात्मभेदान् श्रुतार्पितान्।।२।।
अनुयुज्यानुयोगैश्च निर्देशादिभिदागतैः।।
द्रव्याणि जीवादीन्यात्मा विवृद्धाभिनिवेशनः।।३।।
जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानतत्त्ववित्।।
तपोनिर्जीर्णकर्माऽयं विमुक्तः सुखमृच्छति।।४।।

सप्तम परिच्छेद

उत्थानिका—अब निक्षेप के स्वरूप को निरूपण करते हुए शास्त्र अध्ययन के फल का निर्देश करते हैं—

अन्वयार्थ—(श्रुतान) श्रुत से (अनेकांत) अनेकांतात्मक (अर्थं अधिगम्य) अर्थ को जानकर (तांस्तान्) उन-उन (अनेकात् व्यावहारिकान्) अनेक व्यावहारिक (तद्धर्मान्) उस—वस्तु के धर्मों की (अभिसंधिभिः) ज्ञाता के अभिप्रायरूप नयों से (परीक्ष्य) परीक्षा करके (उपायैः) ज्ञान के लिए उपायभूत (नयानुगतनिक्षेपैः) नयों का अनुसरण करने वाले ऐसे निक्षेपों से (भेदवेदने) भेदों के जानने में (श्रुतार्पितान्) श्रुत से विकल्पित (अर्थवाक्यप्रत्यात्म भेदान्) अर्थात्मक, वचनात्मक और ज्ञानात्मक भेदों का (विरचय्य) न्यास करके—कथन करके, (आत्मा) जीव (विवृद्धाभिनिवेशनः) वृद्धि को प्राप्त हुए सम्यग्दर्शन से सहित (निर्देशादिभिदागतैः) निर्देश आदि भेदों को प्राप्त हुए ऐसे (अनुयोगैः) अनुयोगों से (जीवादीनि) जीवादिक (द्रव्याणि) द्रव्यों को (अनुयुज्य) पूछ करके (जीवस्थानगुणस्थानमार्गणा स्यात् तत्त्ववित्) जीवस्थान, गुणस्थान और मार्गणा स्थानों के द्वारा तत्त्व—जीवादिस्वरूप को जानने वाला (तपोनिर्जीर्णकर्मा) तप से कर्मों को निर्जीर्ण कर दिया है जिसने (अयं) ऐसा यह (विमुक्तः) कर्मों से मुक्त हुआ (सुखं) सुख को (ऋच्छति) प्राप्त करता है।।१-२-३-४।।

अर्थ—आगम से अनेकांत को जान करके, अभिसंधि—ज्ञाता के अभिप्रायरूप नयों से उसके अनेक, अनंत व्यवहारिक उन-उन धर्मों की परीक्षा करके, नयों का अनुसरण करने वाले ऐसे उपायभूत निक्षेपों से भेद के जानने में श्रुत से विकल्पित ऐसे अर्थात्मक, वचनात्मक और ज्ञानात्मक भेदों का न्यास करके—कथन करके, पुनः जीवादि द्रव्यों को निर्देश आदि भेदों को प्राप्त ऐसे अनुयोगों से पूछ करके आत्मा वृद्धि को प्राप्त ऐसे अभिनिवेश सम्यग्दर्शन सहित होता हुआ, जीवस्थान, गुणस्थान और मार्गणास्थान को जानने वाला तथा तप से निजीर्ण कर दिया है कर्मों को जिसने, ऐसा यह जीव विमुक्त हुआ—मुक्ति को प्राप्त हुआ सुख का अनुभव करता है।।१-२-३-४।।

ऋच्छति प्राप्नोति। कः अयं प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्ध आत्मा। किं सुखं परमस्वास्थ्यमनंतज्ञानादिगुणरूपं। किंविशिष्टः सन् विमुक्तः सन् विशेषेणसामस्त्येन मुक्तः कर्मरहितः सन्। पुनरपि कथंभूतः तपोनिर्जीर्णकर्मा। तपसा यथाख्यातचारित्रलक्षणेन व्युपरतक्रियानिवृत्तिशुक्लध्यानेन निर्जीर्णानि निर्मूलितानि कर्माणि ज्ञानावरणादीनि द्रव्यभावरूपाणि येनासौ तथोक्तः। अनेन चारित्रतपस्याराधनाद्वयं सूचितं। भूयः किंभूतः जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानतत्त्ववित्। जीवानां स्थानानि समासाः स्थानयोन्यवगाहकुलभेदा जीवस्थानानि। गुणानां मिथ्यात्वादिपरिणामानां स्थानानि पदानि गुणस्थानि। मार्गणानां गत्यादीनामन्वेषणोपायानां स्थानानि पदानि मार्गणास्थानानि। जीवस्थानानि च गुणस्थानानि च मार्गणास्थानानि च तै प्रत्येकं चतुर्दशभेदैःतत्त्वं जीवस्वरूपं वेत्ति जानातीति तथोक्तः। अनेन ज्ञानाराधना ज्ञापिता। पुनः किंविशिष्टः विवृद्धाभिनिवेशनः। विशेषेण वृद्धं क्षायिकस्वरूपेण परिणतमभिनिवेशनं सम्यग्दर्शनं यस्यासौ तथोक्तः। अनेन दर्शनाराधना निरूपिता। एवमाराधनाचतुष्टयस्यैव मोक्षमार्गत्वोपपत्तेः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग इति वचनात्।

भावार्थ—यह आत्मा स्याद्वादरूप आगम से अनेकांत को समझ करके पुनः जीवादि द्रव्यों को नय, निक्षेप और निर्देश आदि तथा सत् संख्या आदि अनुयोगों से जानता है। तब दृढ़ सम्यक्त्वी होता हुआ जीवसमास आदि ज्ञान से सहित चारित्र के अंतर्गत तपश्चरणरूप शुक्लध्यान के द्वारा कर्मों का नाश करके मुक्त होकर अनंत सौख्य को भोगता है। इस प्रकार से यहाँ पर प्रमाण, नयादि के शास्त्रों के अध्ययन का फल बताया है।

तात्पर्यवृत्ति—यह प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध आत्मा विमुक्त होता हुआ वि—विशेष रूप से (समस्त रूप से) मुक्त—कर्मरहित होता हुआ परम स्वास्थ्यरूप अनंतज्ञानादि गुणस्वरूप सुख को प्राप्त कर लेता है। वह कैसा है आत्मा ? तप से कर्म को जिसने निर्जीण कर दिया है, तप—यथाख्यात चारित्र लक्षण वाले व्युपरतक्रियानिवृत्तिरूप चतुर्थ शुक्लध्यान से जिसने ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्म का और भावकर्म का निर्मूलन कर दिया है वह आत्मा ऐसा है। इस कथन से चारित्र और तप इन दो आराधनाओं को सूचित किया है। पुनः कैसा है ? जीवस्थान, गुणस्थान और मार्गणास्थान को जानने वाला है। समास, स्थान, योनि, अवगाहना और कुलों के भेद को जीवस्थान कहते हैं। मिथ्यात्व आदि परिणामों के स्थान—पद को गुणस्थान कहते हैं और अन्वेषण के उपायभूत गति आदि मार्गणा के स्थान को मार्गणास्थान कहते हैं। इनके प्रत्येक के चौदह-चौदह भेद हैं अर्थात् जीवसमास चौदह हैं, गुणस्थान चौदह हैं और मार्गणास्थान भी चौदह हैं, इनके भेदों से तत्त्व को—जीव के स्वरूप को जो जानता है वह तत्त्ववित् कहलाता है। इस कथन से ज्ञान की आराधना को बतलाया है।

पुनः वह आत्मा कैसा है ?

वृद्धिंगत अभिनिवेश—श्रद्धान वाला है। वि—विशेषरूप से वृद्धि को प्राप्त क्षायिक रूप से परिणत है अभिनिवेश—सम्यग्दर्शन जिसका ऐसा वह आत्मा है। इस कथन से दर्शनाराधना का निरूपण किया है। इस प्रकार से इन चार आराधनाओं से ही मोक्षमार्ग बन सकता है क्योंकि [1]सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ही मोक्षमार्ग है, ऐसा सूत्रकार का वचन है।

प्रश्न—सूत्र में रत्नत्रय को मोक्षमार्ग कहा है और आपने यहाँ पर आराधना चतुष्टय को मोक्षमार्ग प्रतिपादित किया है, इसलिए विरोध आता है ?

---

१. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः, तत्त्वार्थसूत्र-१।

ननु सूत्रे रत्नत्रयं मोक्षमार्ग उक्तः इह पुनश्चतुष्टयः प्रतिपादितस्ततो विरोध इति चेन्न। तपसश्चारित्रेंऽतर्भावात् तथा प्रतिपादनसंभवात्। चारित्रस्यैव कर्मनिर्जराहेतुत्वेन तपस्त्वप्रतिपादनात्। न खलु चारित्रातिरिक्तं तपोऽस्ति। तस्य मोक्षानंगत्वात्। बहिरंगतपसो रत्नत्रयसाधनत्वात् अंतरंगस्य तु चारित्रविशेषत्वात् च शास्त्रे तस्य न पृथग्निर्देश इति। किं कृत्वा विवृद्धाभिनिवेशनः संजात इत्याशंक्याह—अनुयुज्य पृष्ट्वा। कानि द्रव्याणि द्रवति द्रोष्यत्यदुद्रुवदिति द्रव्यं गुणपर्ययवद्‌द्रव्यमिति वा द्रव्यलक्षणक्षितानि। किंविशिष्टानि जीवादीनि जीवपुद्गल-धर्माधर्माकाशकालनामानि। कैः अनुयोगैश्च प्रश्नैरेव। चशब्दस्य एवकारार्थत्वात्। किंविशिष्टैः निर्देशादिभिदां गतैः निर्देश आदिर्येषां तानि निर्देशादीनि निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानानि। सत्संख्याक्षेत्र-स्पर्शनकालांतरभावाल्पबहुत्वानि च तेषां भिदा भेदः तां गतैः प्राप्तैः। तत्र किमित्यनुयोगे वस्तुस्वरूपकथनं निर्देशः। यथा चेतनालक्षणो जीव इति। कस्येत्यनुयोगे स्वस्येत्याधिपत्यकथनं स्वामित्वं। केनेति प्रश्ने स्वेनेति करणनिरूपणं साधनं। कस्मिन्नित्यनुयोगे स्वस्मिन्नित्याधारप्रतिपादनमधिकरणं। कियच्चिरमिति प्रश्ने अनंतकालमिति कालप्ररूपणं स्थितिः। कतिविध इत्यनुयोगे चैतन्यसामान्यादेकविध इति प्रकारकथनं विधानं। एवं व्याख्याता निर्देशादयः। मध्यमरुचिविनेयाशयवशादेतदनुयोगसंभवात्। विस्तररुचिशिष्याभिप्रायेण

उत्तर—ऐसा नहीं कहना, क्योंकि तप चारित्र में अंतर्भूत हो जाता है अतः वैसा प्रतिपादन संभव है। चारित्र ही कर्मनिर्जरा में हेतु होने से तपरूप से प्रतिपादित किया जाता है। वास्तव में चारित्र को छोड़कर तप नहीं है अन्यथा वह मोक्ष का कारण नहीं हो सकता है। बहिरंग तपश्चरण रत्नत्रय का साधन है और अंतरंग तपश्चरण तो चारित्रविशेषरूप है अतएव शास्त्र में उसका पृथक् निर्देश नहीं किया है।

प्रश्न—क्या करके विवृद्ध अभिनिवेश उत्पन्न होता है ?

उत्तर—जीवादि द्रव्यों को अनुयुक्त करके—पूछ करके उत्पन्न होता है। 'द्रवति द्रोष्यति अदुद्रुवत् इति द्रव्यं' जो द्रवित होता है—परिणत होता है, होवेगा और होता था, वह द्रव्य है अथवा गुणपर्यय वाला द्रव्य है। इस द्रव्यलक्षण से लक्षित जीव, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन नाम वाले जीवादि द्रव्य होते हैं। निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान इन छह अनुयोगों से—प्रश्नों से तथा सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अंतर, भाव और अल्पबहुत्व इन आठ भेदों को प्राप्त हुए प्रश्नों से जीवादि द्रव्यों को जानना चाहिए।

उसी का स्पष्टीकरण करते हैं—

(निर्देश आदि का लक्षण)

क्या है ? ऐसा प्रश्न होने पर वस्तु के स्वरूप का कथन करना निर्देश है, जैसे—चेतना लक्षण वाला जीव है।

किसका है ? ऐसा पूछने पर 'अपना है' इस आधिपत्य का कथन करना स्वामित्व है।

किनके द्वारा ? ऐसा प्रश्न होने पर 'अपने द्वारा' इस प्रकार से करण का निरूपण करना साधन है।

किसमें ? ऐसा प्रश्न होने पर 'अपने में' ऐसे आधार का प्रतिपादन करना अधिकरण है।

कितने काल तक ? ऐसा प्रश्न होने पर 'अनंत काल पर्यंत' ऐसे काल का प्ररूपण करना स्थिति है।

कितने प्रकार ? ऐसा प्रश्न होने पर जीव चैतन्य सामान्य से एक प्रकार का है इस प्रकार से प्रकार का कथन करना विधान है।

पुनः सदादयो व्याख्यायंते। तत्र द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषोत्पादव्ययध्रौव्यव्यापकं सदिति कथनं। सत्प्ररूपणं यथा संति जीवाः संति मिथ्यादृष्टयः संति सासादनसम्यग्दृष्टयः संति सम्यङ्मिथ्यादृष्टयः संत्यसंयतसम्यग्दृष्टयः संति देशसंयताः (सन्ति प्रमत्तसंयताः सन्त्यप्रमत्तसंयताः) संत्यपूर्वकरणसंयताः संत्यनिवृत्तिकरण-बादरसांपरायसंयताः संति सूक्ष्मसांपरायसंयताः संत्युपशांतकषायछद्मस्थवीतरागाः संति क्षीणकषाय-छद्मस्थवीतरागाः संति सयोगिकेवलिनः संत्ययोगिकेवलिनः संति सिद्धाश्च शुद्धात्मान इत्यादि। भेदगणना संख्या। यथा अनंतानंता जीवाः। मिथ्यादृष्टयोऽनंतानंता इत्यादि। वर्तमाननिवासः क्षेत्रं यथा जीवानां क्षेत्रं लोकस्यासंख्येयभागः संख्येयभागः सर्वलोकोवेत्यादि। तदेव त्रिकालगोचरं स्पर्शनं यथा सर्वलोकादि। कालो गुणस्थानायामोंऽतर्मुहूर्तादिः। विवक्षितगुणं परित्यज्य गुणांतरं प्राप्तस्य पुनस्तद्‌गुणप्राप्तिर्यावत्तावान् विरहकालोंऽतर्मुहूर्तादिः। भाव आत्मनः परिणामः औदयिकादिः। परस्परं संख्याविशेषोऽल्पबहुत्वमिति। पूर्वं कृत्वा विरचय्य न्यस्य। कान् अर्थवाक्प्रत्ययात्मभेदान्। अर्थश्च वाक्च प्रत्ययश्च ते आत्मानः स्वभावा येषां ते च ते भेदाश्च व्यवहारास्तान्। तत्रार्थात्मानौ भेदौ द्रव्यभावौ तयोरर्थधर्मत्वात्। वागात्मको नामव्यवहारः। प्रत्ययात्मकश्च स्थापनाव्यवहारः तस्य संकल्परूपत्वात्। किंविशिष्टांस्तान् श्रुतार्पितान् श्रुतेनानेकांतेन विकल्पितान्।

इस प्रकार से निर्देश आदि छह अनुयोगों का व्याख्यान किया है। मध्यम रुचि वाले शिष्यों के अभिप्राय के निमित्त से ये अनुयोग संभव होते हैं। विस्तार रुचि वाले शिष्यों के अभिप्राय से पुनः सत् आदि का व्याख्यान करते हैं।

(सत् आदि का लक्षण)

उनमें द्रव्य पर्याय, सामान्य, विशेष और उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य में जो व्यापक है वह सत् है, ऐसा कथन करना सत् का प्ररूपण है, जैसे जीव हैं, मिथ्यादृष्टि हैं, सासादन सम्यग्दृष्टि हैं, सम्यग्मिथ्यादृष्टि हैं, असंयतसम्यग्दृष्टि हैं, देशसंयत हैं, प्रमत्तसंयत हैं, अप्रमत्तसंयत हैं, अपूर्वकरणसंयत हैं, अनिवृत्तिकरण बादरसांपराय संयत हैं, सूक्ष्मसांपराय संयत हैं, उपशांतकषाय छद्मस्थ वीतरागी हैं, क्षीणकषाय छद्मस्थ वीतरागी हैं, सयोगीकेवली हैं, अयोगीकेवली हैं और शुद्धात्मा सिद्ध हैं इत्यादि।

भेद की गणना करना संख्या है। जैसे जीव अनंतानंत हैं, मिथ्यादृष्टि अनंतानंत हैं इत्यादि।

वर्तमान के निवास को क्षेत्र कहते हैं। जैसे जीवों का क्षेत्र लोक के असंख्यातवें भाग है, संख्यातवें भाग है अथवा सर्वलोक है इत्यादि।

उसी त्रिकालविषयक निवास को स्पर्शन कहते हैं। जैसे जीव का सर्वलोक आदि स्पर्श है।

उतने काल रहने को काल कहते हैं। जैसे गुणस्थान का आयामकाल अंतर्मुहूर्त आदि है।

विवक्षित गुणस्थान को छोड़कर गुणस्थानांतर को प्राप्त हुए को, पुनः उस गुणस्थान की प्राप्ति जितने काल में होती है उतना काल अंतर कहलाता है, इसे विरहकाल भी कहते हैं, यह अंतर्मुहूर्त आदि के प्रमाण से होता है।

आत्मा के परिणाम को भाव कहते हैं। ये औदयिक आदि हैं।

परस्पर में संख्या की विशेषता को अल्पबहुत्व कहते हैं। ये सत् आदि आठ अनुयोग कहलाते हैं।

पूर्व में इनका न्यास करके अर्थात् अर्थ स्वभाव, वचन स्वभाव और ज्ञानस्वभाव वाले भेद व्यवहार को पूर्व में करके। उनमें से अर्थस्वभाव वाले के भेद द्रव्य और भाव ऐसे दो होते हैं क्योंकि ये अर्थ के धर्म हैं।

कैः नयानुगतनिक्षेपैः नयान् द्रव्यपर्यायविषयाननुगता अनुवृत्ता निक्षेपा न्यासास्तैः। किंरूपैः उपायैः कारणैः। क्व भेदवेदने मुख्यामुख्यविशेषनिर्णये कारणभेदैरित्यर्थः। आदौ किं कृत्वा परीक्ष्य विचार्य। कान् तांस्तान् वीप्सायां द्विर्वचनं। तत्र द्रव्यक्षेत्रकालभावविवक्षितानित्यर्थः। तान् कान् तद्धर्मान् तस्यानेकांतात्मनो वस्तुनो धर्माः सत्त्वादयस्तान्। कथंभूतान् अनेकान् अनंतान्। पुनरपि कथंभूतान् व्यावहारिकान् व्यवहारो हानादिरूपः प्रयोजनं येषां ते व्यावहारिकास्तान्। कैः परीक्ष्य अभिसंधिभिः ज्ञातुरभिप्रायैः नयैरित्यर्थः। पूर्वं किं कृत्वा अधिगम्य ज्ञात्वा। कं अर्थं जीवादिप्रमेयं। किंविशिष्टं अनेकांतात्मकं अनेके अंताः सहक्रमभुवो धर्मा यस्यासावनेकांतस्तं। कस्मात् श्रुतात् स्याद्वादात्। अनेकांतः प्रमाणादिति वचनात्। संक्षेपरुचिविनेयाशयवशा-दिदमुक्तं। अयमर्थः — अनेकांतात्मकं जीवाद्यर्थमुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सादित्यादिश्रुतान्निश्चित्य पुनस्तद्धर्मान् व्यवहारार्थं नैगमादिनयैः परीक्षते संक्षेपरुचिः प्रमाता। तस्य तावतैव तत्त्वाधिगमसंभवात्। मध्यमरुचिः पुनर्विशेषज्ञानोपायैर्नामादिनिक्षेपैरर्थाभिधानप्रत्ययरूपान् भेदान् न्यस्य निर्देशादिभिरनुयोगैरनुयुंक्ते। तस्यैव तावत्प्रपंचकांक्षितत्वात्। विस्तररुचिस्तु जीवादिद्रव्याणि प्रत्येकं सदादिभिरनुयोगैरनुयुज्य गुणजीव-पर्याप्त्यादिभैदैस्तत्त्वं वेत्ति। ततो विशुद्धाधिगमसम्यग्दर्शनः सन् शुक्लध्यानरूपांतरंगतपसा कृत्स्नकर्मनिर्मूलनं

वचनात्मक नाम व्यवहार है और ज्ञानस्वरूप स्थापना व्यवहार है क्योंकि वह संकल्परूप है अर्थात् नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव ये चार निक्षेप होते हैं। इनमें से नाम निक्षेप वचनस्वरूप है, स्थापनानिक्षेप ज्ञानस्वरूप है और द्रव्य तथा भावनिक्षेप अर्थस्वरूप हैं। इनसे भी जीवादि पदार्थों का ज्ञान होता है। ये श्रुतार्पित — श्रुत — अनेकांत से विकल्पित हैं। ये चारों निक्षेप नय के अनुगत हैं अर्थात् नयों का — द्रव्य पर्याय रूप विषयों का अनुसरण करने वाले हैं और ये भेद के वेदन में — मुख्य गौणरूप विशेष के निर्णय में उपायभूत हैं — कारण हैं।

इन कारण भेदों से द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव से विवक्षित धर्मों का विचार करके अर्थात् अनेकांतात्मक वस्तु के जो अस्तित्वादि अनंत धर्म हैं और व्यावहारिक हैं — हान, उपादान आदि प्रयोजन वाले हैं, उनको ज्ञाता के अभिप्रायरूप नयों के द्वारा प्रमेयरूप जीवादि पदार्थों को पहले जान करके। वे अर्थ अनेकांतात्मक हैं, अनेक अंत — सहभावी और क्रमभावी धर्म जिसमें पाये जाते हैं वह अनेकांत कहलाता है। उन अनेकांतात्मक जीवादि पदार्थों को श्रुत से — स्याद्वाद से जान करके श्रद्धान करते हैं क्योंकि 'अनेकांत को प्रमाण से[1]' जाना जाता है ऐसा वचन है। यहाँ पर संक्षेप रुचि वाले शिष्यों के अभिप्राय के निमित्त से यह कहा गया है। यहाँ पर अभिप्राय यह हुआ है कि —

अनेकांतात्मक जीवादि पदार्थ उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य युक्त सत् हैं इत्यादि को आगम से निश्चित करके पुनः संक्षेप रूप वाले ज्ञाता उन धर्मों की व्यवहार के लिए नैगम आदि नयों से परीक्षा करते हैं क्योंकि उनको उतने से ही तत्त्वों का बोध होना संभव है। पुनः मध्यम रुचि वाले शिष्य विशेष को जानने के लिए उपायभूत ऐसे नाम आदि निक्षेपों से अर्थ, वचन और ज्ञानरूप भेदों का न्यास करके — कथन करके निर्देश, स्वामित्व आदि अनुयोगों से प्रश्न करते हैं, समझते हैं क्योंकि उन लोगों को उतने विस्तार की आकांक्षा है तथा विस्तार रुचि वाले शिष्य जीवादि द्रव्यों में से प्रत्येक को सत्, संख्या, क्षेत्र आदि अनुयोगों से प्रश्न करके — समझ करके गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति आदि भेदों से तत्त्व को जानते हैं।

---

१. 'अनेकांतः प्रमाणांत्ते' स्वयंभूस्तोत्र श्लोक।

कृत्वा विमुक्तः सुखं तत्फलमनुभवतीति।। निर्ज्ञाताः-प्रमाणनयनिर्देशादयः। निक्षेपाः के प्रतिपाद्यंतामिति चेदुच्यते—अधिगमोपायाः निक्षेपाः ते चत्वारः। नामनिक्षेपः, स्थापनानिक्षेपः, द्रव्यनिक्षेपः, भावनिक्षेप इति। तत्र जातिद्रव्यगुणक्रियाणि नामप्रतीहार इत्यादि। एकजीवानेकाजीवनाम काकावलिकावाही हार इत्यादि। अनेकजीवैकाजीवनाम आंदोलकमित्यादि। अनेकजीवाजीवनाम नगरमित्यादि। आहितनामकस्य द्रव्यस्य सोऽयमिति संकल्पेन व्यवस्थाप्यमाना स्थापना। सा द्विधा सद्भावस्थापनाऽसद्भावस्थापना चेति। तत्र मुख्यद्रव्याकृतिः सद्भावस्थापना अर्हत्प्रतिमादिः। तदाकारशून्या असद्भावस्थापना कपर्द्यादि। द्रव्यमपि द्विधा आगमनोआगमभेदात्। तत्र जीवादिप्राभृतज्ञायी चिरपरप्रतिपादनाद्युपयोगरहितः श्रुतज्ञानी आगमद्रव्यं। नोआगमद्रव्यं त्रेधा ज्ञायकशरीरभावितद्व्यतिरिक्तभेदात्। तत्र जीवादिप्राभृतज्ञायकस्य शरीरं त्रिविधं अतीतानागतवर्तमानविकल्पात्। अतीतं च त्यक्तं च्युतं च्यावितं चेति त्रिधा। तत्र त्यक्तं प्रायोपगमनेंगिनी-भक्तप्रत्याख्यानभेदसमाधिमरणविसृष्टं। स्वायुःपाकवशाच्छिन्नं च्युतं। विषवेदनादिना खंडितायुषं च्यावितमिति। गत्यंतरे स्थितो जीवो मनुष्यत्वाभिमुखो भावीत्युच्यते। कर्मनोकर्मभेदं तद्व्यतिरिक्तं। तत्र ज्ञानावरणा-द्यष्टविधमात्मनः पारतंत्र्यनिमित्तं कर्म। शरीर त्रयपर्याप्ति-षट्कयोग्यपुद्गलपरिणामो नोकर्म। तैजसस्यौदारिक-

---

इससे विशुद्ध अधिगम सम्यग्दर्शन से सहित होते हुए जीव शुक्लध्यानरूपी अंतरंग तप से संपूर्ण कर्मों का निर्मूलन करके विमुक्त होते हुए उस ज्ञान के फलरूप सुख का अनुभव करते हैं।

प्रश्न—इस प्रकार से प्रमाण, नय और निर्देश आदि का स्वरूप तो जान लिया गया है, निक्षेप क्या हैं ? सो अब प्रतिपादित कीजिए ?

उत्तर—जो जानने के लिए उपायभूत हैं वे निक्षेप कहलाते हैं, वे चार हैं—नाम निक्षेप, स्थापना निक्षेप, द्रव्य निक्षेप और भावनिक्षेप। उनमें से जाति, द्रव्य, गुण और क्रिया यह नाम हैं, जैसे—प्रतीहार इत्यादि। एक जीव अनेक जीव नाम जैसे (कावड़ी को ढ़ोने वाला कहार) काकावलिकावाही हार इत्यादि, अनेक जीव एक जीव नाम जैसे—आंदोलक इत्यादि। अनेक जीव अजीव नाम, जैसे—नगर इत्यादि। नाम को प्राप्त हुए द्रव्य में वह यह है, इस प्रकार के संकल्प से व्यवस्थापित की गई स्थापना है। उसके दो भेद हैं—सद्भाव स्थापना और असद्भाव स्थापना। उनमें मुख्यद्रव्य की आकृति को सद्भाव स्थापना कहते हैं जैसे—अर्हत्प्रतिमा आदि। तदाकार से शून्य असद्भाव स्थापना है जैसे—कौड़ी आदि में किसी की स्थापना करना आदि।

द्रव्यनिक्षेप के भी दो भेद हैं—आगम और नोआगम। उनमें से जो जीवादि के विषयक शास्त्र का ज्ञाता है किन्तु चिरकाल से दूसरों को प्रतिपादन आदि के उपयोग से रहित है ऐसा श्रुतज्ञानी आगमद्रव्य है। नोआगमद्रव्य के तीन भेद हैं—ज्ञायकशरीर, भावी और तद्व्यतिरिक्त। उसमें जीवादि प्राभृत के ज्ञाता के शरीर के भी तीन भेद हैं—भूत, भविष्यत् और वर्तमान। भूत शरीर के भी तीन भेद हैं—च्युत, च्यावित और त्यक्त। उसमें समाधिमरण से छूटे हुए शरीर को त्यक्त कहते हैं। उसके भी तीन भेद हैं—प्रायोपगमन, इंगिनी और भक्तप्रत्याख्यान।

अपने आयु के पूर्ण होने के निमित्त से छूटा हुआ शरीर च्युत कहलाता है। वेदना आदि के निमित्त से आयु के खंडित हो जाने से छूटा हुआ शरीर च्यावित कहलाता है।

नोआगमद्रव्य के भावी भेद को कहते हैं—गत्यंतर में स्थित हुआ जीव जो मनुष्यत्व आदि के अभिमुख है उसे भावी कहते हैं। कर्म और नोकर्म के भेद से तद्व्यतिरिक्त के भी दो भेद हैं। उसमें आत्मा को

वैक्रियिकाहारकेष्वंतर्भावात्। विग्रहगतौ च कार्मणोंऽतर्भावात्। भावश्चागमनोआगमभेदात् द्वेधा। तत्र आगमभावो जीवादिप्राभृतज्ञायी तदुपयुक्तः श्रुतज्ञानी। विवक्षितपर्याय-परिणतो नोआगमभावः। ननु निक्षेपाभावेऽपि प्रमाणनयैरधिगम्यत एव तत्त्वार्थ इति चेन्न अप्रकृतनिरा-करणार्थत्वात्। प्रकृतप्ररूपणार्थत्वाच्च निक्षेपस्य। न खलु नामादावप्रकृते प्रमाणनयाधिगतो भावो व्यवहारायालं। मुख्योपचारविभागेनैव तत्सिद्धेः। न च तद्विभागो नामादिनिक्षेपैर्विना संभवति येन तदभावेऽपि तत्त्वाधिगतिः स्यात्।।

अथ भूयः शास्त्राध्ययनफलं दर्शयति—

परतंत्रता के निमित्त से जो ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार का कर्म है वह कर्मतद्व्यतिरिक्त है। तीन शरीर और छह पर्याप्ति के योग्य पुद्‌गल परिणाम नोकर्म तद्‌व्यतिरिक्त है अर्थात् औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण ये पाँच शरीर हैं इनमें से आदि के तीन शरीर के योग्य पुद्‌गल वर्गणाएं ही नोकर्म हैं। औदारिक, वैक्रियिक और आहारक में तैजस का अंतर्भाव हो जाता है और विग्रहगति में कार्मण शरीर अंतर्भूत होता है।

भावनिक्षेप के भी आगम और नोआगम की अपेक्षा दो भेद हैं। उसमें जीवादिप्राभृत का ज्ञाता, जो कि उसमें उपयुक्त हुआ श्रुतज्ञानी है, वह आगमभाव जीव है। विवक्षित पर्याय से परिणत हुआ नोआगम जीव है।

प्रश्न—निक्षेप के अभाव में भी केवल प्रमाण और नयों में तत्त्वार्थ का स्वरूप जाना ही जाता है ?

उतर—ऐसा नहीं कहना, क्योंकि ये निक्षेप अप्रकृत को निराकरण करने के लिए होते हैं और प्रकृत का प्ररूपण करने के लिए होते हैं। नामादि के अप्रकृत में प्रमाण और नय से जाने गये पदार्थ व्यवहार के लिए समर्थ नहीं होते हैं क्योंकि मुख्य और उपचार के विभाग से ही उनकी सिद्धि होती है और नामादि निक्षेपों के बिना वह मुख्य—उपचार रूप विभाग संभव नहीं है कि जिससे उनके अभाव में भी तत्त्वों का बोध हो सके अर्थात् निक्षेप के बिना भी तत्त्वों का बोध नहीं हो सकता है।

विशेषार्थ—यहाँ पर आचार्य ने चार आराधना के फल को बतलाया है। तब प्रश्न यह हो गया है कि सूत्रकारों ने रत्नत्रय को ही मोक्ष का मार्ग कहा है और चार आराधनाओं से मोक्षफल प्राप्ति का संकेत किया है, यह क्या बात है ? इस पर टीकाकार ने समाधान कर दिया है कि जहाँ रत्नत्रय को मोक्षमार्ग कहा है वहाँ पर चारित्र में ही तप आराधना गर्भित है और जहाँ चार आराधना को मोक्षमार्ग कहा है वहाँ केवल भेद विवक्षा ही है।

पुनः सम्यक्त्व के विषयभूत जीवादि पदार्थों को जानने के लिए जो उपाय है, उनका स्पष्टीकरण किया है। उनमें सबसे प्रथम निर्देश, स्वामित्व आदि छह अनुयोगों को बताया है अनंतर सत्, संख्या, क्षेत्र आदि आठ अनुयोगों को स्पष्ट किया है क्योंकि मध्यम रुचि वाले शिष्यों के लिए निर्देश आदि छह प्रकार हैं, विस्तार रुचि वालों के लिए सत् आदि आठ प्रकार हैं। इसके बाद चार निक्षेपों से पदार्थों को जानने का उपदेश दिया है और प्रमाण तथा नयों से भी समझने को कहा है। यह संक्षेप रुचि वालों के लिए उपाय है। यहाँ पर उन चार निक्षेपों के प्रभेदों का अच्छा स्पष्टीकरण है। प्रश्न यह होता है कि संक्षेप रुचि वाले शिष्य प्रमाण और नयों से ही पदार्थों को समझ लेते हैं पुनः निक्षेपों की क्या आवश्यकता है ? इस पर आचार्य ने कहा है कि बिना निक्षेप के मुख्य और उपचार की व्यवस्था असंभव है तथा प्रकृत का प्ररूपण और अप्रकृत का निराकरण यह भी निक्षेप से ही होता है।

उत्थानिका—अब पुनः शास्त्र के अध्ययन के फल को दिखलाते हैं—

भव्यः पंचगुरून् तपोभिरमलैराराध्य बुध्वाऽऽगमं।
तेभ्योऽभ्यस्य तदर्थमर्थविषयाच्छब्दादपभ्रंशतः।।
दूरीभूततरात्मकादधिगतो बोद्धाऽऽकलंकं पदं।
लोकालोककलावलोकनबलप्रज्ञो जिनः स्यात् स्वयं[1]।।५।।

स्याद्भवेत्। कः भव्यः मोक्षहेतुरत्नत्रयरूपेण भविष्यति परिणंस्यतीति भव्यः। अभव्यस्य मुक्तावनधिकारात्। किंविशिष्टः स्यात् जिनः स्यात्। पुनः कथंभूतः लोकालोककलावलोकनबलप्रज्ञः षट्द्रव्यसमवायो लोकः ततो बहिरलोकः केवलाकाशरूपः। तयोः कला विभागः। अथवा लोकश्चालोकश्च कलाश्च जीवादयः पदार्थाः तासामवलोकनं तत्र बलं शक्तिः प्रज्ञा प्रकृष्टं ज्ञानं च विद्यते यस्य स तथोक्तः। कथं स्वयं स्वेनात्मना नेंद्रियादिसाहाय्येनेत्यर्थः। पुनरपि किंविशिष्टः अधिगतः प्राप्तः किं पदं स्थानं। किंविशिष्टं आकलंकं अकलंकानामिदं आर्हंत्यमित्यर्थः। ननु मुक्तौ जीवस्य ज्ञानाभावस्तत्स्वाभाव्यविरहादित्याशंक्याह—बोद्धा बुद्ध्यते जानातीत्येवंशीलस्तत्स्वभाव इत्यर्थः। किं कृत्वा अभ्यस्य पुनःपुनर्भावयित्वा। कं तदर्थं तस्यागमस्यार्थो जीवादिवस्तु तं। आदौ किं कृत्वा बुध्वा अधीत्य ज्ञात्वा च। कं आगमं श्रुतं।

अन्वयार्थ—(भव्यः) भव्य जीव (अमलैः तपोभिः) निर्दोष तपश्चरण से (पंचगुरुन् आराध्य) पंच परम गुरुओं की आराधना करके, (आगमं बुद्ध्वा) आगम को जानकर, (तेभ्यः तदर्थं अभ्यस्य) उन गुरुओं से उस आगम के अर्थ का पुनः-पुनः अभ्यास करके (दूरी भूततरात्मकात्) दूरी भूततररूप (अर्थविषयात्) अर्थ को विषय करने वाले (अपभ्रंशतः) अपभ्रंश शब्दों से (आकलंकं पदं) निर्दोष—आर्हंत्यपद को (अधिगतः बोद्धा) प्राप्त हुआ ज्ञाता (लोकालोककलावलोकनबलप्रज्ञः) लोक-अलोक के विभाग के अवलोकन में शक्ति और प्रकृष्ट ज्ञान से सहित हुआ (स्वयं) स्वयं ही (जिनः) 'जिन' (स्यात्) हो जाता है।।५।।

अर्थ—भव्य जीव निर्दोष तपश्चरणों से पंचपरमेष्ठी की आराधना करके, आगम को जानकर, उन गुरुओं के निमित्त से उस आगम के अर्थ का पुनः-पुनः अभ्यास करके दूरीभूततरात्मक अर्थ को विषय करने वाले अपभ्रंश शब्दों से अकलंक—आर्हंत्य पद को प्राप्त होता हुआ, पूर्णज्ञानी, लोकालोक के विभाग के अवलोकन में शक्ति और प्रकृष्ट ज्ञान से सहित स्वयं अपने द्वारा ही जिन हो जाता है।।५।।

तात्पर्यवृत्ति—जो मोक्ष के हेतुभूत रत्नत्रयरूप से होगा—परिणमन करेगा, वह भव्य है क्योंकि अभव्य को मुक्ति में अधिकार ही नहीं है। ऐसा भव्य जीव षट्द्रव्य के समुदायरूप लोक और उसके बाहर केवल आकाशरूप अलोक, इन दोनों की कला—विभाग अथवा लोक, अलोक तथा कला—जीवादि पदार्थ इनके अवलोकन में बल—शक्ति और प्रज्ञा—प्रकृष्ट ज्ञान है जिनके, ऐसा लोकालोक की कला को जानने की शक्ति और ज्ञान से सहित हुआ स्वयं—इंद्रियादि की सहायता के बिना अपने आत्मा के द्वारा, अकलंकों का जो पद है—आर्हंत्यपद है उसको प्राप्त होता हुआ जिन हो जाता है।

प्रश्न—मुक्ति में जीव के ज्ञान का अभाव है, क्योंकि जीव ज्ञान स्वभाव से रहित है ?

उत्तर—नहीं, मुक्ति में भी वह जीव बोद्धा है, ज्ञान स्वभाव वाला होने से जानने वाला है।

प्रश्न—पूर्व में क्या करके जानता है ?

उत्तर—पहले पंचपरमगुरु के निमित्त से अवधिभूत शब्द से—वर्ण, पद, वाक्यात्मक प्रयोग से जो

---

१. न्यायकुमुदचन्द्र पृ. ८७९।

केभ्यः तेभ्यः पंचगुरुभ्यः सकाशात्। कस्मादबधिभूताच्छब्दात् वर्णपदवाक्यात्मकप्रयोगात्। किंविशिष्टात् अर्थविषयात् अर्थो जीवादिवस्तु विषयो गोचरो यस्य तस्मादित्यनेनान्यापोहः शब्दविषय इति सौगतमतं प्रतिक्षिप्तं। तत्र प्रवृत्त्यभावात्। पुनः किंविशिष्टात् अपभ्रंशतः भ्रंशो लक्षणदोषस्तस्मादपगतः अपभ्रंशस्तस्मात्। अनेन यो जागारेत्यादिवाक्याप्रामाण्यं प्रतिपादितं। ततः पूर्वं किं कृत्वा आराध्य सेवित्वा कान् गुरून् अर्हदादीन्। कति पंच। कैर्गुणैः तपोभिर्बाह्यभ्यंतरैरिच्छानिरोधैः। किंविशिष्टैः अमलैः मिथ्यात्वादिमलरहितैः। पंचगुरुचरणस्यैव परममंगलत्वात्। तद्गुणगणानुस्मरणस्य शास्त्रपरिसमाप्तौ सफलत्वात्। एवं परमागमाभ्या-सात्स्वार्थसंपत्तिरुक्ता।।

इदानी पुनः परार्थसम्पत्तिं निर्दिशति—

प्रवचनपदान्यभ्यस्यार्थास्ततः परिनिष्ठिता-।
नसकृदवबुद्ध्ये[1]द्धाद्बोधाद्बुधो हतसंशयः।।
भगवदकलंकानां स्थानं सुखेन समाश्रितः।
कथयतु शिवं पंथानं वः पदस्य महात्मनां[2]।।६।।

अर्थ को—जीवादि वस्तु को विषय करने वाला है उन शब्दों से उस आगम को पढ़ करके और जान करके पुनः उस आगम के अर्थरूप जीवादि वस्तु का अभ्यास करके पुनः-पुनः भाषित करके—यहाँ शब्द से अर्थ को जानने के कथन से बौद्ध के कथन का निरसन किया है अर्थात् बौद्ध कहता है कि शब्द का विषय अन्यापोह है, यहाँ उसका निराकरण हो जाता है क्योंकि शब्द की अन्यापोह में प्रवृत्ति नहीं होती है।

प्रश्न—पुनः वे शब्द कैसे हैं ?

उत्तर—अपभ्रंश रूप हैं, भ्रंश-लक्षणदोष-व्याकरण के दोष से अप—रहित हैं। इस कथन से 'यो जागार' इत्यादि वाक्यों की अप्रमाणता का प्रतिपादन किया है।

प्रश्न—पुनः क्या करके वे ज्ञाता होते हैं ?

उत्तर—पूर्व में मिथ्यात्वादि मल दोषों से रहित, इच्छा निरोधरूप बाह्याभ्यंतर तपश्चरणों से अर्हंत, सिद्ध आदि पंच परमेष्ठियों की आराधना करके ऐसे ज्ञानी होते हैं क्योंकि पंचपरमगुरु के चरण ही परम मंगल स्वरूप हैं। उनके गुण समूह का अनुस्मरण शास्त्र की परिसमाप्ति में सफलीभूत है। इस प्रकार से यहाँ परमागम के अभ्यास से स्वार्थ संपत्ति का कथन किया गया है।

उत्थानिका—अब पुनः परार्थ संपत्ति का निर्देश करते हैं—

अन्वयार्थ—(प्रवचनपदानि) प्रवचन के पदों का (अभ्यस्य) अभ्यास करके (ततः परिनिष्ठितान् अर्थान्) उसमें व्यवस्थित अर्थों को (असकृत्) पुनः-पुनः (अवबुध्य) निश्चित करके (हतसंशयः) संशयादि दोषों से रहित (इद्धात् बोधात्) उज्ज्वल बोध से युक्त (बुधः) ज्ञानी (भगवदकलंकानां) भगवान् अकलंक—अर्हंतदेव के (स्थानं समाश्रितः) स्थान को प्राप्त हुए हैं, वे (महात्मनां) सिद्ध आत्माओं के (पदस्य) पद के (शिवं पंथानं) कल्याणकारी मार्ग को (वः) आप लोगों के लिए (सुखेन) तालु आदि के व्यापार के क्लेश से रहित सुखपूर्वक (कथयतु) प्रतिपादित करें।।६।।

अर्थ—प्रवचन के पदों का अभ्यास करके उसमें व्यवस्थित अर्थों को पुनः-पुनः निश्चित करके संशयादि दोषों से रहित उज्ज्वल बोध से युक्त ज्ञानी भगवान् अकलंक—अर्हंत देव के स्थान को प्राप्त हुए हैं,

---

१. (बुध्ये......)। २. श्लोक ७८, न्यायकुमुद, पृ. ८७९।

कथयतु प्रतिपादयतु। कः बुधः ज्ञानी। कं पंथानं मार्गप्राप्त्युपायं। किंविशिष्टं शिवं शिवस्य हेतुः शिवस्तमुपचारात्। कस्य पदस्य स्थानस्य। केषां महात्मनां महांतः संसारिभ्योऽतिरिक्ताः सिद्धा आत्मानो जीवास्तेषां। केभ्यः कथयतु वः युष्मभ्यं विनेयेभ्यः। केन सुखेन ताल्वोष्ठपुटव्यापारक्लेशाभावेन। किंविशिष्टः सन् समाश्रितः प्राप्तः। किं स्थानमवस्थानं न क्षणभंगं तत्रोपदेशाभावात्। किंविशिष्टं भगवत् त्रिलोकपूजार्हं। केषां स्थानं अकलंकानां न विद्यंते दोषावरणरूपाः कलंका येषां ते अकलंकास्तेषामर्हतामित्यर्थः। किंविशिष्टः सन् हतसंशयः उपलक्षणमेतत्। तेनायमर्थः—हता नष्टाः संशयादयो यस्य स तथोक्त इति। किं कृत्वा अवबुध्य निश्चित्य। कथं असकृत् पुनः पुनर्ध्यात्वेत्यर्थः। कान् अर्थान् जीवादितत्त्वानि। किंविशिष्टान् परिनिष्ठितान्। व्यवस्थितान्। क्व ततस्तेषु प्रवचनपदेषु। कस्मात् बोधात् ज्ञानात्। किंविशिष्टात् इद्धात् उज्वलात् संकरव्यतिकरव्यतिरेकात्। अहमहमिकया प्रकाशमानादित्यर्थः। किं कृत्वा अभ्यस्य परिचिंत्य। पुनःपुनरुपयुज्येत्यर्थः। कानि प्रवचनपदानि प्रकृष्टं पूर्वापरविरोधरहितं वचनं प्रकृष्टस्य वा पुरुषस्य वचनं तस्य पदानि सम्यग्दर्शनादीनि णमो अरहंताणमित्यादीनि वा। परमागमाभ्यासात् परिणतश्रुतज्ञानः शुक्लध्यानानलनिर्दग्धद्रव्यभावकलंकः सार्वज्ञ्यमापन्नो मोक्षमार्गोपदेशाय परार्थाय चेष्टतामिति भावो देवानां।

वे सिद्ध आत्माओं के पद के कल्याणकारी मार्ग को आप लोगों के लिए तालु आदि के व्यापार के क्लेश से रहित सुखपूर्वक प्रतिपादित करें।।६।।

तात्पर्यवृत्ति—बुध—ज्ञानी महात्मा के—संसारी से अतिरिक्त सिद्धात्माओं के पद के शिवमार्ग को—मोक्ष की प्राप्ति के उपाय को आप सभी शिष्यों के लिए प्रतिपादित करें। कैसे प्रतिपादित करें ? सुख से—तालु, ओष्ठपुट, व्यापार के क्लेश के अभाव से। कैसे होते हुए ? त्रिलोक में पूजा के योग्य और दोष—आवरणरूप कलंक से रहित अकलंक हैं ऐसे भगवान् अर्हंतदेव के स्थान को जो प्राप्त हो चुके हैं, न कि क्षणिक स्थान को क्योंकि वहाँ पर उपदेश का अभाव है।

वे कैसे होते हुए इस स्थान को प्राप्त हुए हैं ? संशयरहित होते हुए—यहाँ यह संशय शब्द उपलक्षण मात्र है इसलिए नष्ट हो गये हैं संशय आदि दोष जिनके ऐसे होते हुए। क्या करके नष्ट हुए हैं ? उन प्रवचन पदों में व्यवस्थित जीवादि पदार्थों को ज्ञान से पुनः-पुनः निश्चित करके—ध्या करके। वह ज्ञान कैसा है ? इद्ध—उज्ज्वल है—संकर व्यतिकर से रहित है, मैं-मैं इस रूप प्रकाशमान है।

क्या करके निश्चित करते हैं ? उन प्रवचन पदों का अभ्यास करके पुनः-पुनः उपयोग करके। वे प्रवचनपद कैसे हैं ? प्रकृष्ट पूर्वापर विरोध रहित वचन प्रवचन हैं अथवा प्रकृष्ट पुरुष के वचन प्रवचन हैं, उस प्रवचन के पद 'सम्यग्दर्शन' आदि अथवा 'णमो अरिहंताणं' इत्यादि हैं।

परमागम के अभ्यास से श्रुतज्ञानरूप परिणत होते हुए, पुनः शुक्लध्यानरूपी अग्नि से दग्ध कर दिया द्रव्य कलंक और भाव कलंक को जिसने ऐसे भगवान सर्वज्ञ अवस्था को प्राप्त हुए हैं वे पर के लिए मोक्षमार्ग के उपदेश में चेष्टा करें—प्रयत्न करें, ऐसा श्रीमान् भट्टाकलंक देव का अभिप्राय है।

भावार्थ—यहाँ पर आचार्यदेव ने प्रवचन के अभ्यास की महत्ता को स्पष्ट किया है। वास्तव में जिनागम के अभ्यास से ही भव्य जीव ज्ञान और वैराग्य शक्ति से अपने आत्मबल को बढ़ा लेते हैं और पुनः दुर्द्धर तपश्चरण आदि का अनुष्ठान करते हुए एकाग्रचिन्तानिरोधरूप ध्यान से परिणत होकर घातिया कर्मों का नाश करके अर्हंत अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं पुनः वे ही हितोपदेशी, वीतरागी और सर्वज्ञ भगवान तीर्थंकर महापुरुष भव्य जीवों को मोक्षमार्ग का उपदेश देते हुए असंख्यातों जीवों को संसार समुद्र से पार करने में समर्थ हो जाते हैं। ऐसा परमागम का उपदेश सदैव हमें मोक्षमार्ग का प्रकाश करता रहे।

नाभ्यासस्तादृगस्ति प्रवचनविषयो नैव बुद्धिश्च तादृक।
नोपाध्यायोऽपि शिक्षानियमनसमयस्तादृशोऽस्तीह काले।।
किंत्वेतन्मे मुनींदुव्रतिपतिचरणाराधनोपात्तपुण्यं।
श्रीमद्भट्टाकलंकप्रकरणविवृतावस्ति सामर्थ्यहेतुः।।१।।
माऽयं मदांध इति चेतसि कोपमाधु-।
र्माधुर्यमेव वहते सुधियां मदुक्तिः।।
किं कामिनीजनमदोत्कटचाटुवाणी।
प्राणेश्वरस्य रसनाटकनर्तकी न।।२।।
तथाऽप्येतत्परीक्षंतां। मदुक्तं मत्सरोज्झिताः।।
हीनाधिकमभिव्यक्तु-। मेते हि निकषोपमाः।।३।।
विरुद्धं दर्शनं यस्य। निह्नवस्तस्य किंकरः।
तेजोभिर्दुर्निरीक्ष्यं किं। घूकशूकोऽर्कमृच्छति।।४।।

श्री अभयचंद्रसूरि के उद्गार

अर्थ—न तो मेरा वैसा प्रवचनविषयक अभ्यास है और न वैसी मुझमें बुद्धि है, न इस पंचमकाल में नियमितरूप से आगम की शिक्षा देने वाले उपाध्याय ही हैं किन्तु फिर भी जो मुनीन्दु व्रतियों के स्वामी हैं उनके चरणों की आराधना से उपार्जित किया हुआ ही यह पुण्य है कि जो श्रीमान् भट्टाकलंकदेव के इस लघीयस्त्रय प्रकरण की विवृत्ति—वृत्तिरूप टीका के करने में समर्थवान हेतु है।।१।।

अर्थ—'यह मदांध है' इस प्रकार से चित्त में क्रोध को मत कीजिए क्योंकि मेरे वचन विद्वानजनों में मधुरता को ही धारण करते हैं। क्या कामिनी स्त्रियों के मद से उत्कट हुए चाटुकर वचन उनके पतिदेव के रस नाटक को नर्तन कराने वाले नहीं होते हैं।।२।।

भावार्थ—जैसे स्त्रियों के प्रिय वचन उनके पतिदेवों को मधुर लगते हैं वैसे ही मेरे ये टीका में कहे गये वचन भी विद्वानों को मधुर लगेंगे।

अर्थ—फिर भी मत्सरभाव से रहित बुधजन इन मेरे वचनों की परीक्षा करें क्योंकि ये हीनाधिक को प्रगट करने के लिए कसौटी के पत्थर के समान हैं।।३।।

भावार्थ—श्री अभयचंद्राचार्य कहते हैं कि जिनके हृदय में मत्सर, ईर्ष्या आदि भाव नहीं हैं ऐसे बहुश्रुतज्ञानी इस मेरे ग्रंथ की समीक्षा करें क्योंकि जैसे कसौटी का पत्थर इस सुवर्ण में कितने अंश में अन्य धातु का मिश्रण है या नहीं है इस बात को स्पष्ट बता देता है ऐसे ही यह मेरा ग्रंथ भी हीनाधिक दोषों को स्पष्ट कर देता है अर्थात् यह ग्रंथ हीनाधिक दोषों से रहित, निर्दोष, सरल और संक्षिप्त है और न्याय के क्लिष्ट विषय का प्रतिपादन करने वाला होते हुए भी इसकी सुंदर कथन शैली से विषय मधुर बन गया है।

अर्थ—जिनका दर्शन—सिद्धांत विरुद्ध है, निन्हव उनका किंकर है, क्या किरणों से दुर्निरीक्ष्य—जिसको देखना कठिन है ऐसे सूर्य को उल्लू का बालक देख सकता है ?।।४।।

इत्यभयचंद्रसूरिकृतौ लघीयस्त्रयतात्पर्यवृत्तौ स्याद्वादभूषणसंज्ञायां निक्षेपणप्ररूपणं सप्तमः परिच्छेदः।।

समाप्तश्च प्रवचनप्रवेशस्तृतीयः।।

इति भट्टाकलंकशशांकानुस्मृतं लघीयस्त्रयाख्यं प्रकरणं समाप्तं।।

—अंतिम आशीर्वादः—

भद्रमस्तु जिनशासनश्रिये। श्रायसैकपदकार्यजन्मने।।
जन्मजन्मकृततापलोपन-। प्रायशुद्धनिजतत्त्ववित्तये।।१।।

भावार्थ—जिनका मत स्याद्वाद से विपरीत एकांतरूप है उनका नौकर निन्हव है अर्थात् वे हमेशा सच्चे तत्त्वों का अपलाप किया करते हैं, सो ठीक ही है क्योंकि उल्लू के बच्चे को संख्यातों किरणों से व्याप्त ऐसा तेजस्वी सूर्य नहीं दिख सकता है वैसे ही नयरूपी संख्यातों किरणों से व्याप्त ऐसे स्याद्वादरूपी सूर्य का दर्शन वे एकांतवादी लोग नहीं कर सकते हैं। इस कथन से यहाँ पर अनेकांत की दुर्लभता को बतलाया है।

इस प्रकार से श्री अभयचंद्रसूरिकृत लघीयस्त्रय की स्याद्वादभूषण नामक तात्पर्यवृत्ति टीका में निक्षेप का प्ररूपण करने वाला सप्तम परिच्छेद पूर्ण हुआ।

प्रवचनप्रवेश नामक तृतीय महा अधिकार पूर्ण हुआ।

इस प्रकार से श्री भट्टाकलंकदेव रूपी चंद्रमा से अनुस्मृत लघीयस्त्रय नामक प्रकरण समाप्त हुआ है।

अंतिम आशीर्वाद

श्लोकार्थ—जन्म-जन्म में किये हुए ताप का लोप करने में प्रायः शुद्ध निजतत्त्व के ज्ञान स्वरूप, मोक्षरूप एक अद्वितीय पद उस पदस्वरूप कार्य को उत्पन्न करने वाली ऐसी जो जिनशासनरूपी लक्ष्मी है उसके लिए भद्र—कल्याण होवे।।१।।

भावार्थ—जो जिनशासन भव्यजीवों के जन्म-जन्म के संताप को दूर करने में समर्थ ऐसे शुद्ध आत्मा तत्त्व का बोध कराने वाला है और जो मोक्ष को प्रदान करने वाला है उस जिनशासन का सदा ही कल्याण होवे अथवा वह सदैव हितस्वरूप होता हुआ जयशील रहे।

श्रीमत्परमगम्भीर-स्याद्वादामोघलाञ्छनम्।
जीयात्त्रैलोक्यनाथस्य, शासनं जिनशासनम्।।

प्रशस्ति

वीरं नत्वाकलंकाख्यं, भारती च गुरूनपि।
कुंदकुंदगुरुमन्वा-चार्यमालामपि स्तुवे।।१।।

मूलसंघे प्रसिद्धेऽस्मिन् कुंदकुंदान्वये तथा।
बलात्कारगणे गच्छे, शारदाख्ये ह्यनुक्रमात्।।२।।

चारित्रचक्रवर्त्येष आचार्यः शांतिसागरः।
साधुधुर्यश्च तत्पट्टे गुरुर्मे वीरसागरः।।३।।

आर्यिकाहं च तत् शिष्या ज्ञानमत्यभिधापि वै।
अल्पज्ञाऽनूदितो ग्रन्थस्तथाप्येष मयाधुना।।४।।

वीराब्दे द्व्यधिके पंच-विंशतितमविश्रुते।
माघे सिते च पंचम्यां क्षेत्रेऽस्मिन् हस्तिनापुरे।।५।।

शांतिनाथालये ह्येषोनुवादः पूर्णतामगात्।
भूयात् ज्ञानस्य पूर्त्त्यर्थं सर्वसिद्ध्यै च मे सदा।।६।।

आचन्द्रार्कमयं जीयात् दर्शयेत् सत्पथं भुवि।
अंते लक्ष्म्यै च कैवल्यज्ञानमत्यै भवेन् मम। ७।।

यतिभावनाष्टक

(श्री पद्मनन्दि आचार्य विरचित)

-शार्दूलविक्रीडितं छंद-

आदाय व्रत-मात्मतत्त्व-ममलं ज्ञात्वाथ गत्वा वनं।
निःशेषामपि मोहकर्मजनितां हित्वा विकल्पावलिम्।।
ये तिष्ठन्ति मनोमरुच्चिदचलैकत्वप्रमोदं गता।
निष्कम्पा गिरिवज्जयन्ति मुनयस्ते सर्वसंगोज्झिताः।।१।।

चेतोवृत्ति-निरोधनेन करण-ग्रामं विधायोद्वसं।
तत्संहृत्य गतागतं च मरुतो धैर्यं समाश्रित्य च।।
पर्यंकेन मया शिवाय विधिव-च्छून्यैक-भूभृद्दरी-
मध्यस्थेन कदाचि-दर्पितदृशा स्थातव्य-मन्तर्मुखम्।।२।।

धूलीधूसरितं विमुक्तवसनं पर्यंकमुद्रागतं।
शान्तं निर्वचनं निमीलितदृशं तत्त्वोपलम्भे सति।।
उत्कीर्णं दृषदीव मां वनभुवि भ्रान्तो मृगाणां गणः।
पश्यत्युद्गतविस्मयो यदि तदा मादृग्जनः पुण्यवान्।।३।।

वासः शून्यमठे क्वचिन्निवसनं नित्यं ककुम्मण्डलं।
संतोषो धन-मुन्नतं प्रियतमा क्षान्तिस्तपो भोजनं।।
मैत्री सर्वशरीरिभिः सह सदा तत्त्वैकचिन्तासुखं।
चेदास्ते न किमस्ति मे शमवतः कार्यं न किंचित् परैः।।४।।

लब्ध्वा जन्म कुले शुचौ वरवपुर्बुद्ध्वा श्रुतं पुण्यतो।
वैराग्यं च करोति यः शुचि तपो लोके स एकः कृती।।
तेनैवोज्झितगौरवेण यदि वा ध्यानामृतं पीयते।
प्रासादे कलशस्तदा मणिमयो हैमे समारोपितः।।५।।

ग्रीष्मे भूधरमस्तकाश्रितशिलां मूलं तरोःप्रावृषि।
प्रोद्भूते शिशिरे चतुष्पथपदं प्राप्ताः स्थितिं कुर्वते।।
ये तेषां यमिनां यथोक्ततपसां ध्यान-प्रशान्तात्मनां।
मार्गे संचरतो मम प्रशमिनः कालः कदा यास्यति।।६।।

भेदज्ञानविशेष-संहृतमनोवृत्तिः समाधिः परो।
जायेताद्भुत-धामधन्यशमिनां केषांचि-दत्राचलः।।
वज्रे मूर्ध्नि पतत्यपि त्रिभुवने वह्निप्रदीप्तेऽपि वा।
येषां नो विकृतिर्मनागपि भवेत् प्राणेषु नश्यत्स्वपि।।७।।

अन्तस्तत्त्व-मुपाधिवर्जित-महं व्याहारवाच्यं परं।
ज्योतिर्यैः कलितं श्रितं च यतिभिस्ते सन्तु नः शान्तये।।
येषां तत्सदनं तदेव शयनं तत्संपदस्तत्सुखं।
तद्वृत्तिस्तदपि प्रियं तदखिल-श्रेष्ठार्थसंसाधकम्।।८।।

पापारिक्षयकारि दातृ नृपतिस्वर्गापवर्गश्रियं।
श्रीमत्पंकजनन्दिभिर्विरचितं चिच्चेतनानन्दिभिः।।
भक्त्या यो यतिभावनाष्टकमिदं भव्यस्त्रिसंध्यं पठेत्।
किं किं सिध्यति वाञ्छितं न भुवने तस्यात्र पुण्यात्मनः।।९।।

* * *

यतिभावनाष्टक

(पद्यानुवाद—गणिनी आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी)

मुनिव्रत लेकर निर्मल स्वतत्त्व, को जान विपिन में जा करके।
मोहोदय जनित विविध विध के, संपूर्ण विकल्पों को तजके।।
जो मन वायू से अचल एक, चिन्मय में प्रमुदित हो तिष्ठें।
वे सर्व परिग्रह रहित मुनी, निष्कंप अचल इव जयवंते।।1।।

मन का व्यापार रोक इंद्रिय, विषयों को जीत धैर्यपूर्वक।
उच्छ्वासगती संकोचित कर, सूने नग आदिक में विधिवत्।।
पर्यंकासन से मुक्ति हेतु, मैं कब अन्तर्मुख होऊँगा।
चेतन आत्मा में रत होकर, निज में कब स्थित होऊँगा।।2।।

प्राप्ती स्वतत्त्व की होने पर, धूली धूसरित वस्त्र विरहित।
पर्यंकासन में शांतचित्त, निर्वचन निमीलित नेत्र सहित।।
जब पत्थर में उत्कीर्ण मूर्ति, सम समझ मुझे वन के मृगगण।
यदि देखें विस्मय हो तब ही, हो पुण्यवान मुझ जैसा जन।।3।।

हो किसी शून्य मठ में निवास, यदि मेरे वस्त्र दिशा ही हों।
उन्नत धन हो सन्तोष क्षमा, भार्या औ तप ही भोजन हो।।
सब जीवों से मैत्री सुतत्त्व—चिंतन सुख हो नित पुनः कहो।
अतिशांत मुझे क्या नहीं? अतः पर से किंचित् नहिं कार्य अहो।।4।।

सुकृत से उत्तम कुल में लेकर जन्म श्रेष्ठ तनु श्रुत पढ़कर ।
वैराग्य पाय शुचि तप करते, वे जग में एक महाकृतिवर।।
यदि वे ही गर्वरहित साधू, जन ध्यानामृत को पीते हैं।
समझो तब स्वर्ण महल ऊपर, वे मणिमय कलश चढ़ाते हैं।।5।।

ग्रीषम ऋतु पर्वत चोटी पर, वर्षा ऋतु में तरु के नीचे।
अति शीत तुषार समय बाहर, चौपथ में जो स्थित होते।।
उन ध्यानप्रशांतात्मक यथोक्त, तपयुत मुनियों के मारग में।
मैं शांतचित्त संचरण करूँ, वह दिन कब आएगा प्रभु! मे।।6।।

यदि शिर पर वज्र गिरे भी या, त्रिभुवन में अग्नी लग जावे।
नहिं किंचित विकृती हो जिनके, चहे प्राण भले ही नश जावें।।
अद्‌भुत तेजो नित शांति धन्य, किन ही को ऐसा श्रेष्ठ ध्यान।
अति निश्चल मन की प्रवृत्ति रोक, होता विशेष जब भेदज्ञान।।7।।

जिन यति ने परम ज्योति निरुपाधिक 'अहं' शब्द से वाच्य श्रेष्ठ।
निज तत्त्व समझ आश्रय लीना, जिनका स्वतत्त्व ही भवन श्रेष्ठ।।
वह ही शय्या वह ही संपत्, वह सुख वह वृत्ति वही वल्लभ।
वह अखिल श्रेष्ठ वस्तू साधक, वे यति हों हमको शांतिप्रद।।8।।

चिच्चेतन आनंदी श्रीमन्, मुझ पद्मनंदि से यह विरचित।
पापारिक्षयंकर राज्यश्री, औ स्वर्ग मोक्ष लक्ष्मी फलप्रद।।
जो यतीभावनाष्टक भविजन, भक्त्या त्रिसमय में पढ़ते हैं।
इस जग में उस पुण्यात्मा के, क्या-क्या वांछित नहिं फलते हैं।।9।।

—दोहा—

पद्मनंदि यतिवर रचित, यतीभावना सार।
'ज्ञानमती' वर आर्यिका, किया पद्य सुखकार।।10।।

पढ़ो सुनो भवि भाव से, धरो कंठ में नित्त।
ज्ञान विराग निधी मिले, क्रम से निज संपत्ति।।11।।